॥ ऋग्वैदिक भूगोल ॥

ऋग्वैदिक भूगोल

लेखक

डॉ० कैलाश नाथ द्विवेदी

डी० लिट्०

साहित्य निकेतन, कानपुर

समर्पण

संस्कृत-साहित्य के अध्ययन-मनन
में सत्संस्कार उत्पन्न करने वाले
परम पूज्य पितृदेव
स्व० पं० सुदर्शनलाल द्विवेदी
की
पुण्य स्मृति में सश्रद्ध समर्पित।

—कैलाश नाथ द्विवेदी

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय साहित्य में ऋग्वेद विश्व-वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता हुआ अनेक शास्त्रीय विषयों के ज्ञान से सम्पन्न दृष्टिगत होता है। ऋषियों द्वारा व्यक्त इन शास्त्रीय विषयों में भौगोलिक ज्ञान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रारम्भ से ही मेरी संस्कृत तथा भूगोल-विषयों में विशेष अभिरुचि रही है, तथा पी-एच० डी० उपाधि हेतु 'कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान' विषय पर शोधकार्य करते हुये प्राचीन साहित्य में जहाँ तक मेरी दृष्टि पहुँची, मैंने अनुभव किया कि इसमें समाहित महत्वपूर्ण भौगोलिक ज्ञान-राशि को आदि आर्ष-ग्रन्थों (ऋग्वेदादि) से अन्वेषित कर अपनी पुरातन संस्कृति की आदि लीला-भूमि को भी प्रकाश में लाना प्रत्येक अध्येता का पावन कर्तव्य हो जाता है।

अतः इसी उद्देश्य से मैं प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से ऋग्वेद के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश के विवेचनात्मक भौगोलिक अध्ययन के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ; क्योंकि मैक्समूलर, त्सिमर, वेबर, विल्सन, लुडविग, ग्रासमान, मैक्डॉनेल, कीथ, ओल्डेनबर्ग, आदि पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के साथ ही यास्क, सायणाचार्य, तिलक, अरविन्द घोष, ए० सी० दास, सम्पूर्णानन्द, दामोदर सातवलेकर, वासुदेवशरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, पी० एल० भार्गव आदि भारतीय वैदिक विद्वानों ने ऋग्वेद के विविध पक्षों की तथ्यपूर्ण व्याख्या करते हुये जो भौगोलिक पक्ष से सम्बन्धित टिप्पणियाँ दी हैं, शोध की व्यापक दिशा में उनके पुनर्मूल्यांकन के साथ ही उनकी पुनः गम्भीर गवेषणा करना भी अत्यावश्यक हो जाता है।

यद्यपि ऋग्वेद से सम्बन्धित 'प्राचीन भारतीय भूगोल' विषय पर अनेक स्फुट शोध-प्रबन्धों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में त्सिमर, मैक्डॉनेल, कीथ, वेबर, जनरल कनिंघम, ए० सी० दास, बी० सी० लाहा, गिरीशचन्द्र अवस्थी, ले० कर्नल एम० एल० भार्गव, के० सी० चट्टोपाध्याय, डी० पी० सक्सेना आदि विद्वानों ने प्रारम्भिक दिशा-निर्दिष्ट कर प्रशंसनीय कार्य किया है, तथापि इनके द्वारा उपेक्षित मानवीय भूगोल के विविध पक्षों की शोधपूर्ण विवेचना द्वारा इस क्षेत्र पर आगे कार्य करना अभी तक अवशेष पड़ा था, जिसे मूलतः ग्रहण कर सोद्देश्य अन्वेषक ने अंधकार-ग्रस्त आर्यों के मूल निवास क्षेत्र "सप्तसैन्धव प्रदेश" को भौगोलिक अध्ययन द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयास प्रस्तुत प्रबन्ध में किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-निरूपणार्थ यद्यपि लेखक ने मूलतः ऋग्वेद की ऋचाओं को ही परम प्रमाण के रूप में ग्रहण किया है, तथापि यथास्थान सायणादि भारतीय भाष्यकारों के साथ ही मैक्डॉनेल, कीथ, वेबर, विण्टरनित्ज आदि पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की भी भौगोलिक सिद्धान्तों के अनुकूल समीचीन अवधारणाओं को तथ्यपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए उपेक्षित नहीं किया है। "सप्तसैन्धव प्रदेश" के प्राचीन

[illegible] के भौगोलिक अध्ययन हेतु भौतिक भूगोल एवं मानव-भूगोल से सम्बन्धित विद्वज्जनों के अनेक मान्य ग्रन्थों के अतिरिक्त एम० एस० क्रिश्नन, वाडिया. आदि विद्वानों की भूगर्भशास्त्रीय कृतियों के साथ ही जिन वैदिक भूगोल के मर्मज्ञ विद्वानों की कृतियों से मुझे सहायता मिली है, उनमें डॉ० ए० सी० दास की "द ऋग्वैदिक इंडिया", प्रथम खण्ड, श्री एम० एल० भार्गव की "द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया", डॉ० पी० एल० भार्गव की "इण्डिया इन द वैदिक एज" तथा डॉ०बी०सी० लाहा की "प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल" विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त श्री राहुल सांकृत्यायन, पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, पं० गिरीशचन्द्र अवस्थी, आदि विद्वानों के ग्रन्थों से भी निष्कर्ष प्राप्ति में कई स्थलों पर मैं लाभान्वित हुआ हूँ। एतदर्थ मैं इन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत होकर आभार व्यक्त करता हूँ।

जिन आदरणीय विद्वन्महानुभावों एवं आत्मीय जनों से मुझे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्वेषण में विशेष प्रेरणापूर्ण सहयोग, सुझाव एवं शुभाशीर्वाद प्राप्त हुआ है, उनमें सर्वश्री डॉ० पी० एल० भार्गव, डॉ० रामसुरेश जी त्रिपाठी, डॉ० एस० भट्टाचार्य, प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी, डॉ० बाबूराम जी पाण्डेय, डॉ० कृष्णकान्त जी त्रिपाठी के साथ ही पं० सुदर्शनलाल द्विवेदी, एवं सहधर्मचारिणी श्रीमती कुसुमादेवी को कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता है, इनके प्रति भी मैं सादर कृतज्ञता एवं धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। विक्रमाजीत सिंह सनातनधर्म कालेज, कानपुर के भूगोल विभाग के आदरणीय डॉ० ललित चौधरी, डॉ० विद्याबन्धु त्रिपाठी, डॉ० एस० एन० पी० जायसवाल प्रभृति प्राध्यापकों के अतिरिक्त स० पुस्तकालयाध्यक्ष श्री रमाकान्त मणि से जो भी सदपरामर्श एवं अध्ययन-सामग्री मुझे समय-समय पर प्राप्त हुई, एतदर्थ इन्हें हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

उ० प्र० शासन के शिक्षा विभाग ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता एवं महत्व को दृष्टि में रखते हुए प्रकाशनार्थ आंशिक अनुदान स्वीकृत करने की कृपा की है, लेखक इस आर्थिक सहायता के लिये हार्दिक आभार व्यक्त करता है। साहित्य निकेतन के सुयोग्य संचालक श्री श्यामनारायन कपूर को इस ग्रन्थ की प्रकाशन-व्यवस्था समुपलब्ध कराने हेतु अनेक धन्यवाद अर्पित है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत ऋग्वेद में उल्लिखित सप्तसैन्धव प्रदेश से सम्बन्धित प्राचीन भूगोल-विषयक अनुसन्धान के क्षेत्र में अनुसन्धित्सुजनों को यदि मेरे इस शोधपूर्ण प्रयास से कुछ भी दिशा प्राप्त होती है तो मैं अपने को बहुत कृत-कृत्य मानूँगा।

संस्कृत-विभाग
जनता महाविद्यालय
अजीतमल (इटावा)

विनयावनत
कैलाश नाथ द्विवेदी

मानचित्र-सूची

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड : भौतिक भूगोल

द्वितीय खण्ड : मानव भूगोल

ऋग्वैदिक भूगोल

सांकेतिक शब्द-सूची

ऋग्वेद	....	ऋक्०
अथर्ववेद	....	अथर्व०
वाजसनेयि संहिता	....	वाजस० सं०
तैत्तिरीय संहिता	....	तैत्ति० सं०
मैत्रायणी संहिता	....	मैत्रा० सं०
ऐतरेय ब्राह्मण	....	ऐत० ब्रा०
तैत्तिरीय ब्राह्मण	....	तैत्ति० ब्रा०
शतपथ ब्राह्मण	....	शत० ब्रा०
जैमिनीय ब्राह्मण	....	जैमि० ब्रा०
आश्वलायन श्रौतसूत्र	....	आश्व० श्रौ०
सांख्यायन श्रौतसूत्र	....	सां० श्रौ०
वाल्मीकीय रामायण	....	वा० रामा०
महाभारत	....	महा०
कौटिलीय अर्थशास्त्र	....	कौ० अर्थ०
मनुस्मृति	....	मनु०
श्रीमद्भागवतपुराण	....	भागवत०
अग्निपुराण	....	अग्नि०
रघुवंश	....	रघु०
मील	....	मी०
डिग्री	....	०
उत्तर	....	उ०
पृष्ठ	....	पृ०
पूर्व	....	पू०
उत्तर-पश्चिम	....	उ० प०
दक्षिण-पूर्व	....	द० पू०
दक्षिण-पश्चिम	....	द० प०
उत्तर-पूर्व	....	उ० पू०

भूमिका

ऋग्वेद न केवल प्राचीनतम भारतीय का, अपितु विश्व-वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता हुआ ऐसा मनोमोहक मुकुर है, जिसमें तपःपूत ऋषियों की विश्व-बन्धुत्वपूर्ण उदात्त भावना के साथ ही भारतीय संस्कृति सर्वात्मना प्रतिबिम्बित हो उठी है। छन्दोमयी आर्जवाणी में ऋषियों ने तो प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक विश्व-नियंता देवताओं के प्रति भावपूर्ण वन्दनाएँ एवं मंगल-कामनाएँ व्यक्त की ही हैं, साथ ही रम्य-प्रकृति के हृदयावर्जक दृश्यों की सुन्दर वर्णना करते हुए धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक गूढ़ तत्वों का भी उद्‌घाटन किया है। अतएव ऋग्वेद आर्य जाति के प्राचीनतम पावन स्मारक के रूप में पुरातनकाल से ही सांस्कृतिक विविध अंगों की व्याख्या करने के लिए पाश्चात्य एवं पौरस्त्य मनीषियों का ध्यान आकृष्ट करता रहा है।

समस्त वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद को अनेक दृष्टिकोणों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मूर्धन्य मानते हुये फ्रीड्रिक रोजन, मेक्समूलर, थिओडोर आउफ्रेथ, एच० एच० विल्सन, ग्रासमान, लुडविग ग्रिफिथ, प्रो० ओल्डेन बर्ग, मैक्डानेल, कीथ, पीटर्सन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के साथ ही यास्क, महीधर, सायणाचार्यादि आचार्यों के अतिरिक्त तिलक, अरविन्द घोष, सम्पूर्णानन्द, दामोदर सातवलेकर, वासुदेवशरण अग्रवाल, विश्वबन्धु, मजूमदार, सी० वी० वैद्य, ए० सी० दास, राहुल सांकृत्यायन, पी०एल० भार्गव आदि भारतीय विद्वानों ने धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि विविध पक्षों की यथास्थान उत्कृष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने का समीचीन प्रयास किया है। पावन ऋग्वैदिक ज्ञान-गंगा की जो अजस्र अमृतधारा इन साधनालीन मनीषियों के भगीरथ प्रयास से जगतीतल पर प्रवाहित हुई है, वह आज भी प्रवहमान होती हुई पिपासु एवं जिज्ञासुजनों को परितृप्ति पहुँचा रही है। लेखक भी पुरातन आर्य (भारतीय) संस्कृति के स्मारकस्वरूप ऋग्वेद के माहात्म्य को हृदयागम करता हुआ इसके आधार पर 'सप्तसैन्धव प्रदेश' का भौगोलिक अध्ययन हेतु प्रवृत्त हुआ है जो ऋषि-कल्प पूर्व विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अनुसंधानात्मक दिशा में ही आगे बढ़ने का अभिनव प्रयास है।

ऋग्वेद में जहाँ सरस्वती के आस-पास आर्यों की उस प्रतापी शाखा 'भरत' का उल्लेख है, जिसने अनार्य एवं आर्य दोनों कबीलों पर विजय प्राप्त कर 'भारत' नाम की यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करने के साथ ही ज्ञान-प्रधान संस्कृति 'भारती' को प्रतिष्ठित करते हुए देश के अन्य भू-भागों को भी भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधकर 'भारत' अथवा 'भारतवर्ष' अभिधान प्रदान किया, वहाँ ऋग्वैदिक सिन्धु अथवा 'सप्त सिन्धवः' जैसी नदियों ने भी इस तपस्वी देश के[1] (हिन्दु या इण्डोस) नामकरण में अपरिहार्य पृष्ठभूमि अर्पित करते हुए अपने भौगोलिक वैशिष्ट्य से जन-मन को भी आकृष्ट किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[2] की यह अवधारणा तथ्यपूर्ण कही जा सकती है कि ऋग्वेद मे प्रयुक्त महान् सिन्धु नद उत्तरी-पश्चिमी भारत के भूगोल की सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके इस पार का पंचनदीय प्रदेश तो भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत है ही, सिन्धु के उस पार का वह कांठा भी, जहाँ का पानी कुभा, सुवास्तु, गोमती, क्रुमु आदि नदियों से ढलकर सिन्धु में आता है, सदैव भारतीय भौगोलिक विस्तार का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। अफ़ग़ानिस्तान (आश्वकायन, गान्धार), बदख्शाँ और पामीर (कम्बोज का प्राचीन भूगोल प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति की देन है तथा भारतवर्ष का प्राचीनतम ऋग्वैदिक काल से लेकर प्राक् पाणिनि-काल तक का जो साहित्य है, उसके साथ उस भूगाल का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पुरातन संस्कृति के मूल तत्त्वों का समझने के लिये उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान प्राचीन साहित्य में समाहित भौगोलिक सामग्री का वैज्ञानिक अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। लेखक इसी धारणा को लेकर प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से ऋग्वेद के आधार पर उस सप्तसैन्धव प्रदेश के अनुसन्धानात्मक भौगोलिक अध्ययन का विद्वानों के समक्ष विनयावनत होकर प्रस्तुत कर रहा है, जो सिन्धु से लेकर सरस्वती एव गंगा तक विस्तृत प्रवाह क्षेत्र से संबंधित महान् आर्य जाति का भौगोलिक वैशिष्ट्य से सम्पन्न उत्कृष्ट लीलाधाम रहा तथा जिसने युगों-युगों के लिए अमर 'भारत' और 'भारती' संस्कृति को जन्म दिया।

---

१. "पिरुष् द्य इदा कर्त हचा कुष् आ उता हचा हिन्दउव् उता हचा हरउवतिया अवरिय्" ईरानी सम्राट् दारा के प्राचीन शूषा (सूसा) के राजमहल में, विक्रम से छठी शती पूर्व भारतीय प्रदेशों के लिए 'हिन्दू' शब्द प्रयुक्त हुआ है। (पंक्ति ४३-४४, शूषा राजमहल का शिलालेख)। चीनी भाषा में सिन्धु को इन्-तु अथवा शिन्-तु प्रयुक्त कर इस देश को थि-एन-चु (देवो का देश) नाम दिया गया है— फारेन नोटिसेज आफ सदर्न इंडिया, नीलकण्ठ शास्त्री, पृ० १०।

२. कला और संस्कृति, १९५८, १७३।

ऋग्वेद के अन्तर्गत अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान के आधार पर यथास्थान मनोहारी प्रकृतिचित्रण करते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के जिन विविध पक्षों की यथार्थ पृष्ठभूमि पर वर्णना की है, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में उनकी भौगोलिक तत्त्वों के आधार पर गवेषणापूर्ण विवेचना की गयी है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने सप्तसैन्धव प्रदेश के जहाँ पर्वत, नदी-नद, सरित्संगम, सरोवर, सागर आदि भौतिक रम्य रूपों की हृदयावर्जक झाँकी प्रस्तुत की है, वहाँ उस पुरातनकाल के मानव-जीवन के सर्वाङ्ग पक्षों (आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि) को ग्रहण करते हुए भौगोलिक वातावरण को दृष्टि में रखकर तथ्यपूर्ण वर्णना भी की है।

ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश से संबंधित भू-भाग सम्प्रति सामयिक अनेक भौतिक प्रभावों के कारण परिवर्तित एवं परिलक्षित होता है। स्थलीय संरचना एवं प्रवाह-प्रणाली। नदियों की धाराएँ) उतनी बाह्य भौगोलिक कारकों से प्रभावित नहीं हुई, जितना भू-गर्भिक शक्तियों के क्रियाशील होने से सप्तसैन्धव प्रदेश से सभी जल-मण्डलीय स्वरूप प्रभावित होकर नामावशेष रूप में रह गया है। मानवीय भूगोल से सम्बन्धित इस क्षेत्र के धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि विविध पक्षों में भी व्यापक परिवर्तन समय-समय पर होते रहे है। जहाँ ऋग्वैदिक अखण्ड सप्तसैन्धव प्रदेश में आर्यों एव अनार्यों की सांस्कृतिक एवं राजनैतिक प्रभुसत्ता का बोलबाला था, वहाँ आज अफगानिस्तान, पाकिस्तान तथा भारत जैसे तीन राष्ट्रों की पृथक्-पृथक् संस्कृति एवं राजनीतिक प्रभुसत्ता दृष्टिगत होती है। ऐसी स्थिति में पुरातन सप्तसैन्धव प्रदेश का भौगोलिक अध्ययन विषयक समस्या कुछ सरल नही है, तथापि लेखक ने इसके समा-धान में ऋग्वेद के प्रमाणों को ग्रहण करते हुये प्राचीन साहित्यिक, ऐतिहासिक, पौराणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त वर्तमान भौगोलिकों एवं भू-गर्भशास्त्रियों के ग्रन्थों एवं भौगोलिक कोषादि सामग्री के साथ ही प्राचीन वैदिक भूगोल के मर्मज्ञ त्सिमर, मैक्डानेल, वेबर, कीथ, ए० सी० दास, एस० एल०, पी० एल० भार्गव आदि विद्वानों के अनुसंधानपूर्ण मतों का भी सदुपयोग किया है, जिसके अन्तर्गत निष्कर्ष प्राप्ति हेतु भ्रान्त अवधारणाओं का खण्डन करने के साथ ही तथ्यपूर्ण मतों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया गया है। किसी भी साहित्य में वर्णित भू-भाग के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक तथ्यों के निरूपण में तत्संबंधित ग्रन्थ का समय निर्धारित करना अतीव आवश्यक होता है। इससे उसके पुरातन अभीष्ट स्वरूप का वैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि पर यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रमुख विवेच्य विषय का अंग न होते हुए भी ऋग्वेद के रचनाकाल पर भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इसके आधार पर उस समय विद्यमान सप्तसैन्धव प्रदेश के स्वरूप-निर्धारण

के साथ ही इसकी भौगोलिक दशाओं का ऋग्वेद के संबंधित स्थलों में चित्रण से सही मिलान एवं मूल्यांकन हो सकेगा।

ऋग्वेद का रचना-काल—यद्यपि ऋग्वेद के रचना-काल के निरूपण में प्रामाणिक अन्तः एवं बहिःसाक्ष्य का अभाव प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में तिथि एवं संवत्सर के उल्लेख का अभाव, वेदों को अपौरुषेय मानना, वेदों के उल्लेखयुक्त परवर्ती वैदिक साहित्य में तिथियों का अत्यन्त अनिश्चित होना, वेदों में सन्निहित ऐतिहासिक तथ्यों को मानना या न मानना, ज्योतिष सम्बन्धी भौगर्भिक एवं भौगोलिक उल्लेखों की अस्पष्टता, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के दृष्टिकोण में वैषम्य आदि कुछ ऐसी मूलभूत कठिनाइयाँ हैं, जिनसे किसी सुनिश्चित मत पर सरलतापूर्वक नहीं पहुँचा जा सकता है, तथापि पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के ऋग्वेद के रचनाकाल विषयक अनुसन्धानपूर्ण मतों पर संक्षेप में पुनर्विचार करते हुए ऋग्वैदिक प्रमाणों के आधार पर इस सम्बन्ध में नवीन प्रकाश डाला जा रहा है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत

प्रो० मैक्समूलर—प्रो० मैक्समूलर के मतानुसार गौतम बुद्ध ने वेदों के अस्तित्व को स्वीकार किया था तथा सूत्र एवं वेदाङ्ग साहित्य का प्रणयन गौतम बुद्ध के जीवनकाल (५०० ई०पू०) में ही हुआ था। उन्होंने समस्त वैदिक साहित्य को चार भागों में विभाजित करते हुए प्रत्येक काल की विचारधारा के उदय होने और परिमार्जित होकर लिपिबद्ध होने के लिए २०० वर्ष का समय निर्धारित करते हुए निम्नलिखित रूप में ऋग्वेद के रचनाकाल का निरूपण प्रस्तुत किया है[1] :—

(१) छन्दकाल एवं स्फुट ऋचाओं की रचनाएँ—
१२०० ई०पू० से १००० ई०पू०।

(२) मंत्र काल—(वैदिक संहिताओं की रचना)
१००० ई०पू० से ८०० ई०पू०।

(३) ब्राह्मणकाल—(ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना)
(८०० ई०पू० से ६०० ई०पू०)।

(४) सूत्र काल—(श्रौत एवं गृह्यसूत्रों की रचना)
६०० ई०पू० से ४०० ई०पू०।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियंट संस्कृत लिट्रेचर, एफ० मैक्समूलर, एडिटेड बाइ—डॉ० एस० एन० शास्त्री, वाराणसी, १९६८, ५२३-५२५।

इस प्रकार प्रो० मैक्समूलर ने १२००-१२०० ई०पू० के युग को ऋग्वेद के नवीनतम सूक्तों का रचनाकाल माना है, जबकि उन्होंने प्राचीनतम सूक्तों के लिए अनिर्णयात्मक मत व्यक्त करते हुए ई०पू० द्वितीय शाह्स्री से लेकर ई०पू० चतुर्थ शाह्स्री तक के समय की सम्भावना की है।

श्री ब्यूहलर—विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक प्रमाणो की प्रधानता के आधार पर वैदिक युग के निर्णय में वेदों की रचना १२०० ई०पू० को असंगत मानते हुए चूंकि ६०० या ७०० ई०पू० में आर्यों का दक्षिण भारत में प्रसार हो चुका था, जबकि उस समय साधनों के अभाव में दक्षिण में प्रसार-गति अत्यन्त मन्द रही होगी—इस अवधारणा के आधार पर ऋग्वेद की रचना २५०० ई०पू० में श्री ब्यूहलर द्वारा सिद्ध की गयी है।

प्रो० ए० मैक्डानेल[1] ऋग्वेद संहिता का संकलन ब्राह्मण ग्रन्थों के पूर्ण होने के पूर्व नही मानते हैं। इस आधार पर उन्होने प्रथम बार इसका संकलन १००० ई०पू० में, किन्तु द्वितीय बार इसका 'संस्कृत-व्याकरण' के अनुसार यथा-स्थिति सन्धियाँ आदि करके ईसा से ६०० वर्ष पूर्व मे निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषागत समानता को दृष्टि मे रखकर इन दोनों के भाषागत अन्तर के लिए अधिक से अधिक ५०० वर्ष का समय देकर अवेस्ता का रचनाकाल ८०० ई०पू० मानते हुए उन्होंने ऋग्वेद का रचनाकाल १३०० ई०पू० माना है।

श्री याकोबी—ज्योतिष के आधार पर ध्रुवतारा को अपना लक्ष्य मानते हुए जर्मन विद्वान् श्री याकोबी ने गृह्यसूत्र के विवाह-कालीन ध्रुवदर्शन उल्लेख को दृष्टि मे रखकर ऋग्वेद का प्रणयन समय ४५०० ई०पू० निर्धारित किया है। उनके मतानुसार २८०० ई०पू० वर्ष पहले इस प्रकार के ध्रुव की अवस्थिति उत्तर मे थी, अतः ई०पू० २८०० वर्ष सूत्र काल सूक्ष्मतः मानकर ऋग्वेद काल को ४५०० ई०पू० तथा संहिताओं के वर्तमान स्वरूप को २००० वर्ष ई०पू० का स्वीकार करते है।

श्री विण्टरनित्स[2]—ह्यूगो[3] विंकलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के सभी मतों की वैदुष्यपूर्ण विस्तृत आलोचना के पश्चात् श्री विंटरनित्स ने अपना समन्वयात्मक मत व्यक्त करते हुए समस्त वैदिक काल को २५०० ई०पू० से लेकर ५०० ई०पू०

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, १८६५, ४१।

२. विंटरनित्स—ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर, वाल्यूम प्रथम, २८६-२८७।

३. ह्यूगो विंकलर द्वारा १६०७ में एशिया माइनर के बोगाजकोई नामक स्थान में एक १४०० ई०पू० से १८०० ई०पू० के बीच का लेख अन्वेषित किया

तक ही की अवधि प्रतिपादित कर ऋग्वेद का रचनाकाल २५०० ई०पू० निश्चित किया है।[1]

समीक्षा—प्रो० मैक्समूलर द्वारा समस्त वैदिक साहित्य के विभाजन में प्रत्येक क्रम के लिए जो २०० वर्ष का ही समय निर्धारित किया गया है, उसे संगत नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भाव एवं भाषा के विकासक्रम की दृष्टि से प्राचीन वैदिक युग की विकासगति अत्यन्त मन्थर रही होगी। अतएव इस २०० वर्ष की अवधि को प्रत्येक काल के लिये निर्धारित करने के आधार को न केवल भारतीय विद्वानों[2] ने ही, अपितु योरोपीय विद्वानों ने भी लचर बताया है। इसी प्रकार डा० मैकडानेल का मत भी ५०० वर्ष की सीमा में आबद्ध होने के कारण सीमित मान्यता प्राप्त करने के योग्य है। अतएव फादर जिमरमैन[3] प्रभृति विद्वानों ने इस प्रकार के काल-निर्णय की असम्भाव्यता को स्पष्ट निर्दिष्ट किया है। इसी हर्मन याकोबी महोदय के मत को भी पाश्चात्य पंडितों ने अर्द्ध-सत्य के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि ध्रुव आदि राजाओं नक्षत्रों की स्थिति-विषयक मान्यताएँ संदिग्ध होने से उनकी स्थिति के बल पर कोई निर्णयात्मक परिणाम नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

गया जिसमें हित्टाइट और मितनी राजाओं का सन्धि-व्यवहार वर्णित हुआ है, जिसमें इनके सम्मानित देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ के नाम प्राप्त हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है, कि १५०० ई०पू० के आस-पास मितनी राजाओं से आर्यों के सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। अतः इसके पूर्व ऋग्वेद की रचना हो गयी थी।

१. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर, १९६५, २९७, पार्ट फर्स्ट।

२. डा० रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, २०१८ वि०, ४१३। डा० उपाध्याय ने २०० वर्ष के स्थान पर २००० वर्ष प्रत्येक काल के लिए निर्धारित करने का परामर्श दिया है, क्योंकि वेद 'श्रुति' होने के कारण उनकी भाषा विकास गति अत्यन्त ही मन्द रही होगी।

३. "To measure the change of language both to the Veda and Avesta by a standard approximating that of modern living languages, would show a want of method by application of the same rate of evolution in ideas and conditions prevalant in Europe now to the Indo-Iranians some 3000 years back" (Father Zimmer man).

यद्यपि मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मत का समर्थन डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ० राधाकृष्णन् आदि[1] कतिपय भारतीय विद्वानों ने किया है, तथापि मात्र अनुमान पर आधारित होने के कारण इन्हें तथ्यपूर्ण मानना सर्वथा असमीचीन प्रतीत होता है।

पौरस्त्य विद्वानों का मत

अनेक पौरस्त्य (भारतीय) विद्वानों ने ऋग्वेद के रचना-काल को लोक-परम्परागत ज्योतिष, इतिहास, पुरातत्त्व, भूगर्भशास्त्र, भूगोल आदि विविध आधारों पर प्रतिपादित करने के प्रयास किये हैं। निम्नलिखित विद्वानों के अभिमत इस सम्बन्ध में विशेष रूप से विचारणीय हैं, जिन्हे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

स्वामी दयानन्द सरस्वती—कतिपय वेदमंत्रों[2] के आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती[3] ने वेदों का आविर्भाव परमात्मा से, सृष्टि के प्रारम्भ में ही माना है। अतः उनके अनुसार ऋग्वेद भी सृष्टि के प्रारम्भ की रचना है। श्री रघुनन्दन शर्मा भी इस मत के समर्थक हैं।

श्री रघुनन्दन शर्मा— स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत का समर्थन करते हुए श्री शर्मा[4] ने ज्योतिष के आधार पर ऋग्वेद का समय अब से ८८ हज़ार वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।

श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट— एतत्सम्बन्धी ज्योतिष प्रमाणों का अनुशीलन करते हुए श्री शास्त्री[5] ने ऋग्वेद का समय तीन लाख वर्ष पूर्व माना है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द—ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों को डॉ० सम्पूर्णानन्द[6] ने ज्योतिष तथा अन्य भूगर्भशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर १५००० वर्ष से भी पहले का स्वीकार

---

१. Some Indian scholars assign the Vedic Hymns to 3000 B. C., others to 6000 B. C......We assign them to the fifteenth century B. C. and trust that our date will not be challanged age be'ng too early. —Dr. S. Radhakrishnan.

२. ऋग्वेद, १०/९०/९, अथर्व० १९/६/१३, शुक्ल यजु० ३१/७।

३. ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ९/२६।

४. वैदिक सम्पत्ति—वेदों का समय, ९०-११२।

५. वेदकाल निर्णय, प्रथम संस्करण।

६. आर्यों का आदि देश (परिशिष्ट), सं० २००१ वि०, इलाहाबाद, २२३।

किया है। उन्होंने डॉ० ए० सी० दास द्वारा प्रतिपादित भूगर्भशास्त्रीय घटनाओं (भूकम्प आदि प्राकृतिक विक्रान्तियों) की ऋग्वेद में झलक के आधार पर उसका रचनाकाल २५००० वर्ष पूर्व समर्थित किया है।

श्री बाल गंगाधर तिलक — विभिन्न नक्षत्रों में वसन्त संपात (Vernal Equinox जब दिन-रात बराबर होते हैं) के आधार पर काल-गणना कर श्री तिलक ने वैदिक काल को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित करते हुए ऋग्वेद का समय ६००० ई०पू० से ४००० ई० तक निर्धारित किया है।[1]

(१) अदिति काल	६०००—४००० ई०पू०	(निविद मंत्रों का प्रणयन)
(२) मगशिरा काल	४०००—२५०० ई०पू०	(ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों की रचना)
(३) कृत्तिका काल	२५००—१४०० ई०पू०	(वैदिक संहिताओं का संकलन एवं तैत्तिरीय संहिता तथा कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना)
(४) अन्तिम काल (सूत्र-काल)	१४००—५०० ई०पू०	सूत्र ग्रन्थ।

ज्योतिष गणना के अनुसार भारत में प्राचीनकाल से ऋतुओं का आरम्भ नक्षत्रों के आविर्भाव से गिना जाता है। नक्षत्रों की कुल संख्या २७ तथा सूर्य का संक्रमणवृत्त अथवा राशिचक्र (zodiac) ३६०° का है। यद्यपि सभी नक्षत्रों की पारस्परिक दूरी समान नहीं है, तथापि उनको समान मानकर ३६०° को २७ से विभाजित करने पर प्रत्येक नक्षत्र की १३$\frac{1}{3}$° दूरी ज्ञात होती है। प्रत्येक नक्षत्र अपने स्थान से समयानुसार पीछे हटता है, जिसमें १° पीछे हटने में एक नक्षत्र को ७२ वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार एक नक्षत्र को १३$\frac{1}{3}$° पीछे हटने (अर्थात् दूसरे नक्षत्र के स्थान पर पहुँचने में ७२ × ४० = ९६० वर्ष लगते है। श्री तिलक ने तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] के इस उल्लेख के आधार पर कि फाल्गुन की पूर्णिमा से ३

१. "We can thus satisfactorly account for all the opnions and traditions curent about the age of the Vedas amongst ancient and modern scholars in India and Europe if we place the vedic period of about (4,000 B. C. in strict accordance with the astronomical references and facts recorded in the ancient literature of india." (Orion, p. 220)

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/२/६ (वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा गया है), शतपथ

वर्ष का आरम्भ होता है, ऐसी स्थिति में वसन्त का सम्पारम्भ मृगशिरा नक्षत्र से होता था, उसी समय ऋग्वेद की रचना प्रतिपादित की, किन्तु ब्राह्मण[1] साहित्य में वसंतारंभ का उल्लेख कृतिका नक्षत्र में प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल में कृत्तिकाएँ ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदित होती थीं। इस समय वसन्त-संपात (Vernal Equinox) मीन संक्रान्ति से पूर्वभाद्रपदा के चतुर्थ चरण में है तथा पूर्व अवस्थिति से कृत्तिका नक्षत्र ४$\frac{3}{4}$ नक्षत्र (भरणी, अश्विनी, रेवती, उत्तरा भाद्रपदा होते हुए) पीछे हट आया है। ९६० को ४$\frac{3}{4}$ से गुणा करने पर, ९६० × १९/४ = ४५६० वर्ष पहले कृत्तिका में (शतपथ ब्राह्मण काल में) वसन्त-संपात हुआ होगा।[2]

इसी गणना को आधार मानकर श्री तिलक ऋग्वेद के कतिपय[3] मन्त्रों में प्राप्त संकेत को दृष्टि में रखकर वसन्त-सम्पात मृगशिरा नक्षत्र में मानते हैं तथा आगे बढ कर पुनर्वसु तक ले जाते है। मृगशिरा से कृत्तिका २ नक्षत्र पहले है तथा पुनर्वसु से ४ नक्षत्र पूर्व। इसके साथ ही एक नक्षत्र की दूरी पीछे हटने में ९६० वर्ष का समय लगता है। अतएव मृगशिरा में वसन्त-सम्पात मानने पर ऋग्वेद का रचना काल ४५६० + १९२० (९६० × २) = ६४८० वर्ष (लगभग ६५०० वर्ष) पूर्व अर्थात् ४५०० वर्ष ई०पू० होता है।[4] यदि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त-सम्पात मानें तो लग-

---

ब्रा० ६/२/२/१८—"एषा ह संवत्सरस्य प्रथमारात्रिर्यफाल्गुनी पूर्णमासी"।

१. शतपथ ब्राह्मण, २/१/२-"अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति, तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशोक्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।"

२. कतिपय विद्वानों ने तिलक को इस गणना को मोटे रूप में संशोधित कर ७२ × १३$\frac{1}{2}$ = ९७२ वर्ष एक नक्षत्र को दूसरे नक्षत्र तक पहुँचने का समय मानकर कुल ४$\frac{1}{2}$ नक्षत्रों की दूरी तय करने की अवधि ९७२/४$\frac{1}{2}$- = ४३७४ वर्ष पूर्व निर्धारित की है। ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० वि० ना० रेउ, ६०, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामजी उपाध्याय, ४०४।

३. ऋग्वेद, १/३३/१२ विस्रुं गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः, १/८०/७ यद्धत्यं मायिन मृगं तमु त्वं माययावधी, १०/८६/५ शिरो न्वस्य राविषं···।

४. आरटिक होम इन द वेदाज, ४२० (इसी समय श्री तिलक भारतीय और ईरानी आर्यों का पृथक् होना मानते हैं।

भग २००० वर्ष पूर्व समय और बढ़ जायेगा अर्थात् ६५०० ई०पू० जिसकी सुविधा के लिए तिलक ने ६००० ई०पू० से लेकर ४००० ई०पू० के बीच ऋग्वेद का रचना काल मान लिया है।

श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित—शतपथ ब्राह्मण के (२/१/२) के उद्धरण को ध्यान में रखते हुए तिलक के समान ज्योतिष सम्बन्धी आधार पर (विषुवद्वृत्त) की अग्रगति भूकक्षा की स्थिति को क्रान्तिमंडल की स्थिति के साथ स्थिर नहीं रहने देती, इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए इसी गति के आधार पर श्री दीक्षित द्वारा गणना की गई है तथा शतपथ ब्राह्मण का रचना काल २५०० ई०पू० मानते हुए चारों वेदों की रचना के लिए २५०×४=१००० वर्ष का समय और अनुमानित कर ऋग्वेद का रचनाकाल ३५०० ई०पू० अथवा ३००० ई०पू० प्रतिपादित किया है।[१] इस प्रकार लोकमान्य तिलक और श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित की गणना का आधार एक ही है।

डॉ० अविनाशचन्द्र दास—ऋग्वेद में प्राप्त भूगोल एवं भूगर्भ शास्त्र सम्बन्धी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर डॉ० ए० सी० दास ने[२] ऋग्वेद का रचनाकाल २५००० वर्ष ई०पू० प्रतिपादित किया है। ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश से संबंधित ऋग्वेद मे सरस्वती नदी का हिमालय पर्वत से निकलकर (राजपूताना) समुद्र मे गिरना,[३] पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों का सूर्य के उदयास्त[४] से संबंध, शरद् अथवा हेमन्त जैसी ऋतुओं से युक्त शीत-प्रधान जलवायु का होना, हिमालय जैसे पर्वतों के साथ ही पृथ्वी भूकम्प[६] आदि आन्तरिक (भूगर्भिक) हलचलों से प्रभावित होना आदि तथ्यपूर्ण उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए भूगर्भ शास्त्रीय एवं भौगोलिक मान्यताओं के आधार पर इन्हें २५००० वर्ष ई०पू० के पूर्व अपरिवर्तित स्थिति का सिद्ध किया है, क्योंकि सरस्वती जैसी विशाल नदी के साथ ही दक्षिणी सारस्वत (राजस्थान) समुद्र का

---

१. भारतीय ज्योतिष शास्त्र, १८९६, पूना, १३६-१४०।
२. ऋग्वैदिक इंडिया, वॉल्यूम प्रथम, १९२२, कलकत्ता, २२।
३. ऋग्वेद, ७/९५/२, ३/३३/२ (सरस्वती के अतिरिक्त शुतुद्रि नदी का समुद्र मे गिरने का उल्लेख)।
४. ऋग्वेद, १०/१३६/५, ३/५५/१, ५/४५/१०, ७/५५/७।
५. ऋग्वेद, ७/६६/१६, १/६४/१४, २/१/११, ५/५४/१५, ६/४८/८, ६/१०/७।
६. ऋग्वेद, २/१२/२, यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितान् रम्णात्.....
२/१७/५ यः प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसा....

सूख जाना अथवा दक्षिणी सप्तसिन्धु का समुद्र तल से उन्नयन पृथ्वी के प्रकम्पों से नवीन हिमालय जैसे पर्वतों का उठना[१] एवं नदियों का प्रवाह मार्ग परिवर्तित हो जाना, शीत जलवायु के स्थान पर उष्ण (विजय) जलवायु का होना जैसी घटनाएँ ऋग्वेद काल से बहुत बाद की हैं, जिसका समर्थन डॉ० सम्पूर्णानन्द[२] के अतिरिक्त अनेक विद्वानों[३] द्वारा किया गया है; जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव[४] ने भाषा की परिवर्तनशीलता एवं पौराणिक वंशानुक्रम के आधार पर वैदिक संहिताओं का रचना काल ३००० ई०पू० से १००० ई०पू० तक, तथा प्रथम ऋग्वैदिक राज्य स्थापना काल ३००० ई०पू० माना है।

समीक्षा—भारतीय विद्वानों के ऋग्वेद के रचनाकाल विषयक उपर्युक्त मतों की तथ्यात्मकता पर विचार करने पर हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री रघुनन्दन शर्मा, श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट जैसे विद्वानों के द्वारा ऋग्वेद को भले ही शास्त्रीय दृष्टि से अपौरुषेय कहकर लाखों वर्ष पूर्व माना गया हो, व्यावहारिक एवम् वैज्ञानिक दृष्टि से इसके मत को उपयोगी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लाखों वर्ष[५] का इतना प्रामाणिक एवं सुसम्बद्ध सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक विवरण प्राप्त होना कम संभव प्रतीत होता है।

---

१. ऋग्वेद, २/१२/२, यः पृथिवीं व्यथमानाद् दृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितान रम्णात्..., २/१७/५ यः प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसा...

२. आर्यों का आदि देश, २३२।

३. एच० एल० ब्लूम फोर्ड, "क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ द ज्योलोजिकल सोसाइटी," वाल्यूम ३१, १८७५, ५३४-४०।

४. India in the Vedic Age, 1971, Lucknow. 206-207. डॉ० भार्गव ने पौराणिक उल्लेखों में वंशक्रम को दृष्टि में रखते हुए महापद्मनन्द के राज्याभिषेक से ३६० ई०पू० से परीक्षित जन्म तक १०५० वर्ष की अवधि को आधार मानकर २० वर्ष प्रति राज्यकाल के अनुसार ऋग्वैदिक प्रथम शासन तक ८१ राज्यान्तरों की गणना करते हुए ३०३० ई०पू० प्रथम ऋग्वैदिक शासन काल प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सुदास का शासनकाल २२५० ई०पू० है। (वही ग्रन्थ, पृ० २२० मानचित्र)

५. यद्यपि पृथ्वी की उत्पत्ति भू-वैज्ञानिकों द्वारा २ से ३ अरब वर्ष पूर्व मानी गयी है (जी० गामो, बायोग्राफी ऑफ अर्थ, पेज ५ ऐण्ड डब्लू० एम० स्मार्ट-द ओरिजिन आफ अर्थ, पेज १५६) तथापि मानव का पृथ्वी पर उदय मात्र ५० हजार वर्ष पूर्व

पाश्चात्य विद्वान् याकोबी के अतिरिक्त श्री नारायण भवन राव पावगी, श्री बाल गंगाधर तिलक, पं० शंकर बालकृष्ण दीक्षित जैसे भारतीय विद्वानों के मत प्रायः समान ज्योतिष्क प्रमाणों एवं तथ्यों पर आधारित होने के कारण अनुपेक्षणीय हैं तथा ज्योतिष सम्बन्धी गणनाओं को अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव में निराधार अथवा मनगढ़ंत मानना सर्वथा असमीचीन है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द एवं डॉ० अविनाश चन्द्र दास ने ऋग्वेद में विद्यमान भूगर्भशास्त्रीय एवं भौगोलिक अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश की नदियों, पर्वतों, समुद्रों, जलवायु आदि में मूल परिवर्तन की पूर्व स्थिति (स्वरूप) के अनुसार ऋग्वेद का रचनाकाल २५००० ई०पू० प्रतिपादित किया है। पूर्णतया भौगोलिक एवं भूगर्भशास्त्रीय तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए भाषाशास्त्रीय एवं पौराणिक वंशानुक्रम की भी संगति पर विचार करने पर इस मत को संशोधित रूप में ग्रहण करना समीचीन कहा जा सकता है।

वस्तुतः ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश में हिमालय (हिमवन्त) के अतिरिक्त शीत जलवायु के उल्लेख से अधिक नूतन कल्प अथवा अभिनव कल्प (Pleisto cene period or Recent period) के पूर्व ऋग्वैदिक मंत्रों की रचना होना संभव नहीं है, क्योंकि इसी कल्प में हिमालय की उत्पत्ति के अतिरिक्त पृथ्वी पर ऐसे भयंकर शीत का प्रादुर्भाव हुआ था कि अधिकांश भू-भाग[1] हिमाच्छादित हो गये थे। इसके अतिरिक्त ५०००० से २५००० वर्ष पूर्व के अभिनव कल्प के अन्तिम भाग में गंगा-सिन्धु के मैदान में खादर मिट्टी का निक्षेप हुआ था तथा राजपूताना[2] समुद्र के साथ ही सरस्वती नदी का अस्तित्व भी नामावशेष रह गया। राजपूताना समुद्र का अस्तित्व श्री एच० जी० वेल्स[3] ५०००० से २५००० वर्ष पूर्व के बीच स्वीकारते हैं।

की घटना है (डॉ० सी० बी० मामोरिया, भौतिक भूगोल के तत्त्व, १९७२, ६९) अतः ऋग्वेद की रचना लाखों वर्ष पूर्व मानना सर्वथा असंगत है।

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, वॉल्यूम द्वितीय (नाइन्थ एडीशन), ६८, वेडिया-ज्योलोजी ऑफ इंडिया, १९१९, १५-१६, २४५।

२. श्री वी० वी० केतकर—राजस्थान का ईसा से ७,५०० वर्ष पूर्व समुद्र-गर्भ से बाहर आना प्रमाणित करते हैं। (फर्स्ट ओरियंटल कान्फ्रेंस, पूना, १९१९।)

३. आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री, ३९, ४५।

ऋग्वेद में स्पष्टरूप से हिमालय के अतिरिक्त पूर्वी-पश्चिमी (अर्णव-पारावत) समुद्रों के साथ ही वर्णिणी सारस्वत) समुद्र का उल्लेख है। अतएव इसके अस्तित्व को दृष्टि में रखते हुये ६५०० वर्ष ई०पू० के पूर्व ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों का रचना काल सामान्य रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जबकि श्री वी०वी० केतकर के अतिरिक्त श्री तिलक आदि विद्वानों के ज्योतिष्क प्रमाणों को भी दृष्टि में रखते हुये ६५०० वर्ष ई०पू० से ३००० ई०पू० तक को ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों की रचना का समय स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है। यह सुनिश्चित है कि ऋग्वेदके मंत्रों का प्रणयन न तो किसी एक ऋषि अथवा ऋषिकुल द्वारा हुआ और न एक समय अथवा स्थान में। कतिपय विद्वान् इन्द्राणी और वृषाकपि के संवाद[1] विषयक सूक्त तथा संबंधित नक्षत्र की ज्योतिष गणना के आधार पर ईसा से लगभग १५ या १६ हजार वर्ष पूर्व का होना मानते हैं[2] तथा सूर्या के विवाह संबंधी मन्त्र को १८००० वर्ष पूर्व[3] होने का अनुमान करते हैं जो असमीचीन है। यह निर्विवाद स्वीकार्य विषय है कि श्रुति रूप में पूर्ववर्ती ऋषियों की वैदिक ज्ञान-विज्ञान की परम्परा अत्यंत सुदूर काल से अक्षुण्ण चली आ रही है, जिसे परवर्ती अनेक ऋषियों ने भिन्न काल में युगानुरूप विचारों को मूल भाषा[4] में रूपान्तरित करते हुये संहिताओं में समाविष्ट किया है।[5] अतएव वेबर जैसे श्रेष्ठ वैदिक विद्वान् ने भी वेदों के रचनाकाल से संबंधित अपना सुनिश्चित मत व्यक्त करने मे असमर्थता व्यक्त की है, तथापि ज्योतिष, पुरातत्व एवं भूगर्भ शास्त्र के अतिरिक्त व्यक्तिगत मेरे द्वारा ऋग्वेद से संबंधित सप्तसैन्धव प्रदेश के भौतिक एवं मानवीय भूगोल के अध्ययन के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को ध्यान मे

---

१. ऋग्वेद, १०/८५/१३ सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृत्। अघासु हन्यंतेगावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।

२. पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० ६३, ऋग्वेद, १०/८५/१३।

३. जर्नल ऑफ द डिपार्टमेण्ट ऑफ साइन्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, सिक्स्थ एडीशन, १९-२०, ऋग्वैदिक कल्चर, चैप्टर प्रथम, ३७-३८।

४. ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक (वैदिक संस्कृत) होने के साथ ही श्रुति रूप में उसे मान्यता प्राप्त होने के कारण उसकी भाषा में परिवर्तन का सिद्धान्त भी पूर्णतया लागू नही होता, किन्तु इसके अतिरिक्त पौराणिक वंशानुक्रम (शासन काल) प्रामाणिक एवं विश्वसनीय रूप में प्राप्त होने के कारण डॉ० पी० एल० भार्गव का मत कुछ समीचीन प्रतीत होता है।

५. ऋग्वेद, ३/३९/२।

रखते हुये ऋग्वेद का रचनाकाल ६५०० ई०पू० से २००० ई०पू० तक का मानना मुझे समीचीन प्रतीत होता है, जो वैज्ञानिक अनुसंधानकों को भी असंगत नहीं लगेगा।

आर्यों का मूल निवास-स्थान

ऋग्वेद में आर्यों के जीवन के धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आदि विविध पक्षों के साथ ही उनसे संबंधित भू-भाग का भी तथ्यात्मक वर्णन प्राप्त होता है। अत: उनके मूल निवास-स्थान को निर्धारित करने के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि इस संबंध में ऋग्वेद को ही परम प्रमाण मान कर विचार करने पर किसी भी भ्रान्ति का स्थान नहीं रहता है, तथापि कतिपय विद्वानों ने ऋग्वैदिक मूल सन्दर्भों को तोड़-मरोड़कर पूर्वाग्रहवश प्रस्तुत करते हुये इस निर्विवाद विषय को भी विवादास्पद बना दिया है। यहाँ संक्षेप में इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करने वाले प्रमुख विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुये उनका निष्कर्ष-पूर्ण विवेचन किया जा रहा है।

१. (अ) मैक्समूलर आदि कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों के अतिरिक्त भाषा विज्ञान के आधार पर संस्कृत और जेन्द भाषा मे स्वाभाविक साम्य को दृष्टि में रखते हुये आर्यों को मध्य एशिया का मूल-निवासी सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके प्रमाण में ऋग्वेद में आर्यों के गो-पालन, पशु-चारण एवं कृषि करने के अतिरिक्त अश्वत्थ और अश्व का मांस-भक्षण, हेमन्त ऋतु आदि उल्लेखों को प्रस्तुत किया गया है।

(ब) इसके अतिरिक्त आर्यों की एक शाखा पारसियों के धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता के वेन्दिदाद प्रकरण में उनके हिम ऋतु प्रधान पूर्व निवास ऐर्यनम्वेइजों (आर्याणां बीज) का उल्लेख है, जिसे भ्रमवश मध्य एशिया के अन्तर्गत अवस्थित मानते हुये आर्यों का मूल निवास माना गया है तथा वहाँ से भारत, परशिया एवं यूरोप आदि देशों की ओर आर्यों के जाने का अनुमान किया गया है। अवेस्ता मे अहुर्मज्द (असुरमहत्) द्वारा वाह्लीक प्रदेश (मध्य एशिया) में प्रथम मानव-सृष्टि करने के उल्लेख को भी इस सम्बन्ध में प्रमाणभूत माना गया है।

वस्तुत: 'ऐर्यनम्वेइजो' की अवस्थिति मध्यएशिया की अपेक्षा दक्षिणी हिन्दुकुश (घोरबन्द तथा पंजशिर नदियों के बेसिन) क्षेत्र से बाहर नहीं है, क्योंकि अवेस्ता में भी ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश की रसा जैसी नदी का 'रन्हा' तथा सोम का 'होम' रूप में (जो मूजवत पर्वत = द० पू० हिन्दुकुश पर्वत जैसे क्षेत्र में अधिक उत्पन्न होता था) उल्लेख होने से 'ऐर्यनवीजो' जिसे आर्यों का आदि जन्मस्थल माना गया है,

सप्तसैन्धव प्रदेश का ही उ० प० भाग सिद्ध होता है। डॉ० पी० एल० भार्गव[1] का भी यही अभिमत है, जो तथ्यपूर्ण ही है।

२. डॉ० गाइल्स इण्डो-यूरोपियन अथवा इण्डो-जर्मन भाषाओं में विद्यमान लताओं, वृक्षों एवं पशु-पक्षियों के नामों से आर्यों का यूरोप से संबंधित किसी सम-शीतोष्ण देश मे रहना संभव मानते हैं। आर्य कृषि के साथ गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि पशु पालते थे। अतः इनके पूर्वज, भारत, पामीर, उत्तरी ध्रुव आदि अन्य स्थानों मे न रहकर हंगरी, आस्ट्रेलिया और बोहेमिया से संबंधित प्रदेश के ही मूल-निवासी थे तथा यहाँ से अनेक दलों में विभक्त होकर नये चरागाहों की खोज में चारो ओर फैल गये, जबकि श्री क्यूनो महोदय यूरोप के उत्तर में यूराल पर्वत से लेकर अटलांटिक (अन्ध) महासागर तक मैदान से आर्यों का अन्यत्र फैलना स्वीकार करते हैं।

३. श्री पोस्चे (Posche) और श्री पेंका (Penka) जैसे जर्मन विद्वानों ने आर्यों के मध्य एशिया में मूल निवास की धारणा का खंडन करते हुये इसे और आगे उत्तर (उत्तरी ध्रुव) मे खोजने के लिए विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया है। इसके अतिरिक्त डॉ० वारेन (Warren) ने प्राचीन कथाओं एवं उपाख्यानों की नवीन अनुसंधान के प्रकाश में व्याख्या के निष्कर्ष के आधार पर, श्री एम० डी० स्पार्टी ने पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव के समीप सर्वप्रथम समुद्रतटीय भाग ठंडा होने पर सबसे पूर्व जीव-सृष्टि होने की धारणा के अनुसार तथा श्री बाल गंगाधर तिलक ने कतिपय ज्योतिष अथवा खगोल संबंधी सन्दर्भों के आधार पर उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का मूल निवास-स्थान स्वीकार किया है। श्री तिलक ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ आर्कटिक होम इन द वेदाज मे ऋग्वेद के अन्तर्गत सप्तर्षियों का आकाश में (मस्तक के ऊपर)[2] रहने, नक्षत्रों का आकाश मे (मस्तक के ऊपर) चक्राकार घूमने[3], दीर्घकालीन उषा[4] तथा दीर्घकालीन अहोरात्र[5] के अतिरिक्त सूर्य अथवा उषा का दक्षिण में उदित[6]

---

१. India in the Vedic Age. Lucknow. 1971, II Edition, p. 47, 49, 50.

२. ऋग्वेद, १/२४/१०

३. ऋग्वेद, १०/८९/२

४. ऋग्वेद, ७/७६/३ तानीदहानि बहुलान्यासन या प्राचीनमुदिता ....।

५. ऋग्वेद, १०/१३८/३, २/२७/१४

६. ऋग्वेद, ३/५८/१

होने के साथ देवयान (उत्तरायण) और पितृयान (दक्षिणायन) के उल्लेख के आधार[1] पर आर्यों को उत्तरी ध्रुव (आदि निवासस्थान) से संबंधित माना है।

४. भूगर्भ-शास्त्रीय आधारों पर श्री मैड्लीकाट[2] एवं श्री ब्लूमफोर्ड ने उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों के सुलूरियन समुद्री घोंघों से निर्मित (प्राथमिक चट्टान) युगीन पाषाणीभूत वस्तुओं के समान होने के कारण श्री एम० डी० स्पार्टी के उत्तरी ध्रुव में सर्वप्रथम जीव-सृष्टि विषयक मत का खंडन किया है। डॉ० नाइटलिंग के मतानुसार पश्चिमोत्तर भारत एवं पंजाब की पहाड़ियों में प्रथम जीव-सृष्टि के अवशेष प्राप्त होने के कारण सप्तसिन्धु प्रदेश ही प्रथम जीव-सृष्टि की मूलस्थली है।[3] अतः सप्तसिन्धु प्रदेश आर्यों का मूल निवासस्थान था। इस तथ्य का समर्थन डॉ० डाना[4] आदि प्रमुख भू-शास्त्रियों के अतिरिक्त श्री एम० लूई जैकोलिअट, श्री कर्जन[5], जिनेडी[6], ए० रोगोजिन[7], श्री अविनाशचन्द्र दास[8], डा० सम्पूर्णानन्द[9] एवं प० रेउ[10] जैसे पौरस्त्य विद्वान् तथा श्री क्रूजर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है।

५. प्रवाह प्रणाली तथा कतिपय भौगोलिक साम्य को दृष्टि में रखते हुए श्री हरिराम धस्माना[11] एवं श्री भजनसिंह[12] ने आर्यों का मूल निवासस्थान गढवाल क्षेत्र अथवा मध्य हिमालय सिद्ध किया है।

---

१. ऋग्वेद, १/१८३/६, १०/२/७।
२. मैनुअल ऑफ ज्योलोजी ऑफ इंडिया।
३. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, १९०७, वाल्यूम फर्स्ट, ५५।
मैनुअल आफ इंडियन ज्योलोजी २४।
४. मैनुअल ऑफ ज्योलोजी, डाना, १८६३, ५८५।
५. द बाइबिल इन इंडिया, १७।
६. जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, वा० १६, १८५४, पार्ट २, पृ० १८७/२००।
७. वैदिक इण्डिया, जिनेडी ए० रागोजिन, १८९५, ६३।
८. ऋग्वेदिक इण्डिया, वाल्यूम फर्स्ट, १९२१, ८।
९. आर्यों का आदि देश, २०१० वि० पृ० २९।
१०. ऋग्वेद पर एक ऐति० दृष्टि, १९६७, पृ० १२६।
११. ऋग्वैदिक इतिहास, १९५४, लखनऊ, पृ० ज (भूमिका)
१२. आर्यों का आदि निवास, मध्य हिमालय, १९६८, इलाहाबाद, पृ० १०५, २४५।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रमुख तीन मतों को तथ्यों की कसौटी पर कसने पर हमें यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इस चिरविकास एवं विपुला धरा पर कतिपय भाषा-सम्बन्धी साम्य अथवा मानवीय आजीविका के साधनों तथा पशु-पक्षियों या वृक्ष-उपजों (वनस्पति) के आधार पर किसी भी प्राक् अथ में उल्लिखित विशिष्ट मानव-जाति को किसी प्रदेश-विशेष से बिना ठोस प्रमाणों के सम्बन्धित करना समीचीन नहीं प्रतीत होता है। इस दृष्टि से आर्यों के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में श्री मैक्समूलर का मध्य एशिया-विषयक मत, डॉ० गाइल्स एवं श्री ब्रूनो का योरुप-विषयक मत तथा श्री पोस्के और पेंका के साथ ही श्री तिलक का उत्तरी ध्रुव-विषयक मत तथ्यों की अपेक्षा काल्पनिक पृष्ठभूमि पर अवधारित होने के कारण स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार श्री भगवनसिंह एवं हरिराम अस्थाना के पूर्वाग्रह के साथ ही अप्रामाणिक भौगोलिक तथ्यों पर आधारित संकुचित दृष्टिकोण भी इस सम्बन्ध में ग्राह्य नहीं है। अब एकमात्र 'सप्तसैन्धव प्रदेश' ही आर्यों के मूल निवास-स्थान के रूप में विचारणीय रह जाता है, जिसके सम्बन्ध में श्री मैक्डीकॉट, ब्लेनफार्ड, डॉ० नाइटलिंग, डॉ० डाना, डॉ० ए० सी० दास प्रभृति विद्वानों ने ठोस भूगर्भशास्त्रीय प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए अपने अकाट्य मत को प्रतिपादित किया है।

यद्यपि डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' तथा डॉ० बेलवल्कर ने 'द कन्ट्रोवर्सी ओवर द ओरिजिनल होम्स आफ आर्यन्स' नामक कृति में इस सम्बन्ध में विवेचन अपनी दृष्टि से किया ही है तथापि ऋग्वेद में विद्यमान अनेक भौगोलिक तथ्य सप्तसैन्धव प्रदेश को ही आर्यों की निवासभूमि सिद्ध करते हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश की धरातलीय संरचना में हिमालय जैसे पर्वत, प्रवाह प्रणाली में सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, शुतुद्रि, विपाश, सरस्वती, कुभा, क्रुमु, गोमती, सुवास्तु-प्रभृति नदियाँ तथा इनसे अपृथक् मानवीय क्रियाकलापों में यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, पुरु (भरत) जैसे (पंचजनों) आर्यों एवं दास, दस्यु, पणि, यक्षु, शिग्रु आदि अनार्यों की आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, यौद्धिक, धार्मिक आदि क्रियाओं का ऋग्वेद में जब प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त होता ही तो आर्यों के आदि निवास-स्थान की अन्यत्र कल्पना करना ज्वलन्त सत्य पर मात्र धूल उछालना ही है। इस सम्बन्ध में भौगोलिक तथ्यों के अतिरिक्त ऋग्वेद ही परम प्रमाण है जिसकी उपेक्षा करना सर्वथा असमीचीन है। यदि वस्तुतः कोई अन्य देश आर्यों से सम्बन्धित रहा होता तो उसके भौगोलिक स्थलों (पर्वत अथवा नदियों) की वर्णना स्मरणरूप में किसी-न-किसी ऋषि द्वारा ऋग्वेद में अवश्य ही की गई होती। अतएव इसके अभाव में अवेस्ता के 'ऐर्यन्वीजो' स्थल की अवस्थिति, डॉ०

पी० एल० भार्गव[1] एवं डॉ० वी० एस० सुकथंकर[2] के अभिमत को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन बृहत्तर भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से सम्बन्धित 'सप्तसैन्धव प्रदेश' को ही आर्यों का आदि निवास-स्थान मानना अधिक समीचीन है।

ऋषियों के भौगोलिक ज्ञान के स्रोत

ऋग्वेद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ऋषियों को सप्तसैन्धव प्रदेश के विविध भौगोलिक स्थलों का व्यापक एवं गहन ज्ञान था। जहाँ[3] नोधा गौतम पुत्र द्वारा विशाल पर्वत-शृंखलाओं का तथा हिरण्यगर्भ प्राजापत्य ऋषि द्वारा हिमवन्त[4] जैसे पर्वत के साथ रसा सहित समुद्र का उल्लेख है, वहीं[5] सिन्धुक्षित् (प्रियमेधपुत्र) श्यावाश्व, आत्रेय, विश्वामित्र,[6] वसिष्ठ[7] जैसे ऋषियों[8] द्वारा गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जकीया, सुषोमा, तृष्टामा, रसा, श्वेती, सिन्धु, कुभा, गोमती, क्रुमु, मेहत्नु जैसी नदियों की हृदयावर्जक किन्तु भौगोलिक तथ्यपूर्ण वर्णना की है। अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न ऋषियों का ऋग्वेद में अन्य विषयों के साथ ही सप्तसिन्धु प्रदेश से संबंधित न केवल भौतिक भूगोल का अपितु मानव भूगोल का भी गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञान अधोलिखित स्रोतो द्वारा व्यक्त हुआ है।

मनस्वी ऋषियों ने न केवल अपने प्रातिभ-चक्षुओं से अन्तर्मुखी होकर अपितु रम्य प्रकृति के प्रत्यक्ष सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान को प्राप्त किया है। अतएव उनकी व्यापक दृष्टि स्थलीय सभी भौतिक रूपो (पर्वत, वन, नदी-नद, सरित्, संगम, सरोवर आदि) के अतिरिक्त अथाह सागर-तल से लेकर

---

१. India in the Vedic Age, 1971, P. 47-50.

२. "The part of India which these Indian-Aryans occupied during the Coamposition of Rigved is suffeciently indicated by topical references in the Rigved specially the names of revers". Dr. V. S. Shukthankar, Lectures of Rigved, Ghate.

३. ऋग्वेद, ८/७७/३, न त्वा बृहन्तो अद्रयो।

४. ऋग्वेद, १०/१२१/४, यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

५. ऋग्वेद, ५/५३/९, मा नो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा सिन्धुर्निरीरमत्।

६. ऋग्वेद, ३/३३/१२-१०/१०४/८।

७. ऋग्वेद, ७/१८/८,५।

८. ऋग्वेद, १०/७५/५,६।

[illegible] के बहुमूल्य प्रसंगों पर भी [illegible] की [illegible] उनकी ऋचाओं में भौगोलिक तथ्यों के अनुकूल वर्णना की हुई है।

सप्तसैन्धव प्रदेश का एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक प्रायः पर्यटन (परिभ्रमण) करने के कारण भी ऋषियों को गम्भीर भौगोलिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। श्यावाश्व ऋषि की ऋचाएँ इस तथ्य को पूर्णतया समर्थित करती हैं, क्योंकि इन्होंने जहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी छोर पर बहती यमुना[1] नदी का उल्लेख किया है, वहाँ उ०प० सीमान्त की सिन्धु के साथ उसकी पश्चिमी सहायक कुभा, क्रुमु, सरयू[2] आदि नदियों का भी तथ्यपूर्ण भौगोलिक वर्णन किया है।

भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसे प्रसिद्ध ऋषियों ने तत्कालीन सैनिक अभियानों से भी स्थलीय संरचना के अतिरिक्त प्रवाह-प्रणाली का पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया था। एक स्थल पर विश्वामित्र द्वारा सुदास से दक्षिणा प्राप्त होने पर रथों एवं शकटों वाले भरतो के साथ सुदूर-पश्चिम मे सिन्धु, विपाश, शुतुद्रि को पार कर विजय हेतु प्रस्थान किया था।[3] उन्होने अपने पुत्रो अथवा वंशजो को भी सुदास के अश्व को छोडने तथा पूर्व, पश्चिम और उत्तर के शत्रुओं को आगे बढ़कर यौद्धिक अभियानो से जीतने का भी निर्देश दिया था।[4] निःसन्देह इन अभियानो से सबंधित यात्राओ मे स्थल के अनेक भौगोलिक रूपो का उन्हे ज्ञान हुआ होगा, जिसे उन्होंने अपनी ऋचाओ मे अभिव्यक्त किया है। यही कारण है, दाशराज्ञ युद्ध मे भरतो के प्रमुख नेता वसिष्ठ की ऋचाएँ तत्कालीन इतिहास के साथ ही भूगोल पर सर्वाधिक प्रामाणिक प्रकाश डालने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।[5]

समय-समय पर समुद्री यात्राओ से भी कक्षीवान् एवं वशिष्ठ जैसे ऋषियो ने जल-मण्डलीय (समुद्री) सज्ञान प्राप्त किया था। सौ पतवारो वाली[6] जहाज जैसी अग्री नौकाओं पर कक्षीवान् ऋषि ने समुद्र की दूर तक यात्राये की होंगी। प्रतीत

---

१. ऋग्वेद, ५/५२/१७।

२. ऋग्वेद, ५/५३/९।

३. ऋग्वेद, ३/५३/९, महा ऋषिर्देवजा देवजूतो स्तभ्नात् सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायतकुशिकेभिरिन्द्रः॥

४. ऋग्वेद, ३/५३/ ११, उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं प्रमुंचता सुदासः
राजा वृत्रं जंघनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः॥

५. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ६२।

६. ऋग्वेद, १/११६/५, नौ शतारित्रा ………।

होता है, इसी प्रकार मैत्रावरुण वसिष्ठ[1] ने भी स्थलीय भूगोल समझने के साथ ही नौका-विहार से जल-मंडलीय ज्ञान पूर्णतया अर्जित किया था। यदि समुद्री यात्राएँ ऋषियों ने न की होतीं तो समुद्री द्वीपों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान उन्हें कैसे होता ? ऋग्वेद में उन्होंने इन[2] द्वीपों का भी उल्लेख किया है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के आन्तरिक एवं बाह्य (सुदूर के) भू-भागों से स्थलीय एवं समुद्री मार्गों से वाणिज्य-कर्म करनेवाले पणियों जैसे अनार्य कबीलों से भी ऋषियों का सम्पर्क रहता था। प्रमाणस्वरूप बृहस्पति पुत्र शंयु ऋषि[3] ने पणियों के सरदार बृबु से सहस्र गायों का दान प्राप्त कर उसकी प्रशंसा में ऋचाओं की रचना की थी तथा वे 'गाङ्ग्य' जैसी उच्च कछारी भूमि (जो पणियों की निवास-स्थली थी) से पूर्ण परिचित थे। इससे ज्ञात होता है कि व्यापार आदि कर्मों में दूर तक परिभ्रमण करने वाले पणि जैसे जनों से सम्पर्क करने से भी ऋषियों को सप्तसैन्धव प्रदेश तथा उसके बाहरी क्षेत्रों का व्यापक भौगोलिक ज्ञान प्राप्त हुआ था।

समीक्षा—उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मनीषी ऋषियों ने अपने आन्तरिक प्रज्ञा-चक्षुओं के साथ ही अपनी बाह्य पैनी दृष्टि से प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण, सुदूर क्षेत्रों के पर्यटन (परिभ्रमण), यौद्धिक अभियानों, समुद्री (नौ) यात्राओं, पणि आदि परिभ्रामकों के प्रचुर जन-सम्पर्क आदि अनेक स्रोतों से सप्तसैन्धव प्रदेश का जो गम्भीर भौगोलिक ज्ञान अर्जित किया, वह सर्वथा असाधारण एवं अद्वितीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मनस्वी ऋषियों के इसी उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान को ही अनुसंधानात्मक पृष्ठभूमि पर उद्घाटित करने का लेखक प्रयास कर रहा है, जिसकी संक्षिप्त रूप-रेखा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

ग्रन्थ की संक्षिप्त पृष्ठभूमि

ऋग्वेद प्राचीन विश्व-वाङ्मय का मूर्धन्य ग्रन्थ है, जिसमें आर्यों की पावन जन्म एवं कर्मभूमि 'सप्तसैन्धव प्रदेश' के धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक आदि विविध पक्षों का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से ऋग्वेद के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश का

---

१. ऋग्वेद, ७/८८/३।

२. ऋग्वेद, १/१६९/३, शुशुक्वानापो न द्वीप दधति प्रयांसि।
८/२०/४ वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद् दुच्छुनोभे॥

३. ऋग्वेद, ७/४५/३१-३३।

भौगोलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भूमिका के अतिरिक्त ग्रंथ में विषय-प्रवेश के पश्चात् विवेच्य विषय को वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से ग्रंथ को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड के प्रथम पाँच अध्यायों में सप्तसैन्धव प्रदेश के प्राकृतिक अथवा भौतिक भूगोल (फिजिकल ज्योग्राफी) का ऋग्वेद में व्यक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुये वैज्ञानिक आधारों पर विवेचन किया गया है, जबकि ग्रंथ के द्वितीय खण्ड के ६ से ९ अध्यायों में सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव-भूगोल (ह्यूमेन ज्योग्राफी) का ऋग्वैदिक सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुये आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं बौद्धिक भूगोल के सिद्धान्तों पर गवेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

प्रथम अध्याय में सप्तसैन्धव प्रदेश के स्वरूप, नामकरण, आर्यावर्त के परिप्रेक्ष्य में समीकरण, भौगोलिक सीमा, क्षेत्र-विस्तार को निर्धारित करने के लिये ऋग्वेद में व्यक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के अनुसंधानपूर्ण अभिमतों पर समीक्षात्मक विवेचन किया गया है। सप्तसैन्धव प्रदेश के भौतिक परिवर्तन के पूर्व ऋग्वेदकालीन भौगोलिक सीमा को भूगर्भशास्त्रियों के निर्णयों को ध्यान में रखकर उत्तर-हिमालय पर्वत एवं समुद्रों से घिरे पश्चिमी सहायक नदियों से सिन्धु से लेकर सरस्वती और गंगा तक विस्तृत भू-खंड से सम्बन्धित होने का निष्कर्ष निकाला गया है तथा तदनुसार उसे मानचित्र में प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत परवर्ती भौतिक परिवर्तनों के पूर्व ऋग्वेदकालीन मानव-जीवन एवं ऋग्वैदिक सभ्यता-संस्कृति के उद्भव-विकास को सर्वाधिक प्रभावित करनेवाले कारकों में सप्तसैन्धव प्रदेश की शीत-प्रधान जलवायु, वर्षादि ऋतुओं, प्राकृतिक वनस्पति (स्थलीय एवं जलीय), जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों एवं खनिज पदार्थों का भौगोलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जलवायु अथवा ऋतुओं के भौगोलिक कारणों से विभिन्न प्रकार के वितरण ने मानवीय जीवन के अतिरिक्त प्राकृतिक वनस्पति, स्थलीय एवं जलीय वनस्पति, जीव-जन्तुओं एवं पशु-पक्षियों आदि को किस प्रकार प्रभावित किया है, उनकी यथास्थान मानचित्र देते हुए सम्यक् गवेषणा की गई है।

तृतीय अध्याय में सप्तसैन्धव प्रदेश के स्थलीय प्राकृतिक स्वरूपों (भौमिक संरचना) के अन्तर्गत उत्तर-उ० प० की पर्वतीय भूमि में मूजवान्, हिमालय, सुषोम जैसे पर्वतों, पूर्वीय उच्च कछारी तथा मध्यवर्ती मैदानी तथा दक्षिणी मरुस्थलीय भूमि का मानचित्र में अंकन करते हुए भौगोलिक तथ्यों के आधार पर विश्लेषण किया गया है। सप्तसैन्धव प्रदेश की वैविध्य एवं वैशिष्ट्यपूर्ण स्थलीय संरचना ने किस प्रकार

मानव-जीवन के क्रिया-कलापों को प्रभावित किया, इसका भी संक्षेप में सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत स्थल के प्रवाहशील प्राकृतिक रूपों (नदियों एवं निर्झरों) का स्वरूप एवं महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश की सिन्धु, तृष्टामा, अनितभा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, क्रुमु, मेहत्नु, सुवास्तु, सुषोमा, गौरी, आर्जीकीया, हिरण्यावती, विबाली, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश, शुतुद्रि, मरुद्वृधा, सरस्वती, दृषद्वती, आपया, सिनीवाली, राका, असुनीता, गंगा, यमुना आदि प्रमुख नदियों का मानचित्र मे अंकन करते हुये प्रत्यभिज्ञानात्मक विवेचन किया गया है, इसके साथ ही उन सात नदियों का भी निर्धारण किया गया है जिनसे इस क्षेत्र का नामकरण हुआ। इस प्रवाह-प्रणाली अथवा प्रवाहशील प्राकृतिक रूपों का सप्त-सैन्धव प्रदेश के मानवीय क्रिया-कलापों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसकी भी सम्यक् गवेषणा की गयी है।

पंचम अध्याय में सप्तसैन्धव प्रदेश से सम्बन्धित जल-मंडलीय स्थिर रूपों मे ह्रदों एवं सरोवरों (झीलों) के साथ ही सागरो के स्वरूप का भौगोलिक विवेचन किया गया है, इसके साथ ही पृथ्वी की आन्तरिक क्रियाओं से कालान्तर में हुए प्राकृतिक परिवर्तन के पूर्व ऋग्वेदकालीन प्रमुख समुद्रों (अर्णव, परावत, सारस्वत आदि) का स्वरूप निर्धारण करते हुये सप्तसैन्धव प्रदेशीय स्थल के भौतिक रूपों के साथ मानवीय जीवन पर इनका जो भी प्रभाव पड़ा, उसकी अनुसंधानपूर्ण मीमांसा की गयी है।

द्वितीय खण्ड के षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्थिक भूगोल से सम्बन्धित मानवीय खान-पान (धाना, करम्भ, यवाशिर, गवाशिर, दध्याशिर, क्षीरपाक, सोमपान आदि), वेशभूषा (वस्त्रों, अजिन, मल, अधिवास, द्रापि, अत्क, सिम्र आदि), आवास (हर्म्य, पुर, गोष्ठ आदि) के साथ ही विविध आजीविका के साधनों (कृषि, पशु-पालन, आखेट आदि) की मानव-भूगोल के सिद्धान्त के आधार पर विवेचना की गयी है, तदनुसार मानचित्र की सहायता से सप्तसैन्धव प्रदेश की आर्थिक स्थिति को व्यक्त किया गया है।

सप्तम अध्याय में सप्तसैन्धव प्रदेश के सांस्कृतिक भूगोल के आधारभूत अंगों (धर्म, देवता, उपासना, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, ललित-कलाएँ, शिक्षा एवं स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद के साधन, सामान्य रीति-रिवाज) की सैद्धान्तिक विवेचना करते हुये आर्यों की इस पुरातन निवास-भूमि का सांस्कृतिक महत्त्व निर्दिष्ट किया गया है।

अष्टम अध्याय में सप्तसैन्धव प्रदेश के राजनीतिक भूगोल के अन्तर्गत राजन-

आवास, विशिष्ट राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण कारक के रूप में परिस्थितियों की अवस्था, शासन तंत्र पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव एवं उसके स्वरूप को अनुसंधानात्मक पृष्ठभूमि पर विवेचित करते हुए ऋग्वेद-कालीन प्रमुख आर्य और अनार्य कबीलों (जनों) का भाषाविज्ञानात्मक विश्लेषण करते हुये मानचित्र में तदनुसार इनका क्षेत्र-निर्धारण किया गया है। राजनैतिक पृष्ठभूमि पर हुये दाशराज्ञ, आर्य-अनार्य युद्धों को प्रभावित करने वाले भौगोलिक कारकों की भी शोधपूर्ण समीक्षा की गयी है।

नवम अध्याय के अन्तर्गत कीकट, गुंगु, रुशम, यति, वेतसु, सारस्वत आदि आन्तरिक भू-क्षेत्रों, उद्व्रज जैसे तीर्थस्थानों, नैचाशाख, वशाश्व, गोमर्य आदि स्थानों के अतिरिक्त प्रमुख ऋषियों के आश्रमों की विवेचना की गई है। सप्तसैन्धव प्रदेशीय भूखण्ड के भूगोल को प्रभावित करनेवाले मानवीय कारकों के साथ ही सप्तसैन्धव प्रदेश के परिप्रेक्ष्य में 'भारतवर्ष' देश का मूल्यांकन भी किया गया है।

अन्त में, उपसंहार के अन्तर्गत अन्वेषक ने अपने महत्वपूर्ण शोधनिष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुये भारतीय आर्य संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन के साथ ही परवर्ती संस्कृत साहित्य पर पड़नेवाले ऋग्वैदिक भौगोलिक ज्ञान के प्रभाव पर विषय की उपयोगिता के साथ ही शोधपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

॥१॥

सप्तसैन्धव प्रदेश की स्वरूप एवं सीमा
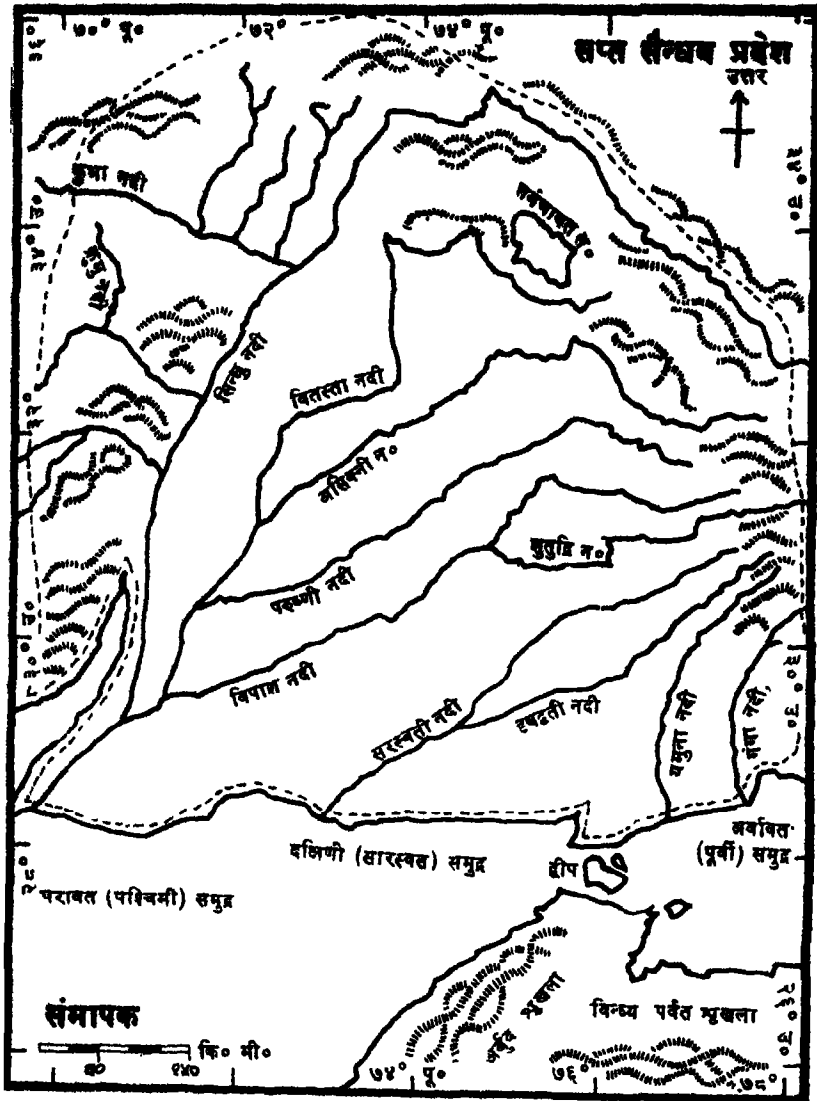
भौगोलिक सीमा एवं क्षेत्र विस्तार

प्रथम अध्याय

आर्यों के मूल निवास सप्तसैन्धव प्रदेश को स्वरूप एवं सीमा

प्राचीन विश्व-वाङ्मय में ऋग्वेद को ही पुरातन आर्य-जाति के पावन स्मारक के रूप में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें हमारे समस्त प्राचीन धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान के तत्त्व समाविष्ट हैं। अतः यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि संसार में अपने धर्म-दर्शन की विजय-पताका फहराने वाले आर्य जिस देश के सनातन काल से अधिवासी रहे, उसका भौगोलिक दृष्टि से क्या स्वरूप था तथा क्षेत्र-विस्तार के अतिरिक्त उसकी क्या सीमा थी ?

इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद के अन्तःप्रमाणों के साथ ही पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के सुविचारित मतों पर पुनर्विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

(१) **प्रथम विचारधारा**—प्रारम्भ से ही आर्य जिस प्रदेश मे रहे उसका उन्होंने ऋग्वेद मे एक स्थल[१] पर सुनिश्चित रूप से 'सप्तसिन्धवः' देश के नाम के रूप मे उल्लेख किया है, जबकि अन्यत्र[२] 'सप्तसिन्धवः' से सात नदियों का तात्पर्य है। मैक्समूलर के मतानुसार[३] (पुराने) पंजाब की पाँच नदियों के साथ-साथ सिन्धु और सरस्वती ही ये सात नदियां है, जबकि लुडविंग,[४] लासन,[५] ह्विटने[६] आदि विद्वानो की धारणा

१. ऋग्वेद, ८/२४/२७।
२. वही, १/३२/१२, ३४/८, ३५/८, ७१/७, १०२/२, ४/२८/१, ८/५४/४, ९६/१ आदि। अथर्ववेद, ४/६/२, वाजसनेयि संहिता, ३८/२६, तैत्तिरीय संहिता, ४/३/६।
३. चिप्स, १/६३, तुलनीय—मूइर—संस्कृत टेक्स्ट्स, १२, ४९० नोट।
४. ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २००।
५. इंडिशे आल्टर थम्बस् कुण्डे, १, २, ३।
६. जनरल अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, ३, ३११।

है कि या तो सरस्वती के स्थान पर 'क्रुमा' अथवा मूलतः ऑक्सस[1] ग्रहण करना चाहिए। इनमें से एक भी समीकरण पर बल न देते हुए त्सिमर (zimmer) (आल्टिंडिशे २१) की धारणा को मैक्डॉनल[2] और कीथ ने हॉपकिन्स[3] को दृष्टि में रखते हुए उचित स्वीकार किया है।

इस आधार पर मैक्डानेल ने अन्यत्र[4] भी सप्तसैन्धव का विस्तार उक्त सात नदियों के बेसिन से बने उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से लेकर पंजाब तक माना है, क्योंकि वनस्पतियों के सन्दर्भ में इस धारणा को प्रतिपादित करते हैं।

भारतीय विद्वानों में वैदिक-साहित्य के महान् अध्येता डॉ० ए० सी० दास का इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार है—

"The land in which the Vedic Aryans lived is called in the Rigved by the name of Sapt-Saindhav or 'the land of seven rivers', which includes the Indus or Sindhu with its principle tributaries on the west and Saraswati on the east. The Ganga and the Yamuna have certainly been mentioned only once or twice, but they have not all been included in the computation of the seven rivers, that gave the country its name."[5]

डॉ० ए० सी० दास के उपर्युक्त मत के अनुरूप डॉ० सम्पूर्णानन्द ने इस तथ्य को पुष्ट करते हुये लिखा है—

"सप्तसिन्धव देश की सातों नदियों के नाम थे—सिन्धु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतुद्र (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम 'सप्तसिन्धव' पड़ा था।"[6] म० म० पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ का भी यही दृष्टिकोण है कि सप्तसिन्धु की यही नदियाँ प्रमुख थीं।[7]

---

१. थॉमस—जनरल एशियाटिक सोसाइटी, १८८३, पृ० ३७१।
२. वैदिक इंडेक्स, भाग २, १९६२, पृ० ४६८।
३. जनरल अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, १६, २७८ तथा इंडिया ओल्ड व न्यू, ३३।
४. ए वैदिक रीडर, इन्ट्रोडक्शन (ज्योग्राफिकल डाटा) १९५४, पृ० २६।
५. ऋग्वैदिक इंडिया, वाल्यूम प्रथम १९२१, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, पे० ८।
६. आर्यों का आदि देश, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, पृ० ३३।
७. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, प्र० सं०, दिल्ली, पृ० ११५।

वैदिक वाङ्मय के आधार पर कथात्मक-साहित्य की सर्जना करनेवाले मर्मज्ञ विद्वान् श्री के० एम० मुंशी ने आर्यों की निवास-स्थली 'सप्तसिन्धु'[1] का संकीर्ण स्वरूप ग्रहण करते हुए इसे पंजाब तक ही सीमित रखा है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय[2] पंजाब तथा गान्धार में आर्यों का निवास-स्थान मानते हुए डॉ० ए० सी० दास के दृष्टिकोण के अनुकूल अर्थात् सिन्धु से सरस्वती तक के भूभाग (सारस्वत प्रदेश) को सप्तसैन्धव प्रदेश अप्रत्यक्षतया स्वीकार करते हैं, साथ ही लोकमान्य तिलक[3] के 'उत्तरी ध्रुव के आर्यों के मूल निवासस्थान' से संबंधित मत पर भी स्वकीय संशोधित विचार व्यक्त करते हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासकारों की दृष्टि में भी 'सप्तसिन्धु' प्रदेश का विस्तार पंजाब के अतिरिक्त सिन्धु नदी को पश्चिम से लेकर सरस्वती के पूर्व गंगा-यमुना तक माना गया है। इस सम्बन्ध में आर० सी० मजूमदार तथा ई० जे० रैप्सन आदि विद्वानों के मत महत्त्वपूर्ण हैं—

"The vallies of the river Sindhu and its tributories and the Saraswati and the Drisdvati formed their earliest settlements in India proper their outer settlements reached further eastward to the bank of the Ganga and Yamuna. On the other hand some aryans tribe still lingred on the western side of the Sindhu on the bank of the Swat, the Kurrum and the Gomal rivers."[4]

ई० जे० रैप्सन के मतानुसार—

"The Aryans of the Rigveda inhabited a teritory which included portion of south-east Afganistan, the North-West frontier and the Punjab."[5]

ई० जे० रैप्सन ने अन्यत्र भी लिखा है—

"The Geographical area recognised in the Saumhita (Rig-veda) is large The Punjab proper has now in antiquity···. The Aryan occupation of Afganistan is proved by mention of Kubha (Kabul),

---

१. विश्वरथ (पूर्व पीठिका), प्रथम संस्करण, दिल्ली, पृ० ५।
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, तृतीय संस्करण, काशी, पृ० ३८२।
३. द्रष्टव्य—Arctic Home in Vedas, 1893 Ed, Poona.
४. ऐन्शियंट इंडिया, आर० सी० मजूमदार, बनारस, १९५२, पे० ४३।
५. वही, रैप्सन, कलकत्ता, १९६०, फोर्थ एडीशन, पे० २०।

the Suvastu (Svat) with its fair dwelling, the Krum (Kurram) and Gomal."[1]

श्री पी० एल० भार्गव के विचारानुसार 'सप्तसैन्धव प्रदेश' का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट हुआ है जिसमें इसकी सबसे पश्चिमी सीमा सिन्धु तथा पूर्वी सीमा सरस्वती, जो सातवीं नदी के रूप में व्यक्त होती है :—

"The oldest seat of Aryan culture in the historic period was the territory, now covered by the Punjab, the North-west province and eastern Afganistan. for the hymns of the oldest aryan monuments, the Rigved, within this territory flowed seven big rivers of which the western most was Sindhu or Indus and the eastern most was Saraswati called the Saptathi or the seventh river."[2]

जनरल कनिंघम जैसे सुप्रसिद्ध पुरातत्व एवं भूगोलवेत्ता ने ऋग्वेद मे वर्णित 'सप्तसिन्धु' को पूर्ण भौगोलिक क्रम, जिसे सर ए० स्टीन[4] ने निर्दिष्ट किया था, को दृष्टि में रखते हुए सिन्धु से सरस्वती नदी के आस-पास इसे ग्रहण करते है। एम० एल० भार्गव[5] के विचार से सप्तसैन्धव का सुविस्तृत स्वरूप व्यक्त हुआ है, जबकि एन० एल० डे[6] का कुछ संकीर्ण। महापण्डित श्री राहुल साकृत्यायन के मतानुसार आर्यों की प्रभुता का क्षेत्र सप्तसिन्धु अर्थात् सरस्वती को लेकर सिन्धु की उपत्यका तक का देश (हरियाणा, पंजाब और पक्तूनिस्तान) था।[7]

(२) **द्वितीय विचारधारा**—सप्तसैन्धव प्रदेश के स्वरूप के सम्बन्ध में उपर्युक्त

---

१. कॅम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम प्रथम (ऐन्शियंट इंडिया), १९६२, देहली, पे० ७०-७१।

२. इंडिया इन द वैदिक एज, १९५६, लखनऊ, पे० २२।

३. कनिंघम'स ऐन्शियंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, १९२४, कलकत्ता, (एडिटेड बाइ, एस० एन० मजूमदार), पे० ३६, इन्ट्रोडक्शन।

४. द्रष्टव्य—भण्डारकर कोमेमोरेशन वाल्यूम, पूना, १९१७, पे० २५।

५. द ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पे० २४३-२४४।

६. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, डे, पृ० १७९।

७. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ५८।

विचारधारा के अतिरिक्त एक द्वितीय विचारधारा भी दृष्टिगत होती है, जिसमें निम्न-लिखित विद्वानों के मत विचारणीय हैं :—

कैप्टेन सूरसिंह पंवार[1] के विचार से पंजाब को सप्तसिन्धु का भू-भाग मानना तथ्यहीन प्रतीत होता है। वे ऋग्वेद १०/७५/५ के मंत्र में सिन्धु का अभिप्राय गंगा ग्रहण कर पौराणिक[2] ग्रन्थों के आधार पर गंगा की ऊपरी धौली गंगा, मन्दाकिनी, पिण्डर, भागीरथी तथा नयार—६ सहायक नदियों के साथ अलकनन्दा (गंगा) को 'सप्त-सामुद्रिक तीर्थ' के रूप में गढ़वाल को ही आर्यों का मूल स्थान 'सप्तसिन्धु' मानते हैं। मेहरौली लौहस्तम्भ के प्राचीन अभिलेख में सिन्धु के सात मुखों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

> "तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका।
> यस्याद्याप्यधिवासते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणाः॥"

इसमें 'सिन्धु' को गंगा मानकर श्री पंवार ने इसे गढ़वाल क्षेत्र से संबंधित करने का प्रयास किया है।

श्री गिरीश चन्द्र[3] अवस्थी की अवधारणा है—

"पंजाब की नदियाँ सरस्वती और सिन्धु अर्थ करके उनके बीच की भूमि को सप्तसिन्धु कहना एकदम निराधार है, यदि सात अर्थ भी किया जाय तो सात नदियाँ, गंगा इत्यादि (जैसा भाष्यकार सायणाचार्य[4] ने अर्थ किया है) कोई भी ली जा सकती है। किसी भी निश्चित देश के लिए ऋग्वेद में इसका (सप्तसिन्धव का) प्रयोग नहीं है। पंजाब की नदियाँ इत्यादि माननेवालों के मत में जो देश लिया जायेगा, वह छोटा होगा। इससे उसको लेना ठीक नहीं।"

श्री हरिराम धस्माना ने ऋग्वेद में उल्लिखित प्राचीन 'सप्तसैन्धव प्रदेश' को, प्रतीत होता है, पूर्वाग्रहवश गढ़वाल क्षेत्र ही सिद्ध करने के लिये परम्परा रूप से परवर्तीकाल में ग्रहण किये गये अन्य सात नदियोंवाले क्षेत्र से भ्रामक साम्य उपस्थित करते हुए लिखा है—

१. 'मेहरौली के लौहस्तम्भ का ऐतिहासिक महत्त्व' शीर्षक शोध लेख, विश्वभारती पत्रिका, शान्तिनिकेतन (प० बंग), खण्ड १२, अंक, १९७१, पृ० ११०।
२. वायुपुराण, ४७/३७-५८, ब्रह्माण्ड पुराण १८/४०।
३. वेद-धरातल, प्रथम संस्करण, २०१० वि०, लखनऊ, पृ० ६८५।
४. ऋग्वेद, २/१२/१२-सायण-"सप्तसिन्धून्....यद्वा गंगाद्या सप्तमुख्या नदीरसृजत्।"

"पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ाया जाता है कि पंचनद देश ही सप्तसिन्धु है। इस तरह नैपाल भी सप्तसिन्धु है, क्योंकि वहाँ सप्तकोशी है। बृहद् मानसखण्ड भी सप्तसिन्धु है, क्योंकि वहाँ की सप्तसरिताओं का जल चूका में एकत्रित होता है। ये नदियाँ हैं—गोमती, सरयू, पूर्वी रामगंगा, गोरी, दारमा काली और लथिया। पंजाब के प्राचीन ग्रन्थों में पंचनद पांचाल नाम मिला है, न कि सप्तसिन्धु।"[१]

श्री धस्माना के मत को अनेक तर्कों से प्रतिपादित करते हुये सप्तसैन्धव प्रदेश की स्थिति तथा स्वरूप विषयक डॉ० सम्पूर्णानन्द के "आर्यों का आदि देश" ग्रन्थ के दृष्टिकोण से असहमत होकर उसे मध्य हिमालय (गढ़वाल) से अभिन्न मानते हुये श्री भजनसिंह[२] ने यह मत व्यक्त किया है।

"ऋग्वेद ७/६१/१२ के अनुसार गंगा आदि सप्त-सरिताओं से युक्त सरस्वती की पंजाब की पाँच नदियों के साथ की कल्पना निराधार है। ऋग्वैदिक सिंधु ही अलकनन्दा एवं गंगा है तथा सरस्वती गढ़वाल की नदी है। इसके अतिरिक्त धौली, मन्दाकिनी, पिण्डर, नयार, मन्दाकिनी सप्तनदियों में हैं जो गढ़वाल की हैं।"

मध्य हिमालय में आर्यों का यह सप्तसिन्धु देश (गढ़वाल) हिमालय के सबसे अधिक हिम-शिखरों से आच्छादित है। अतः प्रायः सभी इतिहासकार इसको शीत-प्रधान प्रदेश ही समझते रहे हैं।

विद्वद्वर जनमेजय[३] शास्त्री ने आर्यों की उत्पत्ति, वृद्धि मेरु पर्वत पर मान कर इसे हिमालय पर्वत से अभिन्न माना है किन्तु मेरु को हिमालय नहीं कहा जा सकता। पामीर पर्वत अवश्य कह सकते हैं।

समीक्षा—उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से संबंधित पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वानों के शोधपूर्ण मतों पर पुनर्विचार करते हुए कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्यों के मूल स्थान सप्तसिन्धव अथवा सप्तसैन्धव प्रदेश के स्वरूप को निर्धारित करने के लिये हमें मुख्यतः ऋग्वेद की ऋचाओं का प्रमाणार्थ आधार ग्रहण करना चाहिये। ऋग्वेद में समुपलब्ध भौगोलिक संदर्भ में समुल्लिखित अनेक नदियों में सात

---

१. ऋग्वैदिक इतिहास, प्रथम संस्करण, १९५४, लखनऊ, पृ० ज (भूमिका)।
२. आर्यों का आदि निवास, मध्य हिमालय, १९६८, पृ० ५०, १०५, १२०, २४५।
३. सारस्वती सुषमा (त्रैमासिकी शोध पत्रिका), वाराणसी, २०१४ विक्रमी, वर्ष १२, अंक १, पृ० ५७-५८ (आर्याणामुत्पत्तिस्थानं त्रिलोकरहस्यं च शीर्षक लेख)।

प्रधान नदियाँ सिन्धु, विपाश, शुतुद्रि, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी और सरस्वती[1] ही महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं जिनके आस-पास के भू-भाग (बेसिनों) से सप्त-सैन्धव प्रदेश को यह अभिधान प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से मैक्डॉनल, कीथ एवं मैक्स-मूलर का मत ग्राह्य है, जबकि लुडविग, लासन तथा ह्विटने भ्रान्तिवश सरस्वती के स्थान पर कुभा अथवा ऑक्सस को ग्रहण करते हैं। अतः उनका मत सर्वथा अग्राह्य है, क्योंकि कुभा सिन्धु नदी की सहायक मात्र है, मुख्य नदी नहीं।

भारतीय विद्वानों में डॉ० ए० सी० दास, डॉ० सम्पूर्णानन्द, मजूमदार, भार्गव, राहुल सांकृत्यायन आदि के मत इस सम्बन्ध में समुचित हैं, जबकि श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का मत संकुचित होने के कारण सर्वथा ग्राह्य नहीं है। उन्होंने मात्र पंजाब में ही 'सप्तसिन्धव' को सीमित किया है, किन्तु है इससे सप्तसिन्धु क्षेत्र और विस्तीर्ण। सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियाँ – सुवास्तु, कुभा, क्रुमु आदि सिन्धु का अंग होने के कारण इनसे संबंधित भौगोलिक वैशिष्ट्ययुक्त भू-भाग को ही सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तर्गत ग्रहण करना उचित है। इसी प्रकार सरस्वती की सहायक दृषद्वती सुनिश्चित रूप से पूर्वी-दक्षिणी भू-भाग के अन्तर्गत आ जाती है। गंगा-जमुना यद्यपि स्वतंत्र सरिताएँ हैं, किन्तु सप्तसिन्धव की अन्य नदियों की अपेक्षा अत्यन्त लघु होने के कारण सप्तप्रधान नदियों के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती हैं, तथापि वे सप्तसैन्धव प्रदेश की पूर्वी सीमा के अन्तर्गत ग्राह्य हैं। इस दृष्टि से आर० सी० मजूमदार[2] का मत सर्वथा तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है।

द्वितीय विचारधारा से संबंधित कैप्टेन शूरसिंह पंवार, श्री हरिराम धस्माना, श्री भजनसिंह प्रभृति विद्वानों ने सप्तसैन्धव प्रदेश को गढ़वाल क्षेत्र से अभिन्न प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, जो सर्वथा असमीचीन है, क्योंकि इन्होंने गढ़वाल जनपद से संबंधित जिन सात नदियों को गिनाया है, वे ऋग्वैदिक 'सप्तसिन्धव' से सर्वथा भिन्न हैं तथा ये गढ़वाल क्षेत्रीय नदियाँ उनसे किसी प्रकार संबंधित नहीं की जा सकती हैं।

आन्तरिक कलह एवं पारस्परिक संघर्ष के शान्त होने पर कालान्तर में आर्य अपनी उत्कृष्ट धर्म-सस्कृति का सुदूर भू-भागों में प्रसार एवं प्रचार करते हुए प्राचीन

---

१. सचित्र विश्वकोष (इति०, व्यक्ति घटना) खण्ड ८, दिल्ली, पृ० ११ (सरस्वती के साथ दृषद्वती को भी लिया है, जो सहायक होने से नहीं ग्रहण की जानी चाहिये।

२. ऐन्शियंट इंडिया, आर० सी० मजूमदार, पृ० ४३।

सप्तसैन्धव से चाहे 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की धार्मिक अथवा सांस्कृतिक विजय-धारणा से, चाहे पारस्परिक राजनीतिक प्रतिस्पर्धा अथवा जलप्लावन जैसी दैवी दुर्घटना से आगे पूर्व, दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम को निरन्तर बढ़ते गये तथा उनके इस महान् देश की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं की छाप सर्वत्र पड़ती गई। यही कारण है, सप्तसैन्धव प्रदेश की सात प्रधान नदियों की लोकप्रियता के आधार पर ईरान के पारसियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' के अतिरिक्त अन्य ईरानी प्राचीन साहित्य में भी 'हप्त-हिन्दु' (Hapta-Hindu) का उल्लेख पाया जाता है, जो केवल सात नदियों के लिए ही नहीं, अपितु सात नदियोंवाले प्रदेश और वहाँ बसनेवाले लोगों के लिए भी प्रयुक्त होता रहा। मध्य-एशिया में भी एक 'सप्तसिन्धु' इलिचु आदि सात नदियों की उपत्यकाओं में विद्यमान था। राहुल सांकृत्यायन[1] के अनुसार यही रूसी भाषा में आज का 'सेमिरेच्ये' (सात नदी का) प्रदेश है जो प्रतीत होता है, प्राचीन काल से प्रचलित नाम का अनुवाद मात्र है।

कैप्टेन पंवार का सप्तसामुद्रिक तीर्थ के रूप में गढ़वाल से अथवा श्री धस्माना का बृहद् मानस खण्ड या सप्तकोशी की सात सरिताओं के आधार पर नैपाल को गढ़वाल प्रतिपादित करने के पूर्वाग्रह के कारण प्राचीन सप्तसैन्धव मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। ऐसे राष्ट्र की धार्मिक-सांस्कृतिक एकता के लिए भारत की प्रधान सात नदियों का स्मरण[2] किया जाता है, किन्तु हम समस्त भारत देश को सप्तसैन्धव-प्रदेश नहीं कह सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि हिमालय[3] और गंगा के ऋग्वेद[4] में उल्लेख तथा गढ़वाल की भौगोलिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए उसे सप्तसैन्धव प्रदेश का ही एक पूर्वी भूखण्ड माना जा सकता है, न कि समग्र सप्तसैन्धव प्रदेश।

आर्यावर्त के परिप्रेक्ष्य में सप्तसैन्धव प्रदेश का समीकरण

'आर्यावर्त' का शाब्दिक अर्थ है—आर्यों का चक्कर, अर्थात् जहाँ आर्य मृत्यु के पश्चात् पुनः-पुनः जन्म धारण करते हैं। सामान्यतः 'आर्यावर्त' आर्यों के उस

१. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ७।
२. स्नान के समय निम्न श्लोक प्रायः प्रत्येक हिन्दू पढ़ता है—
"गंगश्च जमुनश्चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥"
३. ऋग्वेद, १०/१२१/४ हिमवन्त।
४. ऋग्वेद, १०/७५/५ इमं मे गंगे-यमुने।

विशाल निवास-क्षेत्र के लिये व्यवहृत हुआ है, जो मनु के अनुसार, पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक तथा हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक विस्तृत[1] था। मनु के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में 'आर्यावर्त' का उल्लेख करते हुए इसकी चार[2] पार्वती मर्यादाएँ निर्दिष्ट की हैं, जिनको दृष्टि में रखते हुए यह विस्तृत क्षेत्र उत्तरापथ से अभिन्न प्रतीत होता है। 'मध्य देश' भी इसी भू-भाग से ही सम्बन्धित[3] है, जो मनु की दृष्टि में आर्यावर्त से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

'आर्यावर्त' अथवा 'मध्यदेश' का प्रयोग समस्त (भारत) देश के लिए न होकर विशेषतया उत्तरापथ अथवा गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी क्षेत्र की विस्तृत सीमाओं के लिए ही प्रसिद्ध रहा, जबकि सप्तसैन्धव प्रदेश इस विस्तृत भूखण्ड का पश्चिमी-उत्तरी सीमान्त क्षेत्र तक आर्यों का वह आदि देश है, जो उ०प० सीमान्त की प० सहायक नदियों सहित सिन्धु से लेकर सरस्वती आदि नदियों के बेसिन से सम्बन्धित है।

आर्यों का सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्व में प्रसार एवं स्थायी आवास हो जाने पर कालान्तर में उत्तरापथ का ही अभिधान 'आर्यावर्त' तथा 'मध्यदेश' प्रचलित हो गया। इस प्रकार सप्तसैन्धव प्रदेश आर्यावर्त का उ०प० वह पुरातन भू-भाग है, जिसकी सम्पूर्ण धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ मूलरूप में न केवल समस्त आर्यावर्त में अपितु समस्त भारतवर्ष में भी प्रवर्तित रही हैं।

नामकरण—'सप्तसिन्धवः' के विषय में उपर्युक्त विद्वानों के मतों की समीक्षा के आधार पर इसके नामकरण के सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सिन्धु, विपाश, शुतुद्रि, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी और सरस्वती इन सात प्रधान नदियों के आस-पास भूभाग, जिसे भौगोलिक 'बेसिन' कहते हैं, से संबंधित होने के कारण इस देश का 'सप्तसिन्धव' अथवा 'सप्तसैन्धव प्रदेश' (Land of

---

१. मनु० २/२२, आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरम् गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

२. महाभाष्य के अनुसार आर्यावर्त की सीमा—उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य (आदर्शावली), पश्चिम में पारियात्र तथा पूर्व में कालक वन।

३. मनु० २/२१, हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

Seven rivers) नामकरण उचित ही है। अवेस्ता में ईरानियों द्वारा इसे 'हप्त-हिन्दु' कहा गया, जिसके संक्षिप्त रूप 'हिन्द' को ग्रहण कर ग्रीक लोग 'इन्द' और अंग्रेज 'इण्ड' कहने लगे, जिससे आज व्यापक रूप में हमारा देश विश्व में 'इण्डिया' नाम से व्यवहृत होता है। डॉ० ए० सी० दास, डॉ० सम्पूर्णानन्द वर्मा प्रभृति विद्वानों ने 'सप्तसिन्धव' देश के ऋग्वेदानुसार मूल रूप को ग्रहण किया है, जबकि कतिपय वैदिक[1] (विद्वानों) ने सप्तसिन्धव का संशोधित रूप 'सप्तसैन्धव' नाम प्रयुक्त किया है, जो उचित प्रतीत होता है।

स्वरूप एवं क्षेत्र-विस्तार

ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश का क्षेत्र-विस्तार निरूपित करने के पूर्व यह आवश्यक है कि उसके तत्कालीन अपरिवर्तित प्राचीन स्वरूप पर भी विचार किया जाय। सिन्धु नदी से सरस्वती नदी तक के भू-भाग के आस-पास आज जैसा भौतिक स्वरूप दृष्टिगत होता है, ऋग्वैदिक काल में प्रतीत होता है, ऐसा नहीं था। ऋग्वेद की एक ऋचा[2] मे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का समुल्लेख प्राप्त होने के कारण प्रसिद्ध इतिहासकारों[3], भूगर्भ-शास्त्रियों[4] तथा भौगोलिकों[5] की यह धारणा सत्य सिद्ध हो जाती है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी किनारे से उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आसाम तक समुद्र फैला था[6], जिसमे गंगा-यमुना गिरती थी। श्री एच० जी० वेल्स[7] का अनुमान

---

१. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, एम० एल० भार्गव, लखनऊ, १९६४, पेज ६, २४३, २४४।
   आर्यों का आदि देश,' डॉ० सम्पूर्णानन्द, २०१० वि०, इलाहाबाद, पृ० २३।
२. ऋग्वेद, १०/१३६/५ उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।
३. एच० जी० वेल्स, 'आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री', पृ० ३९-४५।
४. ए० सी० दास, ऋग्वैदिक इंडिया, वा० प्रथम, १९२१, कलकत्ता, पे० ६३।
५. एम० एल० भार्गव, द ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पे० १।
६. डॉ० पी० एल० भार्गव की अर्वावत् (पूर्वी) समुद्र की अवस्थिति एवं स्वरूप (सारस्वत या राजस्थान समुद्र का पश्चिमी भाग) विषयक अवधारणा असमीचीन प्रतीत होती है, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट अर्वावत् (पूर्वी) समुद्र सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्व में ही नहीं है। द्रष्टव्य मानचित्र, India in The Vedic Age) P. २-०।
७. आउट लाइन्स ऑफ हिस्ट्री, वेल्स, पेज ३९, ४५।

है कि इस पूर्वी (आरावत) समुद्र का अस्तित्व २५ से ३० हजार वर्ष पूर्व था जिसे उन्होंने मानचित्र पर भी प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार जहाँ सप्तसैन्धव के दक्षिणी भू-भाग में इस समय थार का विशाल मरुस्थल है, वहाँ भी पुरातन काल में बड़ा समुद्र विद्यमान था, जिसमें ऋग्वेदकालीन सरस्वती[1] आदि नदियाँ गिरती थीं। इनके गिरने पर भी यह मिट्टी, रेत, पानी आदि से नहीं भरता था[2]। श्री बी० वी०[3] केतकर के द्वारा इस दक्षिणी सागर से ७,५०० ई०पू० राजस्थान का समुद्र-गर्भ से निकलना सिद्ध किया गया है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण में समुद्र का होना इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि थार की मरुभूमि की रेत में लवण की अधिकता है, और अतीत के सागर-गर्त के अवशेष रूप मे साँभर आदि ऐसी झीलें विद्यमान हैं, जिनसे नमक निकाला जाता है। अरब सागर की ही एक पूर्वी शाखा उस समय वर्तमान अरावली (अर्वली) पर्वत तक तथा दूसरी जिसे ऋक्० १०/१३६/५ में 'अपर' (पश्चिमी) कहा गया है, सिन्ध के एक बडे भाग में लहराती थी, जहाँ अब रेतीला मैदान और सिन्धु नदी की निचली शाखा है। प्रतीत होता है, यह सागर पट्टी सुलेमान पर्वत-श्रेणियों तक स्थल के भीतर तक चली गई थी।

सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी सीमा में हिमवन्त (हिमालय) पर्वतमाला के अतिरिक्त एक विशाल समुद्र[4] भी था, जो मध्य एशिया के विस्तृत भूभाग मे फैला था। इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों[5] ने अनेक प्रमाण दिये है। इन्साइक्लोपीडिया[6] ब्रिटेनिका में भी 'सप्तसिन्धव' के उत्तर में समुद्र होने के विषय में तथ्य प्रस्तुत किये गये है। मध्य एशिया के पश्चिमी भाग में कृष्णसागर तथा कैस्पियन सागर एवं अरल आदि झीलें उसकी कालान्तर में अवशिष्ट रूप प्रतीत होते हैं। एशिया का यह भूमध्यसागर (मैडिटोरेनियन) समुद्र तुर्किस्तान के द० पू० तथा पूर्वी भाग में फैला था[7]। इस उत्तरी सागर के दक्षिण में ही सप्तसैन्धव प्रदेश, जिसके पश्चिमी भाग

---

१. ऋग्वेद, १/७१/७, १/१८०/७।
२. ऋग्वेद, ५/८५/६।
३. First Oriental Conference, Poona, 1919, AD.
४. ऋक्० ८/११३/१, ८/६/३८, १/८४/१४ में 'शर्यणावत'।
५. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वेद, १८६४, पे० एल।
६. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वॉ० पंचम, (नवाँ एडीशन), पे० १८८-८१।
७. वही, वॉ० २३, (नवाँ एडीशन), पे० ६३४, ६३८।

में गन्धार तथा पूर्वी भाग में यमुना-गंगा की घाटियाँ सम्मिलित थीं, विद्यमान था।

ऋग्वेद (६/३३/६, ७/३३/६, १०/४७/२) में चार समुद्रों का स्पष्ट समुल्लेख प्राप्त होता है। इसी आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र प्रतिपादित करते हुए डॉ० अविनाशचन्द्र दास[1] लिखते हैं—

"Sapta Sindhu had four seas on its four boundaries excepting on the N. W. where it had direct connection with Persia and through it, with Western Asia.....On the North where the Himalayan range and the Asiatic Mediteranian Sea beyond, extending North-wards from the Border of Turkistan and western far as Black-Sea. On the west where the Suleman Ranges and a strip of sea...was the Rajputana Sea, stretching as far south as Aravali Range."

डॉ० सम्पूर्णानन्द[2], पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ आदि विद्वानों ने[3] डॉ० ए० सी० दास के इस शोधपूर्ण विवरण को पूर्णतया अनुमोदित किया है। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित प्राचीन 'सप्तसैन्धव प्रदेश' के बाह्य भौतिक स्वरूप से अवगत होने के साथ ही उसके क्षेत्र-विस्तार को भी सरलता से ज्ञात किया जा सकता है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के उ० प० सीमान्त भाग की सुवास्तु[4] (स्वात), कुभा[5] (काबुल), क्रमु[6] (कुर्रम) आदि छोटी-छोटी नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में होने के कारण कहा जा सकता है कि पश्चिम से प्राचीन गन्धार अर्थात् पूर्वी अफगानिस्तान से लेकर पूर्व में गंगा-बेसिन तक, उत्तर में हिमालय श्रेणियों एवं कश्मीर—उत्तर-पंजाब से लेकर दक्षिण में राजस्थान (मध्य भाग) तक, अर्थात् २८° उत्तरी अक्षांश से लगभग ३६° उ० अक्षांश, दक्षिण से उत्तर तथा ७०° पूर्वी देशान्तर से ७८° पूर्वी

---

१. ऋग्वैदिक इंडिया, वॉ० प्रथम, १९२१, पे० ६३।
२. आर्यों का आदि देश (द्वितीय संस्करण), सं० २००१ वि०, पृ० ३६।
३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, संस्करण, दिल्ली, पृ० ६८-६९।
४. ऋग्वेद, ५/५३/९, १०/७५/६।
५. वही, १०/७५/६, ५/५३/९।
६. वही, १०/७५/६।

पश्चिम से पूर्व तक के क्षेत्र में प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश का विस्तार था, जैसा कि मैक्डॉनेल और कीथ ने भी इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए ठीक ही लिखा है—

"(प्राचीनतम समय के ऋग्वेदकालीन आर्यों का निवासस्थान से संबंधित सप्तसैन्धव प्रदेश का) यह क्षेत्र ३५° से २८° उ० अक्षांशों और ७०° से ७८° पूर्वी देशान्तरों के बीच के भूभागों के अन्तर्गत आ जाता है।"[१] ब्राह्मण काल में इसका क्षेत्र-विस्तार ७४°-८५° पूर्वी देशान्तर गंगा से सदानीरा तक हो गया, जो आज के उत्तर प्रदेश और द० पू० पंजाब के क्षेत्रों से मिलता-जुलता है। प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश के स्वरूप के सम्बन्ध में वर्तमान भू-भागों को दृष्टि में रखते हुए श्री एम० एल० भार्गव ने प्रत्यभिज्ञानात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

"The Sapta Sindhava country of the Rigvedic period,.... comprised roughly of the northern parts of the Meeruth (Meerut) district and Kumayun of U. P. A good Part of Ambala division the Jalandhar, the Lahore and the Ravalpindi division and former princely States of Pre-Partitioned Punjab except Batavalpur, the Jammu & Kashmir State, the former N.W.F. (Frontier) Province and Eastern parts of Afghanistan."[२]

डॉ० डी० पी० सक्सेना[३] ने ऋग्वैदिक सप्तसिन्धु क्षेत्र के भौतिक स्वरूप को भूगर्भशास्त्रीय परिवर्तनों को बिना दृष्टि में रखे हुये महाराष्ट्र से संबंधित (गोंडवाना क्षेत्र) तक विस्तृत दिखाया है जिसे समीचीन नहीं कहा जा सकता।

समीक्षा—वस्तुतः श्री भार्गव द्वारा अभिन्न बताये गये भू-भाग के वर्तमान बाह्य रूप की अपेक्षा सप्तसैन्धव प्रदेश के आन्तरिक स्वरूप में विशेष अन्तर और अस्थिरता थी। ऐसा प्रतीत होता है उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश की भूमि भूकम्पों के कारण अस्थिर रहती थी तथा हिमालय आदि पर्वतों की भी प्रायः उन्मज्जन-निमज्जनात्मक भौगर्भिक क्रिया तीव्रता से होती रहती थी, जिससे उनमें भी अस्थिरता व्याप्त थी।

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक—रामकुमार राय, १९६२, वाराणसी (भूमिका, पृ० ७)।

२. द ज्यॉग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पेज १२९-१३०।

३. ऐन्शियंट ज्यॉग्राफी ऑफ इंडिया, पेज २३, रीजनल ज्यॉग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज १६।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद की एक ऋचा[1] उल्लेखनीय है, जिसमें इन्द्र के पराक्रमपूर्ण कार्यों को वर्णित करते हुए कहा गया है :—

"यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितानरम्णात्'''स जनास इन्द्रः ।"

(अर्थात् हे पुरुषो ! इन्द्र वह है, जिसने व्यथित (दुःखित-भूकम्पों से हिलती) हुई पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने अति कुपित (हलचल मचाते, अशान्त या अस्थिर) हुए पर्वतों को शान्त किया ।)

इससे उस समय की सप्तसैन्धव प्रदेश की भूमि के अतिरिक्त भू-मण्डल की भी स्थिति का संकेत मिलता है, जिस समय पृथ्वी पर भूकम्पों की अधिकता थी। भूगर्भशास्त्रियों[2] के अतिरिक्त इतिहासकार[3] विद्वान् भी इस काल के बाद राजपूताना को समुद्रगर्भ से बाहर आ जाना स्वीकार करते हैं।

सप्तसैन्धव के आस-पास के भूभागों में अन्य बड़े-बड़े भौतिक परिवर्तन हुए थे। इन्द्र के द्वारा सिन्धु (ऊपरी सिन्धु नदी की धारा) को उत्तरवाहिनी किये जाने का उल्लेख[4] किये जाने से यह ज्ञात होता है कि सिन्धु पहले दक्षिणाभिमुख बहती थी, किन्तु कालान्तर में प्राकृतिक कारणों से उस मार्ग के रुक जाने से अब यह कश्मीर के उत्तर में उत्तर-पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगी है। मध्य हिमालय के उत्थान के साथ इसकी दक्षिणी उपत्यका में एक गहरा गर्त[5] बन गया था, जो समुद्र रूप में दीर्घ काल तक विद्यमान रहा, किन्तु शनैः-शनैः सरिताओं एवं निर्झरों द्वारा बहाकर लाई मिट्टी से भर गया।

---

१. ऋग्वेद, २/१२/२, तुलनीय—ऋग्वेद २/१७/५।
"स प्राचीनान् पर्वतान दृंहदोजसा०........ ।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायस्तभ्ना........ ।
२. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वॉ० १२, (नवाँ संस्क ण), पे० ७२६।
३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, दिल्ली, १९६७, पृ० ७१।
४. ऋग्वेद, २/१५/६।
५. मेम्वायर्स ऑफ़ द ज्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, वॉल्यूम ११, पार्ट २, पे० १३७।
वाडियाज ज्योलोजी ऑफ इंडिया, पे० १०९, ११० एण्ड २४८, सर्वे ऑफ़ इंडिया, पेपर नं० १२, कलकत्ता, १९१२।

भूकम्प का ही, प्रतीत होता है, विशेष प्रभाव राजस्थान समुद्र के एक भाग पर ही पड़ा था। अतः इससे सरस्वती, दृषद्वती और शुतुद्री के नीचे के भाग में ही परिवर्तन हुआ, किन्तु पंजाब (सप्तसैन्धव प्रदेश का मध्यभाग) इससे कोई विशेष प्रभावित नहीं हुआ। यह तथ्य वहाँ पर नदियों में बहकर आई मिट्टी की जमी पतली पर्त्त की अधोवर्तिनी चट्टानों से भी पुष्ट होता है। यह भी पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव का प्रदेश उत्तरी हिमालय पर्वत के उद्-गम के पूर्व ही अपने ऋग्वैदिक स्वरूप को प्राप्त कर चुका था, जिसका प्रतिपादन एच० एफ० ब्लेनफोर्ड[1] आदि के द्वारा भी किया गया है। ओल्डहम महोदय के मतानुसार पंजाब की नमक की पहाड़ी के तल से प्राप्त प्राचीन जीवों के पाषाणीभूत अवशेष केम्ब्रियन काल के (५४,००,००,००० वर्ष पूर्व के) और भारत में प्राचीनतम[2] हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में सबसे पहले सप्तसैन्धव प्रदेश में ही जीव-सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ था और ऋग्वेद मे जो विविध जीव-जन्तुओं का वर्णन हुआ है, वह काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य है।

अतएव कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश का क्षेत्र-विस्तार सिन्धु के पश्चिमी भू-भाग ७०° पू० देशान्तर से पूर्व मे गंगा बेसिन तक, उत्तर में ३५° उ० अक्षांश हिमालय से दक्षिण मे २८° उ० अक्षाश सारस्वत समुद्र (वर्तमान राजस्थान) तक था तथा डॉ० डी० पी० सक्सेना आदि भूगोलवेत्ताओं ने दक्षिणी भारत के महा-राष्ट्रीय (गोंडवानालैण्ड) क्षेत्र को इसमें ग्रहण किया है, सर्वथा असमीचीन एवं असंगत है।

सप्तसैन्धव प्रदेश की सीमा—सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तर्वाह्य संक्षिप्त स्वरूप के साथ उसके क्षेत्र-विस्तार के सम्बन्ध मे दी गई उपर्युक्त विवेचना के आधार पर उसकी सीमा भी सरलतापूर्वक निर्धारित की जा सकती है।

ऋग्वेद[3] में हिमवंत (हिमालय) तथा मूजवत्[4] का उल्लेख होने के कारण

---

१. क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ़ ज्योलोजिकल सोसाइटी, वॉ० ३१, (१८७५), पेज ५२४-४१।
   इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, वॉ० प्रथम, १९०७, पे० ५३।
२. मैनुअल ऑफ़ ज्योलोजी ऑफ़ इंडिया (१८९३), पे० १०९।
३. ऋग्वेद, १०/१२१/४।
४. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, वॉल्यूम प्रथम, ई० जे० रैप्सन, १९६२, दिल्ली, पेज ७२।

उसे सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी सीमा निश्चित् रूप से कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में टी० सी० कालारिट तथा जे० ओ० थार्न का भी यह मत सर्वथा विचारणीय है :—

"Approx. the Himalaya forms the boundary between the mongoloid and the Indo-Afgan races. Himalayas are comparatively young mts. and belong mainly to the great tertiary mountain building period."[1]

सप्तसैन्धव प्रदेश के अस्तित्व के पूर्व tertiary युग के पर्वतों में हिमालय अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुका था और हिमालय के उत्तर में एशियाई मध्यसागर का भी तुर्किस्तान तक अस्तित्व था। अन्य[2] विद्वानों ने भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया है। अतएव सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत तथा उत्तरी समुद्र (एशियाई मध्यसागर) सिद्ध होता है। हिमालय की ही उ० प० शृंखलायें वर्तमान पूर्वी अफगानिस्तान में विस्तृत होकर हिन्दूकुश[3] के रूप में सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा निर्मित करती थी।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण में, सारस्वत[4] समुद्र जिसमें सरस्वती नदी गिरती थी, इसकी दक्षिणी सीमा थी, जिसके अस्तित्व[5] के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हुए है।

ऋग्वेद १०/१३६/५ के "उभौ समुद्रा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः" उल्लेख के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश की पूर्वी सीमा में गंगा नदी[6] के अतिरिक्त पूर्वी समुद्र (आरावत) तथा पश्चिमी सीमा मे पश्चिमी (अपर या वर्तमान अरब) सागर की पट्टी के साथ ही सुलेमान पर्वत[7] श्रेणियाँ विद्यमान थी जो पश्चिम के स्थल खण्ड से जोड़ती

१. चैम्बर्स वर्ल्ड गजेटियर ऐण्ड ज्यॉग्राफिकल डिक्शनरी, लंदन, १९५८, पेज ३१५।
२. डा० ए० सी० दास, ऋग्वैदिक इंडिया, वॉ० प्रथम, १९२१, पे० ६३, एम० एल० भार्गव, ज्यांग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६०, लखनऊ, पेज १।
३. इंडिया इन द वैदिक एज, पो० एल० भार्गव, १९५६, लखनऊ, पेज २६।
४. ऋग्वेद, १/१६४/५२, ७/९५/२, ९६/४-६, १०/६६/५।
५. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, वॉल्यूम प्रथम, पे० ३८।
६. ऐन्शियंट इंडिया, ई० जे० रैप्सन, १९६०, कलकत्ता, पे० २१ "(ऐट दैट पीरियड दे (गंगा ऐण्ड जमुना) मियरली फौर्म्ड दी इक्सट्रीम लिमिट ऑफ ज्यॉग्राफिकल आउट लुक)"
७. ऋग्वैदिक इंडिया, ए० सी० दास, १९२१, पेज ६३।

थीं। इस प्रकार सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रायः सभी सीमाओं पर समुद्र[1] विद्यमान थे, तथा इस सम्बन्ध में एम० एल० भार्गव ने सप्तसैन्धव की सीमा निर्धारित करते हुए यह तथ्यपूर्ण विचार व्यक्त किया है :—

"There is, in Rigveda, no mention of any Geographical features in the East of the Ganga and the Aravat sea in the South of the northern Pariyatras and the Sarasvat sea, in the west of Paravat sea and the western mountain ranges and in the north of the mujvat and western Himalaya mountains."[2]

समीक्षा सप्तसैन्धव प्रदेश की सीमा के सम्बन्ध मे श्री भार्गव का अभिमत ऋग्वेद मे अभिव्यक्त तथ्यों पर आधारित होने के कारण स्वीकार्य कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में इतिहास-भूगोल के अतिरिक्त भूगर्भशास्त्र के विद्वानो के शोधपूर्ण परिणाम भी इसे प्रमाणित कर चुके है। सप्तसैन्धव प्रदेश के इसी प्राचीन स्वरूप, जिसका ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पर उल्लेख है, के आधार पर हम आगे भौगोलिक अध्ययन करने का प्रयास कर रहे है।

---

१. ऋग्वैदिक इंडिया, डॉ० जे० पी० सिंघल—"फारगौटन गेन्शियंट नेशन्स ऐण्ड दियर ज्यॉग्राफी" (ऋग्वेदिक ज्यॉलोजी ऐण्ड द लैण्ड आफ सप्तसिन्धु, पे० १२, १९६८ देलही।

२. ज्यॉग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पेज १२८।

॥२॥

जलवायु, ऋतुएं, प्राकृतिक वनस्पति, जीव-जन्तु आदि

जलवायु, प्राकृतिक वनस्पति एवं खनिज

द्वितीय अध्याय

ऋग्वैदिक जलवायु, ऋतुएँ, प्राकृतिक वनस्पति, जीव-जन्तु आदि

किसी भी प्रदेश के भौगोलिक अध्ययन में उसकी जलवायु का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक होता है, क्योंकि जलवायु के न केवल मानवीय[1] क्रियाकलाप, अपितु प्राकृतिक वनस्पति, जीवजन्तु आदि भौतिक रूप भी प्रभूत मात्रा में प्रभावित होते हैं। जलवायु विज्ञानवेत्ता ए० अस्टीन मिलर[2] के मतानुसार किसी प्रदेश की जलवायु को सम्यक् रूप से समझने के लिए आँकड़ों के एकत्रित करने का न्यूनतम काल ३५ वर्ष अवश्य होना चाहिए, क्योंकि ३५ वर्षों में जलवायु-परिवर्तन का चक्र पूर्ण हो जाता है। ऋग्वेद में उल्लिखित सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु से सम्बन्धित सन्दर्भ प्रनीत होत है, सहस्र वर्षों के सतत अनुभव से अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव उनका पुरातन सप्त-सैन्धव प्रदेश के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक जलवायु विज्ञान के तत्त्वों के आधार पर सामान्य अध्ययन करना समीचीन है, क्योंकि सभी भौगोलिक[3] प्रभावों में जलवायु ही सर्वाधिक शक्तिशाली होती है जिससे मानव प्रभावित होता है।

जलवायु के प्रमुख पाँच तत्त्वों (वायुमंडल का ताप सौर्य शक्ति, वायुभार, पवन, आर्द्रता तथा वर्षण) को निर्धारित करते हुए श्री जी०टी० ट्रिवार्था ने वायुमण्डल के सबसे नीचे स्तर 'ट्रायोस्फीयर' में जलवायु के परिवर्तनों को स्वीकार किया है।[4] इसके अतिरिक्त जलवायु के सम्बन्ध में सामान्यतः अग्रलिखित विद्वानों के मत भी विचारणीय हैं :—

---

१. डॉ० एस० डी० कौशिक, इन्वायरनमेण्ट ऐण्ड ह्यूमैन प्रोग्रेस, १९६६, चैप्टर ५।

२. क्लाइमेटोलोजी, १९५७, पेज ४।

३. मानव-भूगोल, डॉ० कौशिक, पृ० ३२१, द्रष्टव्य—एस० एस० विशर का मत—
"Of all the Geographical influences to which man is subjected, Climate seems to be the most potent."

४. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु क्लाइमेट, जी० टी० ट्रिवार्था, १९५४, पे० २८।

केण्ड्र्यू महोदय[1] की धारणा है कि जलवायु का कोई भी चित्र तब तक सत्य नहीं हो सकता, जब तक वह नित्य बदलने वाले मौसम और ऋतु-परिवर्तन के उन अनेक रंगों में नहीं बताया जाता जो उसके प्रमुख लक्षण हैं (तापमान, आर्द्रता, वर्षा, वायु तत्त्व आदि)।

जलवायु को भौगोलिक तत्त्वों में प्रधान होने के कारण हण्टिंगटन[2] ने उसे मानव संस्कृति का कारक अथवा द्योतक माना है। इसी आधार पर जलवायु के मूल तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु का अध्ययन किया जा रहा है।

सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु—सप्तसैन्धव प्रदेश के पुरातन स्वरूप में आज की अपेक्षा अधिक अन्तर होने के कारण उसकी जलवायु भी आज से काफी भिन्न ज्ञात होती है। इस सम्बन्ध में ए० एल० बाशम[3] की भी यही धारणा है कि इस क्षेत्र का ३००० ई०पू० में जलवायु बहुत भिन्न थी और सम्पूर्ण सिन्धु प्रदेश वनों से पूरित था। डॉ० सम्पूर्णानन्द[4] ने इस तथ्य को समर्थित करते हुए लिखा है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के जलवायु में उस समय से आज बहुत परिवर्तन हो गया है। भौगोलिक रूप भी बदल गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० ए० सी० दास का तथ्यपूर्ण यह विचार द्रष्टव्य है—

"The climate and the seasons as prevailed in ancient Sapta Sindhu have also undergone a complete change in comparatively recent times probably through a change of her physical environment."[5]

जैसा जी० टी० ट्रिवार्था ने जलवायु के तत्त्वों में वातावरण का ताप एवं सौर्य-शक्ति के साथ पवन, आर्द्रता, वर्षण आदि को ग्रहण किया है, प्रो० एस० एम० अली[6] के विचार से ऋग्वेद मे भी इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति से सप्तसैन्धव प्रदेश

---

१. केण्ड्र्यू, क्लाइमेटोलोजी, पे० १२।
२. सिविलाइजेशन ऐण्ड क्लाइमेट, ई० हण्टिंगटन, पृ० ३८, यले यूनिवर्सिटी, न्यू हॉवेन, १८१५।
३. द वॅण्डर दैट वाज इंडिया, लंदन, (अद्भुत भारत, अनुवादक, वी० सी० पाण्डेय, आगरा, १८६७), पृ० १३।
४. आर्यों का आदि देश, २००१ वि०, इलाहाबाद, पृ० १८२।
५. ऋग्वैदिक इंडिया, ए० सी० दास, कलकत्ता, १८२१, पे० १३। वॉ० प्रथम।
६. द ज्यॉग्राफी आफ द पुराणाज, १८६६, न्यू देलही, पे० १८।

की जलवायु स्पष्ट ज्ञात होती है। पृथ्वी पर सूर्य के प्रकाश और अप्रकाश (छाया) से दिन-रात की कल्पना[1] करते हुए ताप के स्रोत सूर्य रूपी अग्नि को ऋतुओं का विभाजक[2] तथा प्राणियों के निमित्त पूर्वादि दिशाओं का नियामक कहा गया है। सूर्य स्थावर-जंगम का[3] प्राणरूप अपने अश्वों (किरणों) से आकाश-पीठ पर अधिरूढ़ होता है और उसी दिन आकाश-पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है।[4] सूर्य अपनी १२ राशियों[5] से विभिन्न रूप से ताप विकीर्ण करता हुआ जल-वृष्टि[6] करता है। सूर्य अपनी उष्ण किरणों से वाष्पीकरण क्रिया से जल-धारण[7] कर पर्जन्य और पवन के योग से वर्षा करता है। इसी उष्णता अथवा दाहकता से सूर्य को अग्नि[8] रूप मान कर वृष्टि करने वाला आदित्य[9] भी कहा गया है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के किन्हीं-किन्हीं भूभागों में, प्रतीत होता है, सूर्य की उष्णता से तापक्रम इतना बढ़ जाता था कि उसके शान्त एवं सुखद होने की वैदिक ऋषि प्रार्थना करने लगते थे। ऋक्० ७/३५/८ में "शं नः सूर्य उरुचक्षा···· ।" तथा ऋक्० ८/१८/९ में "करच्छं नस्तपतु सूर्यः, शं वातो वात्वरपा अपस्रिधः" ५/७९/९ "नेत्वा स्तेनं यथा रिपुं तपति सूर्यो अर्चिषा········" आदि ऋचाओं में यही अभिप्राय अभिव्यक्त हुआ है। ऐसे स्थल सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्य और पूर्वी भाग से संबंधित माने जा सकते हैं, क्योंकि यहाँ पर अन्य (उत्तरी पर्वतीय भू-भागों के समान) इतना शीत नहीं होता था कि हिमकाल में भी वृक्षों पर पत्ते न रहें। इस सम्बन्ध मे महापंडित राहुल सांकृत्यायन[10] का विचार है कि सामान्यतः जाड़ों में वनो के पत्ते झड जाते थे। (हिमेवपर्णा मुषिता वनानि, ऋक्० १०/६८/१०), किन्तु सप्तसिन्धु के कम से कम मध्य और पूर्वी भागों में इतना जाड़ा नहीं होता था[11] कि

---

१. ऋग्वेद, १।११५।४,३, १/१२३/७, १५७/४, ५/८१/४।
२. ऋग्वेद, १,९५/३ पूर्वामिनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून्प्रशास·······।
३. ऋग्वेद, १।११५।१।
४. ऋग्वेद, १/११५/३, भद्रा अश्वा दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावा पृथिवी यन्ति सद्यः।
५. ऋग्वेद, १/१६४,११,४८।
६. ऋग्वेद, ४/३८/१०, ५/४५/१०, १०/२६/३, १३८/४, ५/५८/६।
७ ऋग्वेद, ७/३३/७, १०/२७/२३।
८. ऋग्वेद, २/६/५ स।
९. ऋग्वेद, ३/६१/७, ७/३६/१।
१०. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ४५।
११. ऋक्०, ७/६६/१६।

हिमकाल में वृक्षों पर पत्ते ही न रहे। शीत (जलवायु) प्रधान सप्तसैन्धव प्रदेश के इन्हीं भू-भागों में वर्ष के रूप में उल्लिखित शरद और हेमन्त[1] ऋतुओं के अतिरिक्त उष्णता के कारण वसन्त एवं ग्रीष्म[2] ऋतुएँ भी होती थी।

हार्रविटे और ऑस्टिन के विचार[3] से उत्तरी गोलार्द्ध के भू-प्रदेशों में प्राय जाड़े का तापमान ४६·५° फा० और गर्मी का तापमान ७२·३° फा० सामान्य रूप से रहता है। इसी आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्य एवं पूर्वी भाग के तापक्रम को उसके पुरातन स्वरूप के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है।

तापमान के अतिरिक्त पवनो और वृष्टि का जलवायु मे महत्त्वपूर्ण योग रहता है। मरुद्‌गणों के रूप में पवनों अथवा वायु[4] का प्रभाव एव स्वरूप व्यक्त करते हुए उनका वृष्टि आदि मे महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। मरुतों (पवनों) की वर्षणशील[5], गर्जनशील[6] आदि विशेषताओ के साथ उनकी विशेष ध्वनि, वर्ण को व्यक्त करते हुये मेघों के साथ उनकी गति का निरूपण किया गया है। 'तं क्षांणीभिररुणे-भिर्नाञ्जभी····वर्णं दाधरं सुपेशसम्[7]।'

मरुद्‌गण (पवनो) को गतिशील, मेघो का प्रेरक,[8] मेघो को छिन्न-भिन्न कर पृथ्वी पर जल-वृष्टि-कर्त्ता,[9] नदियो को परिपूर्ण करनेवाले,[10] मेघ के समान गर्जने वाले[11] आदि विविध रूपो मे वर्णित किया गया है। वायु को जल का मित्र[12] धूल

---

१. ऋक्०, १/६४/१४, २/१/११, २/३३/२, ५/५४/१५, ६/१०/७, ४८/८।
२ ऋक्०, १०/९०/६ वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः, १६१/४, ३/५६/३।
३. क्लाइमेटोलोजी, डा० हार्रविटे एण्ड ऑस्टिन, पृ० २६।
४ ऋग्वेद. ८/७/४।
५. ऋग्वेद, ८/२०/९,१९, ८/७/४, ५/५३/६, १/१६८/८।
६. ऋग्वेद, १०/६७/९ सिहमित नानदतं सधरस्थ······।
७ ऋग्वेद, २/३४/२।
८. ऋग्वेद, २/३४/१ धारावरा मरुतो धृष्णोजसो ·········धमन्तो अपगा अवृण्वत।
९. ऋग्वेद, १/१६८/६, ५/५४/८, १२।
१०. ऋग्वेद, ५/६१/१४ उदा वर्धन्तामभि०·······।
११ ऋग्वेद, ४/१०/४ स्तनयन्ति ···।
१२ ऋग्वेद, १०/१६८/३ अपां सखा प्रथमजा ऋतावा·······।

बिखेर कर[1] घोर गर्जन करते हुए चलने वाला कहा गया है। अतएव प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश की दक्षिणी (समुद्रतटीय) पट्टी २५°-२८° उत्तरी अक्षांशों में ऐसी धूलभरी तेज हवाएँ चला करती थीं और ग्रीष्म के अन्त में स्थानीय गर्मी और भाप के कारण ये तूफानी हवाएँ (प्रभंजन[2] या हरींकेन्स) विद्युत् चमकाती हुई घनघोर वर्षा करती थीं। पर्जन्य सूक्त में इसी प्रकार तूफानी वर्षा की चित्रात्मक वर्णना की गई है—

"प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत्,
उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।" (ऋक्० ५/८३/४)

ऋग्वेद के आधार पर ज्ञात होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के अधिक भागों में अधिक समय तक पर्याप्त वर्षा होती थी। पर्जन्य (मेघ) देवता को वृष्टिकारक[3], ओषधियों और पशुओं को प्रसव[4] करने वाला कहकर प्रजाओं के लिए कल्याणकारी होने की प्रार्थना[5] की गई है। तीन प्रकार के मेघों के साथ तीन प्रकार की वृष्टि का भी वर्णन किया गया है—

तिस्रो द्यावो त्रेधा ससूरापः। त्रयः कोशास उपसेचनासो[6]। (ऋक्० ७/१०१/४)

मेघों को संचारी एवं जलवर्षक रूपों में निरूपित कर अन्तरिक्ष में उनकी गर्जन-ध्वनि और वृष्टि[7] का मनोहारी चित्रण किया गया है। पर्जन्य सूक्त में सामान्यतया सप्त-सैन्धव प्रदेश की घनघोर वर्षा का बिम्बग्राही वर्णन है, जिसमें विद्युत् चमकने, घिरते-घुमड़ते बादलों[8] के गर्जने के साथ वर्षा से मरुस्थलों के भी भीगने का उल्लेख करते हुए वृष्टिशान्ति[9] की प्रार्थना की गई है। वर्षा की तीव्रता का ऋग्वेद में अन्यत्र[10] भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें अपारगति वाले जल का अन्तरिक्ष से नीचे गिरने (कि शत्रु भी इसे न देख सके) का तथ्य व्यक्त हुआ है—

१. ऋग्वेद, १०/१६८/१ एति पृथिव्या रेणुमस्यत् ..।
२. भौतिक भूगोल के तत्त्व, डॉ० मामोरिया, १९७२, पृ० ४८२।
३. ऋग्वेद, ७/१०१/३।
४. ऋग्वेद, ७/१०२/२ यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम्।
५. ऋग्वेद, ७/३५/१०, शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः।
६. ऋग्वेद, २/११/ ८।
७. ऋग्वेद, २/११/७, २/११/८।
८. ऋग्वेद, ५/८३/३ "रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्····।"
९. ऋग्वेद, ५/८३/१० "अवर्षीर्वर्षमुदुषू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा।
१०. ऋग्वेद, ४/५८/५, ५/८३/८ "महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च।

"एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे" (ऋग्वेद ४/५८/५)।

उपर्युक्त वृष्टि सम्बन्धी सन्दर्भों के आधार पर सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश पुरातन समुद्री-स्थिति के कारण अधिकांश मध्य-पूर्वी भागों में आर्द्रता, मेघाच्छन्नता तथा घनघोर वर्षा से प्रभावित रहता था। इस सम्बन्ध में डॉ० ए० सी० दास का निम्नलिखित मत तथ्ययुक्त कहा जा सकता है —

"We find evidences in the Rigveda of heavy showers of rain-falling in Sapta-Sindhu during the Rainy-Season, which lasted for three or four mouths covering the sky all the time with a thick pall of sombre clouds, behind which the sun and the dawn remained hidden, making the day look like night. The rivers were in high flood, and the skil water covered an extensive area."[1]

स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द[2] तथा पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[3] ने इस सम्बन्ध में तिलक के भ्रान्त मत की अपेक्षा डॉ० दास के उपर्युक्त मत को समर्थित किया है। इसके आधार पर तथा ऋग्वेद के वृष्टि संबंधी उपर्युक्त सन्दर्भों का दृष्टि में रखते हुए सप्त-सैन्धव के दक्षिणी-पूर्वी भाग को सरस्वती-दृषद्वती के मध्यवर्ती भाग को ८० इंच से अधिक वर्षा का क्षेत्र तथा मध्य भाग (वर्तमान अम्बाला के आस-पास) को ८० इंच से कम किन्तु ६० इंच से अधिक वर्षा का क्षेत्र माना जा सकता है। इस दृष्टि से आर० के० मुकर्जी[4] तथा कीथ महोदय का विचार तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी, मध्य तथा पूर्वी भागों की उष्ण जलवायु से सम्बन्धित तापमान एवं वर्षा के उपरि-निरूपण से यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ के अन्य अवशिष्ट भूभाग में ऐसी ही उष्ण जलवायु होगी। ऋग्वेद के अतिरिक्त जेन्द-अवेस्ता के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश में वर्ष के अधिकांश भागों में (उत्तरी उ०प० भूभागों में) शीत बना रहता था, जिसके कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रमुख ऋतु के अनुसार वर्ष को शरद और हेमन्त (हिम) अभि-

---

१. ऋग्वैदिक इंडिया, वॉल्यूम प्रथम, १९२१, कलकत्ता, पेज १४।
२. आर्यों का आदि देश, स० २००१ वि०, इलाहाबाद, पृ० १६३।
३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० ७०।
४. हिन्दू-सभ्यता, अनु० डॉ० वा० श० अग्रवाल, १९६६, दिल्ली, पृ० ८६, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृ० ७९।

धान[1] प्रदान किया गया है। वर्ष को 'हिम' शब्द से व्यवहृत करने से उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश में सामान्यतः शीत जलवायु[2] अथवा मृदु जलवायु का होना सिद्ध होता है, किन्तु आस-पास के समुद्रों के विलुप्त हो जाने से अब जलवायु में बड़ा अन्तर हो गया है।

ऋग्वेद के अनुसार यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश (उत्तरी, उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भागों) में इतनी भयंकर शीत होती थी कि जाड़ों में हिम से वनों के पत्ते[3] झड़ जाते थे और शीत से बचने के लिए गायों को उष्ण[4] गोष्ठ में ले जाया जाता था। पारसियों के धर्म-ग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता के द्वारा भी यह तथ्य पुष्ट होता है कि 'हफ्तहेन्दु' (सप्तसिन्धु) का मौसम पहले शीतल और आनन्ददायक था, किन्तु दुष्ट ऐंग्रमैन्यु ने उसे उष्ण कर दिया।

सप्तसैन्धव प्रदेश के शीत जलवायु की पुष्टि श्री मैडलिकाट[5] (Medlicott) के मत से भी होती है, जिसके अनुसार प्राचीन काल में भारत में गर्मी बहुत कम होती थी, ऐसा आभास मिलता है।

इस तथ्य का समर्थन श्री एच० एफ० ब्लैनफोर्ड[6] द्वारा भी किया गया है। अन्य विद्वानों[7] द्वारा भी इसी प्रकार के तथ्य का युक्तिसंगत अनुमान किया गया है। यद्यपि उस समय समुद्रों से अधिक मात्रा में भाप उठा करती थी, जो सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग में वर्षा करती हुई उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी पर्वती भाग में हिमालय

---

१. हेमन्त ऋतु से वर्ष को 'हिम' नाम से व्यक्त किया गया है। द्रष्टव्य—ऋग्वेद ६/४/८, २४/१० मदेम शतहिमाः सुवीराः। ६/४८/८। ऋक्० ६/१०/७, १२/६, २/३३/२ शतं हिमा अशीय भेषजेभिः। ऋक्० २/१/११ आदि। ऋग्वेद (द्वितीय खण्ड), पं० श्रीराम शर्मा, ८८५, ६२५ शतं हिमा = सौ (हेमन्त) वर्ष।

२. पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १६६७, पृ० ७०।

३. ऋग्वेद, १०/६८/१०, "हिमेव पर्णा मुषिता वनानि।"

४. ऋग्वेद, १०/४/२ यं त्वा जनासो अभिसंचरन्ति गाव उष्णमिव-व्रज यविष्ठ।

५. मैनुएल आफ द ज्योलोजी आफ इंडिया (प्रिफेस), पे० २१।

६. क्वार्टर्ली जर्नल आफ द ज्योलोजिकल सोसाइटी, वा० ३१, १८७५, पेज ५३४, ५४०।

७. वाडिया, ज्योलोजी आफ इंडिया, १६१६, पेज ५। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वा० द्वितीय (नवाँ एडी०), पे० ६८।

के शिखरों और घाटियों में हिम के रूप में गिरती थी[1]। इससे सप्तसैन्धव प्रदेश का अधिकांश भाग शीत जलवायुयुक्त रहता था जो गौरवर्ण की आर्यजाति को सर्वोत्तम-स्वास्थ्य प्रदान करता था। हण्टिंगटन[2] प्रभृति भूगोलवेत्ताओं ने गोरी जातियों के लिए अनुकूलतम तापमान दिन-रात में औसतन १७·८८° (६४° फा०) निर्धारित किया है, जबकि डा० एस० डी० कौशिक[3] ने शीतकाल के सबसे ठण्डे महीने का तापमान ६° सी (४३° फा०) और ग्रीष्म काल के सबसे गर्म महीने का तापमान २५° सी (७७° फा०) मानव उन्नति और स्वास्थ्य के लिए माना है।

समीक्षा—सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु ऋग्वेद (६/४/८, २४/१०, ४८/८, २/३२/२) के आधार पर सामान्यतः शीत-प्रधान थी, किन्तु कालान्तर में राजपूताना क्षेत्र के समुद्र गर्भ से बाहर आ जाने के कारण और अनेक नदियों द्वारा लायी गई मिट्टी से सम्बन्धित समुद्र के पट जाने से प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश की यह शीत जलवायु परिवर्तित होकर उष्ण हो गयी। इस सम्बन्ध में प्रो० एस० एम० अली,[4] डा० ए० सी० दास,[5] डा० सम्पूर्णानंद,[6] पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[7] आदि विद्वानों का दृष्टिकोण तथ्ययुक्त कहा जा सकता है। सप्तसैन्धव के भौमिक-स्वरूप के साथ ही उसकी समुद्री सीमाओं के कारण इस प्रकार की सम-शीतोष्ण जलवायु ऋग्वेद काल में थी, किन्तु स्थल के स्वरूप और सीमाओं में बाद मे परिवर्तन हो जाने से जलवायु भी परिवर्तित हो गयी। परिणामतः प्राचीन काल जैसी शीत प्रधान जलवायु इस क्षेत्र की न होकर

१. वाडियाज ज्योलोजी आफ इंडिया, १९१९, पे० १५, १६, २४५।
२. ह्यूमैन ज्याग्राफी, हण्टिंगटन ऐण्ड शा, १९५६, पे० ४०४-४०५।
३. ह्यूमैन ज्याग्राफी, थर्ड एडीशन, मेरठ, पे० ३३६।
४. "The phenomenon of rain fall and its causes, types of clouds and climates regions are directly or indirectly mentioned in the Rigveda and other samhitas."
(द ज्याग्राफी आफ द पुराणाज, १९६६, पेज १७-१८)
५. डा० ए० सी० दास—"The climate of Sapta Sindhu had originally been cold when in a later age was changed into temperate and hot in consequence of the Rajputana sea.
(ऋग्वैदिक इंडिया, वा० प्रथम, पेज ५६०)
६. आर्यों का आदि देश, सं० २००१ विक्रमीय, इलाहाबाद, पृ० १९२।
७. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० ७१।

उष्ण हो गई है, साथ ही जाड़ों और गर्मियों के तापमान में भी अब बहुत अन्तर दृष्टि-गत होता है जो विषम जलवायु का ही एक रूप है।

ऋतुएं—सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु के सन्दर्भ में उसकी ऋतुएं भी स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं, तथापि उनके स्वरूप और प्रभाव का पृथक् विवेचन करना भी आवश्यक हो जाता है। ऋतुओं का अधिष्ठाता सूर्य[1] है, जिसकी तापाग्नि से पृथ्वी के प्राणियों के निमित्त ऋतु-विभाजन होता है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों[2] पर ऋतुओं का उल्लेख हुआ है, जिससे उनके स्वरूप और प्रभाव का ज्ञान होता है। प्रायः वर्ष के अन्तर्गत तीन ऋतुएं[3] मानी गई हैं, किन्तु उनके नाम सामान्यतया निश्चित नहीं किये गये हैं। ग्रीष्म और शीत दो ऋतुओं का वर्ष मे विभाजन ऋग्वेद में स्पष्टतया नहीं मिलता। अथर्ववेद (८-९-१७) में वर्ष का छः-छः महीनों का दो विभाजन मात्र औप-चारिक है, ऋतु रूपों में प्रचलित एवं स्वीकार्य नहीं है।

ऋग्वेद के एक स्थल पर (१०/९०/६ वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः) वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु का (उल्लेख) है, जबकि १०/१६१/४ (शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतम, वसन्तान्) में शरद, हेमन्त और वसन्त का उल्लेख हुआ है। प्रायः समस्त वैदिक[4] साहित्य वर्षा (प्रावृष्) ऋतु, तथा शीत ऋतु (हेमन्त, हिमा) से भी परिचित ज्ञात होता है। अतएव प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रधान तीन ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) का विभाजन अधिक संगत प्रतीत होता है।

कालान्तर में ऋतु-विभाजन में ऋतु-प्रभाव को दृष्टि में रखकर विकास हुआ और ऋतुओं की संख्या पांच से छः (षड्) तक पहुँच गई। वैदिक विद्वानों ने ऋग्वेद की अग्रलिखित ऋचा में इन ऋतुओं का स्पष्ट संकेत स्वीकार किया है—

१. ऋग्वेद, १ ९५/३ पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून्प्रशासत, २/३८/४ उत्संहायास्थाद्य-तूर ररमतिः सविता देव आवाप्त।
२. ऋग्वेद १/१५/२, १५/४, २/३७/१,२,३, ३/२०/४ (ऋतुपा ऋतापा), ९/६६/३।
३ ऋग्वेद, ५/४७/४ त्रिधातव परमा अ गातो, ७/१०/२ स त्रिधात, १/१६४/२ त्रिनाभि, ४८ त्रीणिनभ्यानि।
४. ऋक्०, २/३३/२, ५/८३/४, ६/४/८, १०/७,१२/६, २४/१० आदि। अथर्व० ८/२/२२, ९/१५,१३/१/१८, तैत्ति० सं० १/६/२,३ आदि। मैत्रा० सं० १/७/३, ३/४,८, काठक सं० ४/१४, ९/१६, वाजस० सं० १०/१०,१४, शत० ब्रा० १/३,५/११, ६/२/२/३।

"पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षडरे आहुरर्पितम् ॥"[1]

यहाँ 'पंचपादं' तथा 'षडरे' में क्रमशः १० तथा १२ महीने का वर्ष मानकर ५ तथा ६ ऋतुएँ मानी गई हैं । ऋग्वेद के आधार पर सामान्यतया सम्वत्सर में वसन्तादि षट्[2] ऋतुएं ही ग्रहण की जा सकती हैं । इस प्रकार वर्ष में दो-दो महीनों की छः ऋतुओं के विभाजन का समर्थन परवर्ती वैदिक[3] साहित्य में भी प्राप्त होता—"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा । ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः·········।"

यहाँ वसन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा को देव ऋतु तथा शरद् को हेमन्त एवं शिशिर को पितृ ऋतु कहा गया है । पाँच ऋतुओं के विभाजन में वर्षा और शरद् को एक ऋतु माना गया है,[4] और जहाँ छः ऋतुओं की कल्पना की गई है, वहाँ हेमन्त और शिशिर को पृथक् कर दिया गया है ।[5] एक और कृत्रिम विभाजन[6] में सात ऋतुएँ मानी गई हैं, जिसमें संभवतः मलमास को एक अतिरिक्त ऋतु माना गया है । पाश्चात्य[7] विद्वानों की यही धारणा है, किन्तु राथ[8] के मतानुसार सात की संख्या के साथ पूर्वानुराग होने के कारण यह विभाजन हुआ है जो तर्कसंगत नही कहा जा सकता है ।

यद्यपि षड्-ऋतुओं का विकसित-विभाजन वैदिक-साहित्य में उल्लिखित हुआ है, तथापि (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) तीन प्रधान ऋतुओं के स्वभाव और प्रभाव का ही हमें स्पष्ट ज्ञान[9] होता है । सप्तसैन्धव प्रदेश के पशु-पक्षी और मानव-जीवन के अतिरिक्त प्राकृतिक वनस्पति पर इन ऋतुओं के प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है । प्राणिवर्ग को ग्रीष्म के प्रचण्ड सूर्य के असह्य ताप को शान्त एवं सुखद होने की कामना (ऋक्० ७/३५/८), वर्षा ऋतु में वनस्पति (औषधियों) एवं पशुओं का

---

१. ऋक्०, १/१६४/१२ ।
२. ऋक्०, ३/५६/२ षड् भारा एको अचरत्बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप जाव आगुः । १/२३/१५ उतो स मह्यमिन्दुभिःषड्युक्ता अनुसेषिधत् । गोभिर्यवं न चर्कृषत् ।
३. शत० ब्रा०, २/१/३/१ ।
४. शत० ब्रा०, १३/६/१/१०-११ ।
५. अथर्व०, ६/५५/२, १२/१/३६, तैत्ति० सं० ५/१/५/२, ७/३, मैत्रा० सं० १/७/३ ।
६. ऋक्०, १/१६४/१, १५, अथर्व० ६/६१/२, ८/६/१८, शतपथ ब्राह्मण, ८/५/१/१५ ।
७. बेवर-इण्डिशे स्टूडियन १८,४४, त्सिमर-आल्टिण्डिशे, लेबेन ३७४ ।
८. सेंट पीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०-'ऋतु' तुलनीय हॉपकिन्स-रिलीजन्स ऑफ इंडिया, १८, ३३ ।
९. ऋक्० ३/५६/३ ।

प्रसव होना (ऋक्० ७/१०२/२) भयंकर शीत ऋतु में वनों के पत्तों का नष्ट होना (ऋक्० १०/६८/१० तथा गायों को शीत से बचने के लिए गर्म गोष्ठ में ले जाना (ऋक्० १०/४/२) आदि तथ्य ऋतुओं के प्रभाव के ही परिचायक हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश की इन ऋतुओं का प्रभाव एवं घनिष्ठ सम्बन्ध कृषि पर परिलक्षित होता है। शरद् ऋतु के पूर्व अर्थात् वर्षा के प्रारंभ में सूर्य पृथिवी में अन्न गर्भ रूप[1] धारण करते है। वर्षा ऋतु[2] मे पर्जन्य (मेघ) अन्नों वाली पृथ्वी को पुष्ट करते हैं। शरद् ऋतु शस्य-संग्रह-काल होने के कारण सप्तसैन्धव प्रदेश की कृषक जाति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय माना जाता था। अतः पाश्चात्य[3] विद्वानों के मतानुसार शरद् ऋतु वर्ष के रूप मे अधिक प्रयुक्त हुई है।

प्रतीत होता है, वर्ष का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से और अवसान शीत (हेमन्त) ऋतु से होता था। हेमन्त अन्तिम ऋतु के रूप मे ऋग्वेद के परवर्ती वैदिक-साहित्य[4] मे उल्लिखित है। वर्षा ऋतु इन दोनो ऋतुओ के मध्य में सप्तसैन्धव प्रदेश को कम प्रभावित नही करती थी। तीन-चार महीने ८० इंच से अधिक अनवरत धारासार वृष्टि से सप्तसैन्धव प्रदेश की मध्य-पूर्व तथा दक्षिणी भाग की धरती तर हो जाती थी, जिसमे मरुस्थल[5] भी नही बच पाते थे। कही-कही इन भू-भागों मे बाढ़[6] भी वर्षा ऋतु मे आ जाती थी जिससे सप्तसैन्धव प्रदेश की नदियां जल से परिपूर्ण हो जाती थीं।[7]

इस प्रकार हम देखते है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की ऋतुओं की प्रकृति परिवर्तनशील[8] है तथा इनसे जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, मनुष्य, प्राकृतिक वनस्पति आदि सभी प्रभूत प्रभावित हुए है।

---

१. ऋक्० १/१७३/३ नक्षद्धोता परिसंध ....
२. ऋक्० ४/५७/८ शुनःपर्जन्योमधुना पयोभिः ८/२१/८ पर्जन्य इव तत नद्धि वृष्ट्या।
३. हापकिन्स, अमेरिकन जर्नल आफ फिलोलोजी, १५,१५८,१६०, वेबर-इण्डिसे स्टूडियन १७,२३२।
४. शतपथ ब्राह्मण,१/५/३/१३।
५. ऋक्०, ५/८३/१० अवर्षीवर्षमुदुषू० ।
६. ऋक्०, १/३३/११, १३, १५।
७. ऋक्०, ५/४१/१४।
८. ऋक्० ,१/७३/२।

ऋग्वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित करनेवाली जलवायु की दशाएँ

वस्तुतः किसी देश की सभ्यता एवं संस्कृति के उद्भव तथा विकास में वहाँ की जलवायु विशेष प्रभावी रहती है, इसे सभी भूगोलवेत्ता[1] भी स्वीकार करते हैं। विश्व की अशेष पुरातन सभ्यता तथा संस्कृतियों में ऋग्वैदिक सभ्यता और संस्कृति मूर्धन्य मानी जाती है। सप्तसैन्धव प्रदेश में इसके उद्भव तथा विकास को प्रभावित करनेवाली जलवायु की प्रमुख दशाएँ संक्षेप में अधोलिखित हैं—

किसी भी सभ्यता के अन्तर्गत मानवीय आवश्यक आवश्यकताएँ (भोजन, वस्त्र और आवास) आधारभूत अंग होती हैं। जलवायु की दशाओं (तापक्रम, आर्द्रता आदि का वहाँ के मानवों की इन मूलभूत प्राथमिक अपरिहार्य आवश्यकताओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता ही है। सप्तसैन्धव प्रदेश की सभ्यता एवं संस्कृति की समुत्पत्ति में तापक्रम आर्द्रता के ऋतु रूप से असमान वितरण ने वहाँ के मानवों के भोजन, वस्त्र एवं आवास को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। उदाहरणार्थ, सप्तसैन्धव प्रदेश के उ० प० के ऊँचे हिमाच्छादित पर्वतीय भागों में अत्यधिक शीत होने से मध्य तथा द० पू० भाग की अपेक्षा खान-पान, वस्त्र और आवास स्वरूप में पर्याप्त वैषम्य दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों[2] से इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है।

आर्द्रता एवं वृष्टि जैसी जलवायु की अवस्थाएँ किसी क्षेत्र की सभ्यता की मेरुदण्डस्वरूपिणी आर्थिक दशा को अत्यन्त प्रभावित करती हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तर्गत कहीं-कहीं अनुकूल आर्द्रता और वृष्टि[3], कही पर अनावृष्टि और

---

१. "It (climate) is a potent factor in beginnin g and in the construction of civilization, so far, as this goes hand in hand with economic development". (Km. Semple), Influence of Geog. Enviroment Civilization Is the product of moderate climatic adversity" (Russill Smith).

२. ऋग्वेद, १/१६२/१२,१३, ५/२६/८/, ६/१७/११ (मांस-भक्षण), ३/५२/७, ८/८०/२ (अन्न भक्षण), ८/४८/३ (सोमपान), ३/८/४ (वस्त्र), १०/२६/६ (ऊनी वस्त्र), ६/४६/६, ६७/२, ३/५३/६, ४/४६/६ (आवास-गृह), ४/३०/२०, २/१४/६ (पुर = प्रस्तर दुर्ग)।

३. ऋग्वेद, ५/८३/४, २/११/७,८, ४/५८/५, ७/३३/७।

शुष्कता[1] के कारण विषम आर्थिक स्थिति होने से मानव रहन-सहन तथा प्रवृत्तियों में भी पर्याप्त विषमता दृष्टिगत होती है। सामान्यतया सप्तसैन्धव प्रदेश की समशीतोष्ण जलवायु होने से कृषि, पशुपालन आदि उद्योग-धन्धों[2] से सम्पन्नता पाकर यहाँ की सभ्यता पुष्पित एवं पल्लवित हो सकी है। सभ्यता की भौतिक समुन्नति में प्रत्यक्षतः सिन्धु नदी के आस-पास शीत जलवायु के कारण ही वहाँ का आलस्यहीन मानव कर्म में सतत प्रवृत्त हुआ और उसने उद्योग-धन्धों से ही आर्थिक अभ्युदय को अधिगत किया।

पर्याप्त वृष्टि, सम तापक्रम, अनुकूल पवन जैसी सुरम्य जलवायु की अवस्थाएँ प्राप्त करके ही सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव ने शारीरिक एवं मानसिक रूप में स्वस्थ रहकर अपनी असीम मानसिक कार्य-क्षमता से अनुपमेय एवं अमर ऋग्वैदिक संस्कृति को जन्म दिया। जलवायु के प्रमुख कारक (मित्र, इन्द्र, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि प्रमुख दैवी शक्तियाँ) ही उनकी उपासना एवं उत्कृष्ट जीवन-पद्धति के विषय बन गये। धर्म, दर्शन, राजनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद, ज्ञान-विज्ञान आदि सुविकसित सांस्कृतिक उपादानों पर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु की इन दशाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में ऋग्वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति की उत्पत्ति तथा विकास को वहाँ की सुरम्य समशीतोष्ण जलवायु ने पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। यदि इस प्रकार की वैविध्यपूर्ण सुन्दर शीतोष्ण जलवायु यहाँ की संस्कृति-सभ्यता के आधारभूत कारक मानव को न सुलभ होती तो शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के अभाव में अकर्मण्य आर्य अशतायु रहकर कैसे इस महान् सभ्यता एवं संस्कृति को जन्म दे पाते।

प्राकृतिक वनस्पति—किसी भी प्रदेश की प्राकृतिक वनस्पति वहाँ के जलवायु पर निर्भर रहती है। जिस प्रदेश में जिस प्रकार की जलवायु पाई जाती है उसी प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति भी वहाँ पाई जाती है।[3] जिस प्रकार हम जलवायु में भिन्नता पाते है उसी प्रकार प्राकृतिक वनस्पति मे भी। अर्थात् यदि हम किसी क्षेत्र के जलवायु विभाग करेंगे तो तदनुसार उसके प्राकृतिक वनस्पति विभाग भी होंगे। सप्तसैन्धव प्रदेश की स्थल-संरचना तथा जलवायु के अध्ययन के आधार पर हम वहाँ की प्राकृतिक

१. ऋग्वेद, ४/१९/७, ९/७३/३।
२. ऋग्वेद, ४/५७/८, ८/२२/६ (कृषि), ३/५४/१५, ४/३२/१८, ६/५८/२ (पशु-पालन), ३/४५/१, ४/२०/३० (आखेट), ८/५५/३, ५/३८ (चर्मोद्योग), १०/२६/६, ६/९/२,३ (वस्त्रोद्योग), ६/३/४, ८/४७/१५ (स्वर्णादि धातूद्योग)।
३. एशिया का भूगोल, के० पी० कुलश्रेष्ठ, १९५५, पृ० ६८।

वनस्पति का अनुमान लगा सकते है; क्योंकि ऋग्वेद में स्व० डॉ० एस० एम० अली[1] के विचार से प्राकृतिक वनस्पति को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है।

इस जलवायु[2] तथा भौमिक[3] रचना के तथ्य को ध्यान में रखते हुए सप्त-सैन्धव प्रदेश की क्षेत्रीय प्राकृतिक वनस्पति को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

अ. स्थलीय प्राकृतिक वनस्पति—

१. सर्वाधिक वर्षा प्राप्त सदाबहार मानसूनी वन, दक्षिणी-पूर्वी सप्तसैन्धव प्रदेश के सागर-तटीय वन।

२. मध्यम वर्षा प्राप्त पतझडवाले मानसूनी वन, सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्यवर्ती मैदानी भाग के वन।

३ कम वर्षा प्राप्त लम्बी घास तथा झाड़ियांवाले क्षेत्र, उत्तरी-पश्चिमी मैदानी तथा नदियों एवं पर्वतीय घाटियों के क्षेत्र।

४. पर्वतीय तथा अ-वर्षायुक्त प्राकृतिक वनस्पति --उत्तर में हिमवन्त मूजवन्त पर्वतों तथा दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र की प्राकृतिक वनस्पति।

ब. जलीय प्राकृतिक वनस्पति—

स्थल के जलीय भागों, सरोवरों, नदियों आदि से संबंधित है।

उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त ऋग्वैदिक प्राकृतिक वनस्पति को उसके स्वरूप (आकार-प्रकार) के आधार पर डॉ० एस० एम० अली[4] ने तीन वर्गों (वृक्ष, ओषधि अथवा लताएँ तथा तृण) में विभाजित किया है जिसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्ण तथ्यसंगत कहा जा सकता है—

"A classification of natural vegetation into वृक्ष (trees), ओषधि or वीरुध (Shrubs) and तृण (grass) and characteristcs of difi-rent plants in each group are provided in the Rigveda (10·97)."

---

१. "इन द ऋग्वेद मौस्ट ऑफ ऑल दी इम्पोर्टेंस ऐपियर्स टु हैव बीन ऐटैच्ड टु नेचुरल वेजीटेशन (फलोरा) ऐण्ड फाउना........" द ज्याग्राफी आफ द पुराणाज', डॉ० एस० एम० अली, न्यू देलही, १९६६, पे० १९।

२. दूसरे रूप में इसे वातावरण के विभिन्न कारक (इन्वायरेनमेन्टल फैक्टर्स) कह सकते हैं, जिसमें धूप, वर्षा, ऋतु, पाला, पवन आदि प्रमुख हैं।

३. भूमि के खनिज तत्त्व अथवा मिट्टी की रचना भी वनस्पति की सघनता को प्रभावित करती है। (डॉ० कौशिक, मानव भूगोल, पृ० ३५२)

४. द ज्याग्राफी आफ़ द पुराणाज, १९६६, न्यू देलही, पृ० १९।

ऋग्वेद में उल्लिखित सप्तसैन्धव प्रदेश की प्राकृतिक वनस्पति की उपर्युक्त क्षेत्रीय तथा स्वरूपगत विभाजन के आधार पर यहाँ विवेचना की जा रही है।

स्थलीय प्राकृतिक वनस्पति

ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों[१] से ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश वनों से आपूरित था। इन वनों में सप्तसैन्धव प्रदेश का मध्य भाग, जिसमें ४० इंच से ८० इंच तक वार्षिक मध्यम वर्षा होती थी, प्रायः पतझड़वाले मानसूनी वनों का बाहुल्य था। पतझड़ होने पर इनकी सघनता समाप्त हो जाती थी और क्षीणता[२] दिखाई देने लगती थी।

ग्रीष्म ऋतु में तेज हवाओं से कभी-कभी भयंकर दावाग्नि[3] इन वनों में लग जाती थी और वन जलकर राख हो जाते थे। सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्य अथवा ऋषि-मुनि स्वयं जंगल जलाते थे—यही श्री माथुर[४] की धारणा नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। ऐस दावाग्नि से जले हुए स्थलों में वृष्टि होने पर शाखाओं वाली लम्बी दूब[५] अथवा जलीय वनस्पति व्यल्कशा उत्पन्न हो जाती थी।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी (समुद्रतटीय) भू-भाग में ८० इंच से अधिक वर्षा होने के कारण प्रतीत होता है कि सदाबहार मानसूनी वन पाये जाते थे जिनमें प्रायः ऊँचे और कड़ी लकड़ी वाले वृक्ष होते थे। निम्नक्षेत्रीय[६] इन वनों में हाथी[७] घूमा करते थे तथा उनकी वनस्पति का भक्षण[८] किया करते थे। आज भी ८०° पू०दे० के आस-पास हिमालय की तराई के निम्नक्षेत्रीय वनों में मलाया

---

१. ऋग्वेद, १/६४/७, ७०/२, ५, १/५८/५, ६५/४, २/१/१, ३/१/१३, ६/७, २३/१, ७/७/२, ८/१२/९, ९/८८/५, १०/३१/९। अद्भुत भारत, ए० एल० वाशम, अनुवादक बी० सी० पाण्डेय, आगरा, १९६७, पृ० १३।

२. ऋक्० ८/१/१३ "वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो:....।"

३. ऋग्वेद, १/५८/५, ६५/५, ४, ७/७/२, ९/८८/५, १०/३१/९।

४. पहला राजा, जगदीश चन्द्र माथुर, १९७१, दिल्ली, पृ० १०९।

५. ऋक्० १०/१६/१३—कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा।

६. अद्भुत भारत, ए० एल० वाशम, अनु० बी० सी० पाण्डेय, १९६७, पृ० १३। The cambvidge History of india, E. j. Rapson, Vol. I, 1962. Delhi P. 73.

७. ऋग्वेद, १/६४/७ मृगा इव हस्तिनः खादथाः वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्।

८. अद्भुत भारत, पृ० १३।

तथा जावा (हिन्देशिया) आदि देशों के सदाबहार वनों में हाथी पाये जाते हैं। निरंतर सघन मेघ-वृष्टि से इन वनों की वनस्पतियाँ बढ़ती रहती थीं[1] और इन्हें सघन बनाती थीं।

मानवोपयोगी फूल-फलयुक्त वनस्पतियों (वृक्षों) आदि का भी अनेक स्थलों[2] पर उल्लेख हुआ है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भू-भाग में प्रतीत होता है कि अल्प वर्षा होते हुए भी झाड़ियों, बेलों आदि के अतिरिक्त मुलायम लकड़ी के वृक्षों वाले वन[3] पर्वतों की केश-राशि जैसे पाये जाते थे। ऋग्वेद[4] में सामान्यतया सोमोत्पत्ति के साथ ही पर्वतों पर वृक्षों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भू-भागों में अधिक ऊँचाई होने के कारण शीत ऋतु में पाला तथा हिम गिरने के कारण पर्वतीय वनों के वृक्षों की पत्तियाँ नष्ट हो जाती थीं,[5] किन्तु पुनः वर्षा से जल-रहित (मरुस्थल)[6] जैसे स्थानों में भी वनस्पतियाँ (ओषधियाँ) वृद्धि को प्राप्त[7] होती रहती थीं। इनमें झरबेरी के अतिरिक्त ककड़ी या खरबूजे[8] का पौधा उर्वारु (उर्वारुक)[9] उल्लेखनीय है। पर्याप्त पुष्पित[10] लतायें भी वनों में फैलती थी।

उपर्युक्त सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के विविध क्षेत्रों के वनों की प्राकृतिक वनस्पति का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. ऋग्वेद, ३/५७/६, ५/८३/४।
२. ऋग्वेद, २/१३/६—यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ।
   ऋग्वेद, २/१३/७ यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च ···।
३. ऋग्वेद, ८/७९/४—रुरुहुः सानवि क्षिपः अद्रयस्ता · ।८/६२/४, ६३/२७।
४. ऋग्वेद, ५/४१/११ यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः।
५. ऋग्वेद, १०/६८/१०—हिमेव पर्णा मुषिता वनानि।
६. ऋक्०, ४/३३/७ धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापाः।
७. ऋग्वेद, ३/५/८ ·· सद्यो जात ओषधीभिर्ववक्षे।
८. ऋग्वेद, ७/५९/१२ त्र्यम्बकं····उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।
९. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ (उर्वारुक = ककड़ी या खरबूजा) द्वितीय सं०, पृ० १५८।
१०. ऋग्वेद, १/६७/५ वियो वीरुत्सु रोधन महित्वोत प्रजाउत ····।

१. वृक्ष

खदिर—ऋग्वेद[1] के अतिरिक्त अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य[2] में उल्लिखित हुआ है। मैकडानेल तथा कीथ[3] ने अथर्ववेद[4] के सन्दर्भ के आधार पर इसे एक "कड़ी लकड़ी वाले वृक्ष" (Acacia-Calectu) से अभिन्न माना है, किन्तु इसे लोक-भाषा में खैर कहना उचित जान पड़ता है। पं० रेउ[5] ने भी इसे खैर ही अभिहित किया है। अथर्ववेद[6] में अश्वत्थ को इस पर वृक्षान्तरित होकर उगने का तथा अथर्ववेद[7] में अरुन्धती नामक लता के आविर्भूत होने का उल्लेख है जो अ-सामान्य तथ्य है।

शिंशपा—खदिर के साथ इसका[8] ऋग्वेद के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक[9] साहित्य में उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद[10] में शांशप अभिधान भी पाया जाता है, जिसे ह्विटने[11] ने 'शिंशपा' से सम्बन्धित किया है। मैकडानेल एवं कीथ ने इसे सुन्दर तथा ऊँचा वृक्ष बताते हुए Dalbergia-Sisu से अभिन्न[12] माना है। शिंशपा[13] मानसूनी मैदानी क्षेत्र का सुपरिचित लोकोपयोगी वृक्ष है, जिसे शीशम से भिन्न नहीं कहा जा सकता है।

अश्वत्थ—अनेक स्थलों पर ऋग्वेद[14] में इस वृक्ष की लकड़ी से सोम-पात्र निर्मित किये जाने का तथा इसके मीठे 'गोंदों' फल (पिप्पल) खाये जाने का उल्लेख हुआ

---

१. ऋग्वेद, ३/५३/१६ ।
२. अथर्ववेद, ३/६/१, ५/५/५, ८/८/३, १०/६/६, मैत्रा० सं० ३/६/३ ।
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक रामकुमार राय, १६६२, पृ० २३७ ।
४. अथर्ववेद, १०/६/६ ।
५. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १६६७, दिल्ली, पृ० ६६ ।
६. अथर्ववेद, ३/६/१ ।
७. अथर्ववेद, ५/५/५ ।
८. ऋग्वेद, ३/५३/१८ ।
९. अथर्ववेद, २०/१२६/७ । तुलनीय ६/१२६/१ । शांशप ।
१०. अथर्ववेद, ६/१२६/१ ।
११. अथर्ववेद का अनुवाद, ह्विटने, ३७८ ।
१२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, १६६२, पृ० ४१८ ।
१३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ (शिंशपा = शीशम) इलाहाबाद, द्वितीय सं०, पृ० ११०७ ।
१४. ऋग्वेद, १०/१६४/२०, १/१६४ पिप्पल) २२ ।

है। सोम पात्र इससे बनने के कारण सोम से इसे घनिष्ठ सम्बन्धित माना गया है।[१] ऋग्वेद की परवर्ती संहिताओं[२] में भी इस वृक्ष का प्रायः उल्लेख प्राप्त होता है। अग्नि उत्पन्न करने के लिए भी दो प्रयुक्त लकड़ियों (अरणि) में से ऊपरी अरणि इसी वृक्ष की होती थी तथा निचली लकड़ी शमी[३] की निर्मित होती थी। अथर्ववेद (३, ६) के अनुसार इसकी जड़ें खदिर आदि अन्य वृक्षों की शाखाओं से लिपट जाती थीं तथा उन्हें विनष्ट कर देती थीं, अतः इसे वनस्पति पिप्पल (पीपल), 'शिखण्डिन्' नामों के अतिरिक्त विनाशक (वैबाध) भी अभिहित किया गया है। सप्तसैन्धव प्रदेश के सर्वाधिक विशालकाय वृक्षों में इसकी गणना की जा सकती है। अश्वत्थ को लोकभाषा में पीपल और अंग्रेजी में Ficus-religiosa कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में डॉ० ए० सी० दास ने प्रो० मेक्डानेल के दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है –

"of the flora in ancient Sapta-Sindhu the अश्वत्थ was called the वनस्पति on account of its size and tallness. Prof. Macdonell has translated "Horse-stand" probably suggesting there by that the shade of the tree was used for stabling horses."[४]

शमी—ऋग्वेद[५] के अतिरिक्त अन्य परवर्ती वैदिक-साहित्य[६] में भी उल्लिखित हुआ है, जिसमें अग्न्युत्पादक निचली अरणि के रूप में इसकी लकड़ी प्रयुक्त होती थी। परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में इसका परम्परागत 'लता'[७] रूप में प्रयोग हुआ है, जिसे 'अग्निगर्भा'[८] कहा गया है। इसे सक्तुफलावृक्ष के अतिरिक्त लोकभाषा में 'जाटा' अथवा 'छोंकरा' भी कहा जाता है। इसकी लकड़ी कठोर तथा काँटेदार होती है।

१. ऋग्वेद, १/१३५/८ यमश्वत्थमुपतिष्ठन्ति····। ऋग्वेद, १०/९७/५।
२. अथर्ववेद, ३/६/१, ४/३७/४ (शिखण्डिन्)।
३. अथर्ववेद, ६/११/१, शतपथ ब्राह्मण ११/५/१/१३।
४. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० प्रथम, कलकत्ता, १९२१, पे० ८३।
५. ऋग्वेद, १०/३१/१०-११।
६. परवर्ती वैदिक साहित्य। अथर्व० ६/११/१, शतपथ ब्राह्मण ११/५/१/१३।
७. अभिज्ञान शाकुन्तलम्-१/१८, शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति। (पाठान्तर-समिल्लतां सेक्तुं)
८. वही, ४/६-अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव।

अरटु—इसका ऋग्वेद के अतिरिक्त परवर्ती संहिता[1] में उल्लेख हुआ है। इसकी लकड़ी से कभी-कभी रथ का धुरा बनाया जाता था।[2] डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ ने इसे 'कोलोसेन्थस' (colosanthes) से इसे अभिन्न माना है।[3] लोकभाषा में इसे 'अरू' कहा जाता है, जो आकार में सामान्य वृक्ष से कम नहीं होता है।

किंशुक—ऋग्वेद (१०/८५/२०) में विवाह सूक्त के अन्तर्गत वैवाहिक रथ को इसके पुष्पों से सजाने का उल्लेख किया गया है। विद्वान् भाष्यकार सायणाचार्य के मतानुसार रथ इसकी लकड़ी का बना होता था। इसे पलाश से सर्वथा अभिन्न मानना चाहिये, जो लोकभाषा में ढाक या ढाख कहा जाता है। डॉ० मैक्डॉनेल तथा कीथ ने इसे Butea-Frondosa से परिचित कराया है।[4] ऋग्वेद में पलाश का उल्लेख नहीं हुआ है।

पर्ण—ऋग्वेद (१०/९७/५) में यह वृक्ष अश्वत्थ के सन्दर्भ में तथा अथर्ववेद (५/५/५) में अश्वत्थ और न्यग्रोध (वट) के साथ उस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है, जहाँ इसकी लकड़ी से कवचों[5] एवं यज्ञ की तश्तरियों[6] के ढक्कनों का निर्मित होने का उल्लेख हुआ है। परवर्ती वैदिक-साहित्य में अन्य यज्ञीय उपकरण चमस (जुहू) यज्ञस्तम्भ[8] अथवा स्रुव[9] आदि इसी की लकड़ी से बनने का तथ्य व्यक्त हुआ है। इसकी छाल (पर्ण वल्क)[10] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। डॉ० मैक्डानेल और कीथ[11] ने इसे 'पलाश' से अभिन्न मानकर Butea-Frondosa वृक्ष का द्योतक माना है। प्रतीत होता है, पर्वतीय नदी-घाटियों का यह उपयोगी वृक्ष है, किन्तु सप्तपर्ण से सर्वथा भिन्न है। इसकी लकड़ी मुलायम होती है।

---

१. अथर्ववेद, २०/१३१/१७।
२. ऋग्वेद, ८/४६/२७।
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ३८।
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक राम कुमार राय, पृ० १७३।
५. अथर्ववेद, ३/५/४,८।
६. अथर्व० १८/४/५३।
७. तैत्ति० सं० ३/५/७/२, तुलनीय—मैत्रा० सं० ४/१/१।
८. पंचविंश ब्रा० २१/४/१३।
९. काठक सं० १५/२।
१०. तैत्ति० सं० २/५/३/५, तैत्ति० ब्रा० ३/७/४, २/१८।
११. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, १९६२, वाराणसी, पृ० ५७०।

शाल्मली—इस वृक्ष का ऋग्वेद (७/५०/३, १०/८५/२) में उल्लेख हुआ है। यह लोकभाषा में 'सेमल' अथवा 'सेमर' तथा अंग्रेजी में Salmalia-Malabarica नाम से व्यवहृत होता है। ऋग्वेद के अन्य स्थल (३/५३/२२) पर 'शिम्बल' शब्द भी प्रयोग हुआ है, जिसे भाष्यकार सायणाचार्य ने इसे 'शाल्मलि' अथवा 'शल्मलि' के पुष्प से अभिन्न स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में ओल्डेन बर्ग[1] का दृष्टिकोण भी द्रष्टव्य है। परवर्ती प्राचीन-संस्कृत-साहित्य[2] में प्रायः इस वृक्ष का उल्लेख हुआ है। यह वृक्ष अपनी विशालता एवं तुंगता के लिए विख्यात है तथा इसका (सेमर) पुष्प श्वेत रंग का होता है, जो अनायास छिन्न-भिन्न[3] हो जाता है। अन्य सन्दर्भ से ज्ञात होता है, शाल्मली वृक्ष विषाक्त[4] होता है, जिससे अन्य औषधियों के समान विष उत्पन्न किया जाता है।

विभीतक (विभीदक)—इस वृक्ष का उल्लेख ऋग्वेद (७/८६/६) तथा (१०/३४/१) में हुआ है। परवर्ती वैदिक साहित्य[5] से ज्ञात होता है, इसकी लकड़ी का यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए प्रयोग किया जाता था। इसके फलों के बीजों के जुए खेलने के पाँसे[6] बनते थे। यह एक विशालकाय वृक्ष है, जिसे लोकभाषा में 'बहेड़ा' (बहेरा) अथवा 'भेला' आदि अभिधानों से व्यवहृत किया जाता है। डॉ॰ मैक्डॉनेल एवं कीथ[7] के मतानुसार यह Terminalia-bellerica नामक बड़े वृक्ष का द्योतक है। इसकी उपयोगिता तथा महत्त्व औषधियों में आज भी अक्षुण्ण है।

स्वधिति—यह वृक्ष ऋग्वेद (५/३२/१०, ८/८६/६) में वनों के साथ लाक्षणिक

---

१. ऋग्वेद, नोटेन, १, २५४।

२. बाणभट्ट कृत कादम्बरी (कथामुखम्), शाल्मली तरुवर्णनम्।

३. ऋक्॰, ३/५३/२२……शिम्बलं चिद्धि वृश्चति।

४. ऋग्वेद, ७/५०/३, यच्छल्मली भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम्।

५. तैत्तिरीय संहिता, २/१,५, ८, ७/३।

६. ऋग्वेद, १०/३४/१…विभीदको जागृविमृह्यमच्छान्। (ऋग्वेद) (उ॰ स्था॰, द्रष्टव्य 'अक्ष')

७. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक रामकुमार राय, पृ॰ ३३८।

रूप में उल्लिखित[1] है। इसकी लकड़ी कड़ी[2] होती है तथा कुल्हाड़े[3] से ही इसका काटना संभव है। अतः इसी गुण से इसका यह नाम पड़ गया होगा। इस तथ्य का समर्थन डॉ० मैक्डानेल[4] और कीथ ने भी किया है। प्रतीत होता है, यह वृक्ष सप्त-सैन्धव प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी वनों में उत्पन्न होता था तथा कुल्हाड़ियों (स्वधितियों) से काटा जाने के कारण ही यह 'स्वधिति' कहलाता होगा।

वंश—यह भी अधिक वर्षा वाले द०पू० भूभाग के उष्ण वनों में होता था। इसकी बनी घर की छत में लगने वाली 'धरन' होती थी, इसी आशय में यह ऋग्वेद (१/१०/१) तथा परवर्ती संहिताओं (अथर्ववेद ३/१२/६, ९/३/४) में उल्लिखित है। लोकभाषा में इसे बाँस कहा जाता है, जो अपनी लम्बाई के लिये विख्यात है।

२. पौधे एवं गुल्म लताएँ

प्राकृतिक वनस्पति के सन्दर्भ में ऋग्वेद के अनेक स्थलों में फूली-फली अनेक गुल्म-लताओं[5] तथा पौधों का उल्लेख हुआ है, जिसमें निम्नलिखित विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

व्यल्कशा—इस पौधे का ऋग्वेद (१०/१६/१३) में[6] उल्लेख हुआ है, जो जले हुए स्थान में उत्पन्न होता था। प्रतीत होता है, यह अधिक वर्षा होने पर दूब के पवित्र पौधे के समान ही लम्बी टहनियों सहित स्थल पर उगता था। अतः इसे जलीय वनस्पति के अन्तर्गत नहीं ग्रहण किया जाना चाहिए।

उर्वारु (उर्वारुक)—सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी वन्य फलों में उर्वारुक का उल्लेख ऋग्वेद (७/५९/१२) के अतिरिक्त अन्य परवर्ती वैदिक[7] साहित्य में हुआ है। डॉ० मैक्डॉनेल तथा कीथ[8] ने इस पौधे की साम्य-सम्भावना **ककड़ी** (cucumber)

---

१. तुलनीय, ऋग्वेद १/८८/२, ९/९६/६ ब्रह्मा देवानां······श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां।
२. सेण्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० १२५६।
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ५४५।
५. ऋग्वेद, १/६७/५ वि यो वीरुत्सु रोधन् महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्तः।
६. ऋग्वेद, १०/१६/१३—"कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा।" तुलनीय—त्सिमर का दृष्टिकोण—आल्टिंडिशे लेबेन, ७०।
७. अथर्व०, १४/१/१७, उर्वारु—अथर्व० ६/१४/२, मैत्रा० सं० १/१०/४।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनु० रामकुमार राय, पृष्ठ ११३।

अथवा बेर से की है, किन्तु दोनों के स्वरूप में बहुत अन्तर है। इसे बेर की अपेक्षा ककड़ी अथवा खरबूजा ही मानना उचित प्रतीत होता है। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[१] ने इसे ककड़ी से परिचित कराया है, जबकि महापंडित राहुल सांकृत्यायन[२] ने मैक्डॉनेल के मत के आधार पर इसे बेर माना है, जो तथ्यपूर्ण[3] नहीं है।

प्रतति—ऋग्वेद (८/२०/६) में एक विशिष्ट लता अथवा ऊपर 'चढ़नेवाले पौधे' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यास्काचार्य[४] ने इससे सामान्यतया लता का अभिप्राय ग्रहण किया है। अब भी यह सामान्य रूप से लता के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

सोम—यह उस प्रसिद्ध पौधे का नाम है, जिसका वैदिक यज्ञों के समय समर्पित सोमहवि को निर्मित करने के लिए प्रयोग होता था। ऋग्वेद का समस्त नवम् मण्डल तथा अन्य मंडलों के छः सूक्तों में इसकी प्रशस्ति की गई है। इस पौधे की टहनियों को बभ्रु[५] (भूरा), अरुण[६] (लाल) अथवा हरि[७] (हरा) कहा गया है। यदि इसकी नैचाशाख (ऋग्वेद ३/५३/१४) उपाधि तथ्ययुक्त है, जैसा कि हिलेब्रांट[८] का मत है, तो इसकी टहनियाँ नीचे की ओर लटकती होंगी। इसके अकुर को अंशु[९], जबकि समस्त पौधे को अन्धस्[१०] भी कहा गया है, जो इसके रस[११] का द्योतक है। इसके तने को 'पर्वन्'[१२] कहा गया है, जो गोल न होकर कोणवत्[१३] होता था यह

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० १०० ।
२. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, परिशिष्ट-३, पृ० ५९३ ।
३ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० १२८ (उर्वारुक = ककड़ी या खरबूजा ।)
४. निरुक्त, १/१४, ६/२८ ।
५. ऋग्वेद, ७/९८/१, १०/९४/३, १४४/५ ।
६. ऋग्वेद, ९/९२/१ ।
७. ऋग्वेद, ९/४२/१—"वसानो गा···हरिः ।"
८. वेदिशे माइथोलाजी, १/१४-१८, २/२४१, २४५ ।
९. ऋग्वेद, १/१६८/३, ३/४८/२ ।
१० ऋग्वेद, १/२८/७, ३/४८/१, ४/१६/१ ।
११. ऋग्वेद, २/१४/१, १९/१, ३५/१ ।
१२. ऋग्वेद, १/९/१ ।
१३. ऋग्वेद, ४/२०/४ में पृष्ठ्य तुलनीय ऋक्०१/५४, ५५, हिलेब्रांट का दृष्टिकोण ।

पौधा प्रतीत होता है, प्रायः पर्वतों[1] पर पैदा होता था। मूजवन्त पर्वत के सोम-पौधे की विशेष प्रसिद्धि थी। कश्मीर-घाटी के द०प० क्षेत्र को रैप्सन[2] ने सोमोत्पादक (मूजवन्त पर्वतीय) क्षेत्र से संबंधित किया है, जबकि डॉ० आर० के० मुकर्जी[3] ने इसे कुहा तट से और डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने वंक्षु नदी के दक्षिण में मुंजान इलाके से परिचित कराया है। वस्तुतः इसे हिन्दुकुश पर्वत की ही एक चोटी का क्षेत्र माना जाना चाहिए।

सोम पौधे को व्यवहारार्थ सर्वप्रथम पत्थरों से अथवा उलूखल मे रखकर कूटा जाता था। पत्थरो को ग्रावन् (ऋक्० १/८३/६, १३५/७) अथवा अद्रि (ऋक्० १/१३०/२, १३५/५, १३७/१) तथा कभी-कभी पत्थरों के स्थान पर मूसल एवं उलूखल व्यवहृत होता था (ऋक्० १/२८ मूसल-मन्था, उलूखल—ऋक्० १०/१०१/११)। प्रतीत होता है, यह पद्धति ईरानियन थी तथा वैदिक काल में कम प्रचलित थी। अधिक रस प्राप्त करने के लिए इस पौधे को कभी-कभी जल में भिगो दिया जाता था (ऋक्० ९/७३/९)। इसका परिष्कार करने के लिए चलनी पर रखकर दबाया जाता था। पवित्र सोम को दूध के साथ 'गवाशिर', दधि के साथ 'दध्यशिर' अथवा अन्न (यव) के साथ 'यवाशिर' मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाता था। इन विभिन्न मिश्रणों को लाक्षणिक[4] नामों से भी व्यक्त किया गया है। जैसे—अत्क वासस, अभि-श्री, रस, प्रचस आदि।

ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों से ज्ञात होता है, सोम सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय[6]

---

१. ऋग्वेद, १/९३/६, ३/४८/२, ५/३६/२, ४३/४, ८५/२, ९/१८/१, ४६/१, ९/६२/४, ६३/२७, ३१/५, १०/३४/१।

२. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, वा० प्रथम, १९६२, पे० ७२।

३. हिन्दू सभ्यता—डॉ० आर० के० मुकर्जी, १९६६, दिल्ली, पृ० ८६।

४. वही, अनुवादक—डॉ० वासुदेवशरण—टिप्पणी पृ० ८६।

५. अत्क (ऋग्वेद ९/६९/४), वस्त्र अथवा वासस् (ऋक्० ९/६९/५) अभिश्री (ऋक्० ९/७९/५, ८६/२७) रस, प्रचस् (ऋक्० ३/३०/१, ९/४६/३, ६६/२३)।

६. डॉ० सूर्यकान्त, सम्मेलन पत्रिका, आषाढ़, सं० २०१२, पृ० ९२ ने ऋग्वेद ९/११३/२ के आधार सोमोत्पत्तिऋषीक पर्वत पर मानी है।

भागों में जहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी, पाया जाता था[१]। जल में यह वृद्धि को प्राप्त होता था[२] तथा वर्षा न होने पर पानी से सींचा जाता था (ऋग्वेद ९/६४/६ यदद्भिः परिषिच्यसे)। इसके उत्पत्ति क्षेत्रों में मूजवत[३] के अतिरिक्त परावत, अर्वावत (आरावत) तथा शर्यणावत[४] क्षेत्र उल्लेखनीय हैं।

सोम के प्रत्यभिज्ञान-सम्बन्धी निम्नलिखित पाश्चात्य-पौरस्त्य विद्वानों के मत विचारणीय है—

सासन[५] तथा मूइर[६] ने सौम को Sar costemma-Viminale अथवा Asilepias acida (Sar costema brevistigma) से अभिन्न माना है।

राथ[७] के विचार से सोम Sarcostema acidum से प्रकृत्या अधिक निकट है, जबकि मैक्समूलर तथा आर० एल० मित्रा ने इसे 'यवसुरा' के रूप में मानकर सोम-पौधे को 'होप' Humulus—Lupulus से भिन्न नहीं स्वीकार किया[८] है। वाट ने सोम को अफगान अंगूर (**सार्कोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा**) तथा राइस ने 'गन्ना' माना है।[९] डॉ० मायर्स ने इसे '**इफिड्रा वलगेरिक**', डॉ० रामनाथ चोपड़ा ने '**टीनोस्पोरा कार्डीफोलिया**' (गिलोय) तथा रूटा **ग्रावेओलेंस**, डॉ० उस्मान अली और नारायण स्वामी ने 'सिरोपेजिया' तथा अमेरिका के प्रसिद्ध कवकशास्त्री श्री रिचर्ड

---

१. ऋग्वेद, ९/६२/४ असाव्यशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठा। ९/६३/२७ पृथिव्या अधिसानादि। ऋक्० ९/३१/५ वर्षिष्ठे अधिसानवि। ऋक्० ९/६४/६ यदद्भिः परिषिच्यसे।

२. ऋक्० ९/८५/१०—अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरुर्मा।

३. ऋक्० १०/३४/१—सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो। (पं० दामोदर सातवलेकर ने मौजवत पर्वत के ऊपर १२००० फीट की ऊँचाई पर सोमोत्पत्ति मानी है।

४. ऋक्० ९/६५/२२ ये सोमासः परावति ये अर्वावति मुन्विरे—ये वार शर्यणावति।

५. इण्डिश्चे आल्टरथुम्सकुण्डे, १२, ९३१।

६. संस्कृत टैक्स्ट्स, ५, २६१ तथा बाद।

७. Zeitschrift der Dentschen Morgenlandischen Gessellschaft—(त्सीक्रिफ्ट गेसेलस्चेफ्ट) ३५, ६८०।

८. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ५२४।

९. वेदिशे माइथोलाजी १, ७, वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ५२४।

गार्डन वासन ने सोम को कवक (कुकुरमुत्ता की जाति) अमानिता[1] मस्करिया बतलाया है।

श्री निरंजन चन्द्र शाह[2] ने ऋग्वेद में वर्णित सोम के गुणों के आधार पर अमानिताः मस्करिया के क्षारीय तत्व (एलकलायड) प्राप्त कर उसे फ्लाई एगेरिक[3] अर्थात् कवक (कुकुरमुत्ता[4] की जाति) से अभिन्न प्रतिपादित किया है। यह कवक ८ इंच से १० इंच की नाल पर ६ इंच से ७ इंच घेरे वाला सुर्ख लाल, पीले अथवा सफेद धब्बे युक्त होता है, जो सर्वप्रथम एक फूले गेंदे के समान श्वेत दृष्टिगत होता है, बर्धमान होने पर इसमें श्वेत आवरण हटता जाता है और फूले हुए छत्र की लाल त्वचा दृष्टिगत होने लगती है। यह प्रायः एशिया के उत्तरी सम-शीतोष्ण वनीय भागों में एक प्रकार के भोज वृक्ष (बर्च) तथा चीड़ (पाइन) के वनों में पाया जाता है।

श्री भजनसिंह[5] ने शतपथ ब्राह्मण में किरातों की स्थानीय भाषा में सोम को 'असना-उसना' शब्द से व्यवहृत पाकर इसके मूल 'शण' शब्द के समानार्थी कन्न (Kanna) को ग्रहण कर 'भाँग' से अभिन्न माना है, जिसका भी रंग हरा, पीला एवं सुनहरा होता है।

समीक्षा—ऋग्वेद में वर्णित सोम के गुणों (बलदायक, स्फूर्तिवर्धक, आयु-ज्ञान-वर्धक, रोगनाशक आदि) तथा इसके सेवन करने की विधि (पत्थर पर कूट कर, छान कर, दूध, दही, जौ एवं मधु मिलाकर पीना) एवं स्वरूप (पत्र, पुष्प, फल, बीज, जड़-रहित, सिरस (छत्र) तथा अमसु (तने सहित) को दृष्टि में रखते हुए, जैसा पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने इसे सुरा, अंगूर, गन्ना, भाँग, कवक (कुकुरमुत्ता) आदि से अभिन्न प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, इसे इनमें से

---

१. धर्मयुग, ३ जून, १९७३, पृ० २३, "ऋग्वेद का सोम" (निरंजन चन्द्र शाह कृत शीर्षक लेख)

२. द्रष्टव्य—धर्मयुग, ३ जून, १९७३, पृ० २३ (ऋग्वेद का सोम शीर्षक लेख)।

३. कवक के छोटे टुकड़े यदि पानी में भिगोकर रख दिये जायें तो मक्खियाँ इसकी ओर आकर्षित हो जाती हैं तथा इसे खाने के बाद मर जाती हैं। अतः इसको 'फ्लाई एगेरिक' नाम दिया गया है।

४. ऋक्०, १/८४/८ 'क्षुम्पमिव स्फुरत्' में 'क्षुम्प' अहिच्छत्रक अथवा कुकुरमुत्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतएव कवक कुकुरमुत्ता (क्षुम्प) से अभिन्न प्रतीत होता है।

५. आर्यों का आदि निवास—मध्य हिमालय, १९६८ इलाहाबाद, पृ० ९३।

किसी से भी सर्वथा अभिन्न नहीं माना जा सकता। रिचर्ड गार्डन वासन द्वारा गवेषित कवकजातीय **'अमानिता मस्करिया'** (**फ्लाई एगेरिक**) का यद्यपि बाह्य स्वरूप सोम से भले ही मिलता हो, परन्तु कवक (कुकुरमुत्ता) जाति, जिसका क्षुम्प रूप से (ऋग्वेद १/८४/८ में) पृथक् उल्लेख है, की कोमलता को ध्यान में रखते हुए इसे सोम से विषम गुणयुक्त पाते हैं, क्योंकि सोम को सेवन के पूर्व पत्थर-उलूखल से कूटा या पीसा जाता था। इस दृष्टि से भंग[1] अवश्य सोम से मिलती-जुलती प्रतीत होती है, किन्तु यदि **'फ्लाई एगेरिक'** कुकुरमुत्ता (कवक जाति) से पृथक् कोई पौधा है, तब अवश्य उसे सोम से सम्बन्धित किया जाना चाहिये।

सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु तथा स्थल-स्वरूप में परिवर्तन होने के कारण ऋग्वेद[2] में ऐसा आभास मिलता है कि असली सोम उस समय भी दुर्लभ हो गया था तथा उसके स्थान पर अन्य वनस्पति का प्रयोग होने लगा था। इसका प्रमाण परवर्ती वैदिक-साहित्य[3] में उल्लिखित 'पूतीक' से भी प्राप्त होता है जो सोम का स्थानापन्न पौधा **गुलेण्डिना-बॉण्डिक** (Guilandina-Bondic) अथवा (Basella-Cordifolia) माना गया है।[4] अतः अब भी ऋग्वैदिक सोम का स्वरूप, पूर्णतया किसी निश्चित वनस्पति से समीकृत करना संभव प्रतीत नहीं होता है।

३. तृण-घास आदि—

सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भागों में सामान्यतया तृण-घासादि असंख्य प्रकार की वनस्पतियाँ सर्वत्र पाई जाती थीं, जिनमें निम्नलिखित ऋग्वेद के आधार पर उल्लेखनीय हैं—

उलप—यह घास की ही एक जाति का नाम है, जिसका ऋग्वेद (१०/१४२/३) के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक[5] साहित्य में भी उल्लेख हुआ है।

काश—इसका ऋग्वेद (१०/१००/१०) के अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक (६/६/१) में भी उल्लेख हुआ है। इसे श्रीयुत् राथ[6] चटाइयाँ आदि बनाने के

---

१. ऋक्०, ६/६१/१३ में मादकता का आशय होने के कारण भंग को सोम की उपाधि देना उचित है (वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ७४)।

२. ऋक्०, १०/८५/३ सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषंत्योषधिम्।
सोम यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥

३. काठक सं० ३४/३, शतपथ ब्राह्मण १४/१/२/१२, पंचविंश ब्रा० ८।

४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, अनुवादक रामकुमार राय, पृ० १३।

५. अथर्ववेद, ७/६६/१, वाजस० सं० १६/४५।

६. सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश (वर्ण स्थान)।

लिए प्रयुक्त घास की एक जाति (Saccharum sportaneum) से अभिन्न मानते हैं। यह शरद् ऋतु में श्वेत होकर फूलता है। नदीतट, खेतों की मेड़ों, मैदानों आदि में सर्वत्र पाया जाता है।

सर (शर)—एक प्रकार की नरकट (Saccharum-Sara) है, जिसका 'नड'[1] रूप में भी उल्लेख हुआ है। यह ऋग्वेद (१/१९१/३) के अतिरिक्त अन्य वैदिक[2] साहित्य में भी उल्लिखित है। वाण के काण्ड के लिए इसके अथर्ववेद (१/२/१,३) में प्रयोग तथा इसके शीघ्रता से टूटने का स्पष्ट उल्लेख है (अथर्ववेद ८/८/४)।

नड—इसका ऋग्वेद (८/१/३३) में उल्लेख हुआ है। यह नरकट अथवा सरकण्डा से भिन्न नहीं है। यह सामान्यतया जलाशयों (झीलों, नदियों) आदि के आस-पास उगता है। अथर्ववेद में इसे वार्षिक[3] (वर्षा ऋतु में उत्पन्न) कहा गया है। इसे बीच से फाड़कर प्रायः महिलायें चटाइयाँ बनाया करती थीं[4]। नड का अन्यत्र भी उल्लेख है।[5]

दर्भ—ऋग्वेद (१/१९१/३) में एक घास के रूप में कुशर, शर, मौंज, सैर्य वैरिण आदि के साथ उल्लिखित[6] है। इसे प्रचुर जड़ों वाला (भूरि[7] मूल), सहस्र पत्तियोंवाला तथा शतकाण्ड[8] कहा गया है। लोकभाषा में 'डाभ' कहा जाता है।

शाद—यह एक प्रकार की घास है, जिसका ऋग्वेद (९/१५/६) के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक संहिता (वाजसनेयि सं० २५/१) में उल्लेख हुआ है।

कुश (कुशर)—ऋग्वेद (१/१९१/३) में अन्य घासों—दर्भ, मौंज, सैर्य आदि के साथ इसका उल्लेख हुआ है जिससे यह सर्पों के निवास के सुलभ स्थान के रूप में ज्ञात होती है। कुशर का बाद में कुश (दर्भ) अर्थ में एक पवित्र तृण (Poa-Cynosuroides) के रूप में प्रयोग होने लगा, किन्तु सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश ने शतपथ ब्राह्मण[9] में प्रयुक्त इस शब्द को 'घास' अर्थ में ग्रहण किया है।

---

१. ऋग्वेद, ८/१/३३।
२. अथर्ववेद ४/७/४, तैत्तिरीय संहिता, ५/२/६,६/१/३ आदि।
३. अथर्ववेद, ४/१९/१। ४. अथर्व०, ६/१३८/५।
५. वही, ६/१३७/२, काठक सं० २५/७, शतपथ ब्राह्मण १/१/४/१९ तैत्तिरीय आरण्यक, ६/७/१०।
६. ऋग्वेद, १/१९१/३ शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत्। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत्।
७. अथर्ववेद, ६/४३/२। ८. अथर्ववेद १९/३२/१।
९. शतपथ ब्रा०, २/५/२/१, ३/१/२/१६, ५/३/२/७ आदि।

बर्हि—कुशर अथवा दर्भ के समान रूप में ऋग्वेद[1] में उल्लिखित है। इसकी शिखा पैनी होती है तथा मूल (जड़) अत्यन्त गहरी।

दूर्वा—इसका ऋग्वेद (१०/१६/१३, १३४/५, १४२/८) के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक-साहित्य[2] में प्रायः उल्लेख प्राप्त होता है। यह जाति (Cynodon da या Panicum dactylon) से भिन्न नहीं है, जो आर्द्र भूमि में उगती[3] है। इसके सम्बन्ध में उपमा[4] से ज्ञात होता है कि दूर्वा (दूब) के तन्तु उसके काण्ड के समानान्तर फैलते थे।

मुंज (मौज)—यह एक १० फीट तक लम्बी घास (Saccharum-Munja) है, जिसका ऋग्वेद (१/१९१/३—मौंजा अदृष्टा वैरिणः) में शर, कुशर, सैर्य, दर्भ आदि घासों के साथ विषैले जीवों के निवास-स्थान के रूप में उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है, यह सोम को छानने तथा रस्सियाँ बनाने के काम आती थी।

सैर्य—ऋग्वेद (१/१९१/३) में उल्लिखित यह एक प्रकार की घास है, जो मूंज और कुशों के साथ उगती थी।

सस—यह एक घास है, जिसका ऋग्वेद (१/५१/३, १०/७९/३) में उल्लेख हुआ है। यह 'यज्ञीय कुश'[5] अथवा 'सोम-पौधे'[6] के स्थान पर भी व्यवहृत हुई है। इसे दर्भ जैसा मानना उचित प्रतीत होता है।

क्षुम्प—यह ऋग्वेद (१/८४/८)[7] मे प्रयुक्त है, जिसे लोकभाषा में 'कुकुरमुना' अथवा अहिच्छत्र (साँप की छत्री) कहा जाता है।[8] यह प्रायः वर्षा ऋतु में होता है। इसे कवक[9] (अमानिता मस्करिया अथवा फ्लाई एगेरिक) मानकर रिचर्ड गार्डन

---

१. ऋग्वेद, १/१२/४, १३/५,७, १४/५, १६/६, २६/४, ४५/९, ४७/४,८, १/५२/४, ८६/४।

२. तैत्ति० सं०, ४/२/९/२, ५/२/८/३, वाज० सं०, १३/२०, ऐत० ब्रा०, ८/५/८, शत० ब्रा०, ४/५/१०/५, ७/४/२/१०, १२ आदि।

३. ऋग्वेद, १०/१६/१३।

४. ऋग्वेद, १०/१३४/५।

५. ऋग्वेद, ५/२१/४।

६. ऋग्वेद, ३/५/६, ४/५/७।

७. ऋक्०, १/८४/८ कदा......क्षुम्पमिव स्फुरत्।

८. ऋग्वेद (प्रथम खण्ड), पं० श्रीराम शर्मा, बरेली, चतुर्थ सं०, पृ० १६४।

९. धर्मयुग (साप्ताहिक), ३ जून, १९७३, पृ० २३-२४।

वासन आदि वैज्ञानिकों ने सोम से अभिन्न माना है; किन्तु क्षुप[1] शब्द के आधार पर इसका झाड़ीदार (छतरीदार) होना ही सिद्ध होता है।

४. जलीय वनस्पति—

सप्तसैन्धव प्रदेश के स्थल के भागों से सम्बन्धित उपर्युक्त विविध प्राकृतिक वनस्पति के अतिरिक्त अनेक जलीय भागों में भी पर्याप्त प्राकृतिक वनस्पति पाई जाती थी, जो ऋग्वेद के सन्दर्भों के आधार पर अधोलिखित है।

वेतस—यह ऋग्वेद (४/५८/५) के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक-साहित्य[2] में उल्लिखित है, जो एक जलीय पौधे (Calamus-Rotang) से भिन्न नहीं है। यह केवल नरकट के स्वभाव से मिलता-जुलता है, जो सरोवरों, झीलों आदि में अथवा उनके आस-पास होता है। इसे 'हिरण्यय'[3] और 'अप्सुज'[4] भी कहा गया है।

शीपाल—इसका ऋग्वेद (१०/६८/५) में एक जलीय पौधे (Blyxa-Octandra) के रूप में उल्लेख हुआ है। यह लोकभाषा में 'सिवार' अथवा 'सेंवार' कहा जाता है, जो शैवाल से भिन्न नहीं है।

पुष्कर—ऋग्वेद (६/१६/१३, ७/३३/११) में नील कमल[5] के रूप में उल्लिखित है, जो सरोवर या झीलों में उगता था। अतएव झीलों को 'पुष्करिणी'[6] कहा गया है। व्यक्तिगत अलंकरण हेतु यह पुष्प व्यवहृत होता था, अतः अश्विनों की संज्ञा 'पुष्कर[7]—स्रज' थी। संभवतः आकार में कमल-पुष्प जैसा होने से दर्वीपाल को भी 'पुष्कर' कहा गया है। (ऋग्वे ८/७२/११)

पुण्डरीक (श्वेत-कमल)—इसका ऋग्वेद (१०/१४२/८) में उल्लेख[8] है, जो अन्य कमल-पुष्पों की भाँति जलाशयों में होता था।

---

१. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ३६७ क्षुप शब्द का अर्थ झाड़ी या झाड़ दिया है क्षुप और क्षुम्प मिलते-जुलते होने से यह छतरीदार अहिच्छत्र अथवा कुकुरमुत्ता प्रतीत होता है।

२. अथर्व० १०/७/४१, १८/३/५, तैत्ति० सं० ५/३/१२/२ आदि।

३. ऋग्वेद, ४/५८/५, उ० स्था०।

४. तैत्तिरीय संहिता, ५/३/१२/२।

५. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ७०४, ७०५।

६. ऋग्वेद, ५/७८/७, १०/१०७/१० भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म···।

७. ऋक्०, १०/१८४/२ गर्भं···धत्तां पुष्करस्रजा।

८. ऋक्०, १०/१४२/८ ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे।

समीक्षा—इस प्रकार हम देखते हैं, सप्तसैन्धव-प्रदेश में सभी प्रकार की स्थलीय एवं जलीय प्राकृतिक वनस्पतियाँ पाई जाती थीं। जिन वृक्षों (न्यग्रोध = वट, बेर, जामुन, महुआ, आम[1] आदि) का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे उस समय होते ही नहीं थे। स्थल की संरचना तथा जलवायु आदि तत्त्व सप्तसैन्धव प्रदेश की प्राकृतिक वनस्पति को समृद्ध किये रहते थे जो मानव को फल[2] तथा पशु-पक्षियों को भोजन देते थे।

५. जीव-जन्तु (पशु-पक्षी आदि)—

किसी भी प्रदेश के जीव-जन्तु (पशु-पक्षी आदि) वहाँ की पृथ्वी की बनावट, जलवायु एवं वनस्पति पर निर्भर रहते है। भौगोलिकों के मतानुसार[3] जीव-जन्तुओं के वितरण को निश्चित करनेवाला वातावरण के अतिरिक्त अधिक प्रभावकारी कारक वनस्पति है, क्योंकि चारे अथवा भोज्य की सुविधानुसार विभिन्न भू-भागों मे तृणभक्षी (शाकाहारी-Herbivorous) एवं मांसभक्षी (Carnivorous) जीवजन्तु होते हैं। प्रायः घास के मैदानों, पर्वतीय वनो आदि मे तृणभक्षी (शाकाहारी) पशु होते हैं, अतएव उन्ही शाकभक्षियो का आहार करनेवाले मासभक्षी भेड़िये, शेर, चीते आदि जीव भी वही होते है।

डॉ० कौशिक के अनुसार[4] जीव-जन्तुओ को निम्नलिखित दो रूपो में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. **कशेरुकी** (Vertebrates) (**पृष्ठवंशी अर्थात् रीढ़ वाले जीव**)—इसके अन्तर्गत जलचर, थलचर, खेचर अथवा उभयचर वर्ग के सभी जीव-जन्तु ग्रहण किये जा सकते है, चाहे वे स्तनपायी हों अथवा अस्तनपायी।

२. **अकशेरुकी** (Invertebrates) (**बिना रीढ़वाले जन्तु**)—इसके अन्तर्गत सभी जल, थल एवं आकाश में विचरण करनेवाले केचुए, कीट, पतंग आदि आते हैं।

सप्तसैन्धव-प्रदेश की पूर्व विवेचित जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति को दृष्टि मे रखते हुए उपर्युक्त उभय कोटि के वर्गीकृत जीव-जन्तुओं का ऋग्वेद के आधार पर

१. ऋग्वेदिक आर्य, १९५७, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४६।

२. ऋग्वेद, ३/४५/४ (पके फलों को अंकुश से गिराना) ऋग्वेद, १०/१४६/५ (वन्य पके फलो को खाकर जीवित रहना।

३. डॉ० एस० डी० कौशिक, मानव भूगोल, तृतीय संस्करण, मेरठ, पृ० ३५७।

४. वही।

विवेचन किया जा रहा है। गाय[1], घोड़ा[2], गधा[3], भैंसा[4], भैंस, बकरी,[5] भेड़,[6] ऊँट,[7] हाथी,[8] कुत्ता[9], आदि घरेलू अथवा पालतू पशुओं के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश के विभिन्न भू-भागों में निम्नलिखित उल्लेखनीय जीव-जन्तु पाये जाते थे।

हाथी (हस्तिन् अथवा मृगहस्तिन)—यह मूलतः शाक (तृण) एवं मांसाहारी वन्य-जीव है, जिसे पकड़कर पाला जाता था।[10] ऋग्वेद के उल्लेख[11] से यह ज्ञात होता है, हाथी सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी भाग में अवस्थित हिमवन्त (हिमालय) की तराई के वनो मे पाया जाता था। हस्तिन् के अतिरिक्त इसे मृगहस्तिन् भी कहा गया है।[12] आज भी मध्य हिमालय की उपत्यका (निम्न भू-भाग) के जंगलों में हाथी प्रचुर मात्रा मे पाये जाते है[13], किन्तु महापंडित राहुल सांकृत्यायन की यह धारणा[14] है कि सप्त-सिन्धु प्रदेश में हाथियों के होने का पता ऋग्वेद से नहीं लगता—जो सर्वथा तथ्यहीन है, क्योंकि ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर स्पष्टतः 'हस्तिन' का उल्लेख हुआ है।

सिंह—सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी एवं पर्वतीय वनों में उत्पन्न होने वाला यह मांसाहारी जीव है, जिसे पराक्रम से जीवितावस्था मे पकड़ कर पिंजडे में रखा जाता था।[15] इसकी प्रचण्ड[16] गर्जना के अतिरिक्त इसका उपमान रूप मे स्पष्ट उल्लेख[17] हुआ है। यह अन्य जीवों को मारने वाला हिंसक पशु है।[18]

मृग (हिरन)—यह सप्त सैन्धव प्रदेश में प्रधानतया मैदानी भाग के वनों में होता था, जिसका वर्ण आधार पर अनेक जातियों का ऋग्वेद मे उल्लेख हुआ है।

---

१. ऋक०, ८/१०१/१५, १०/८६/१४ आदि। २. ऋक्०, ६/५८/१,
३. ऋक्०, ३/५४/५,१। ४. ऋक्०, ८/३५/८, ५/२६/८,६/१७/११
५. ऋक्०, ६/५८/२। ६. ऋक्०, १/६१/१४, १२६/७।
७. ऋक्०, ८/५/३७,४६/२८। १०। ८. ऋक्०, ६/४०/४, ६/४५/८।
९. ऋक्०, ७/५५/२, ८/४६/२, २८। १०. ऋग्वेद, १०/४०/४, ६/४५/८।
११. ऋग्वेद, ८/४५/५, १/६४/७, मृगा इव हस्तिनः खादथा····।
१२. ऋग्वेद, ४/१६/१४।
१३. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वा० फर्स्ट, ई० जे० रैप्सन, देलही १९६२, पेज ७३, इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, वा० १२, पेज० ७४२।
१४. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १४२।
१५. ऋग्वेद, १०/२८/१०।
१६. ऋग्वेद, ३/२/११ नानदन्न सिंह...। १/६४/८ सिंहा इव नानदति प्रचेतसः।
१७. ऋग्वेद, १/१७४/३ सिंहो नदमे अपांसि वस्तोः··· ८/१/२०।
१८. ऋग्वेद १/१९१/८।

जैसे—कृष्णसार[१] (काला हिरन), रोहित[२] (लाल हिरन), पृषती[३] (धब्बे अथवा चित्तीदार चीतल मृग), कस्तूरी मृग[४] आदि। मृग (हिरन) मूलतः शाकाहारी वन्यजीव है, अतएव अरण्यानी को उनकी आश्रयदायिनी माता कहा गया है—

'प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिम्' (ऋग्वेद १०/१४६/५) इनकी जातियों की जंगलों में व्यापकता को दृष्टि में रखकर प्रतीत होता है, ऋग्वेद मे अन्य हिंसक सिंहादि जीवों को भी 'मृग' व्यवहृत किया जाता था।[५]

जबकि अन्यत्र सामान्य वन्य-पशु जैसा जातिवाचक रूप में प्रयुक्त[६] हुआ है। मृग (हिरन) प्रायः सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी घासयुक्त वनों में, जहाँ जलाशयों की कमी नहीं थी, पाये जाते थे, किन्तु प्रतीत होता है, पर्वतीय अन्य वनों में भी जहाँ जलाशय नहीं थे पहुँच जाते थे। ऐसे प्यासे मृगों[७] का वहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है। गौर मृग[८] रोहित मृग के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है, किन्तु कुछ विद्वान्[९] इसे वन-महिष से अभिन्न मानते हैं, जो तथ्ययुक्त नहीं है।

पिश—यह ऋग्वेद (१/६४/८) के अतिरिक्त अथर्ववेद (१९/१४/४) में उल्लिखित हुआ है, जिसे सायणाचार्य एक प्रकार के मृग (रुरु) अर्थ में ग्रहण करते हैं।

वृक (भेड़िया)—ऋग्वेद में मांसाहारी हिंसक जीव के रूप में इसका उल्लेख[१०] हुआ है, जो सामान्यतः भेड़िया से भिन्न नहीं है, किन्तु प्रतीत होता है, कहीं-कहीं यह व्याघ्र[११] के अर्थ में मानव-भक्षी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसका सुरुचिकर भोजन प्रायः मेष (भेड़) अथवा उरा का मांस है।[१२] उरा (भेड़) को भक्षण करने के

---

१. ऋक्०, १०/९४/५, शतपथ ब्रा० १/४/२, मनु० २/२३,२४।
२. ऋग्वेद, १/३९/६···पृष्ठिर्वहति रोहितः।
३. ऋग्वेद, १/३७/१, ३९/६, ८५/४, ५।
४. ऋग्वेद, १०/१४६/६।
५. ऋग्वेद, १/१५४/२, १९०/३, २/३३/११, ३४/१।
६. ऋक्०, (१/१७३/२, १९१/४, ८/१/२०, ५/३६, १०/१४६/६, अथर्व०, ४/३/६, १०/१/२६, १२/१/४८।
७. ऋक्० १/१६/५, १/१०५/७।
८. ऋक्० १/१६/५, ८/९/३।
९. द्रष्टव्य—पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐति० दृष्टि, पृ० ९८।
१०. ऋग्वेद, १०/३९/१३।
११. ऋग्वेद, ८/५५/१, २/३४/९ यो नो मर्त्तोवृकताति मर्त्यें।
१२. ऋग्वेद, १/११६/१६ शतं मेषं वृक्ये, ११७/१७ शतं मेषान् वृक्ये।

कारण ही भेड़िया को 'उरामथि' भी कहा गया है।[1] किन्तु प्रतीत होता है, यह कभी-कभी मेषादि अन्य जीवों का मांस सुलभ न होने के कारण बटेर[2] आदि पक्षियों का भी भक्षण कर लेता था। यह सामान्यतया सप्तसिन्धु प्रदेश के मैदानी एवं पर्वतीय वनों में पाया जाता था।

सालावृक—वृक (भेड़िया) से भिन्न यह हिंसक एवं भयंकर जीव 'लकड़बग्घे' से भिन्न नहीं है। ऋग्वेद में मांसाहारी पशु के रूप में इसकी नृशंसता का स्पष्ट उल्लेख[3] हुआ है। प्रायः सभी भारतीय विद्वान्[4] इसे लकड़बग्घा, जबकि पाश्चात्य विद्वान् इसे 'जंगली कुत्ता'[5] कहते हैं।

व्याघ्र (बाघ)—यद्यपि प्रत्यक्षतः ऋग्वेद में 'व्याघ्र' शब्द का उल्लेख नही हुआ है, तथापि इस हिंसक मांसाहारी जीव का तात्पर्य अन्य जीवों के लिए प्रयुक्त शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है। प्रो० विण्टरनित्स[6] के मतानुसार ऋग्वेद में व्याघ्र (Tiger—टाइगर) का नाम नही है, आर्यों के सप्तसैन्धव प्रदेश से पूर्व में बंगाल तक बढ़ने पर इसका नाम जानकर उन्होने अथर्ववेद में उल्लेख किया, किन्तु यह तथ्य युक्तिसंगत प्रतीत नही होता है, क्योकि भाष्यकार सायणाचार्य ने ऋग्वेद (१०/४०/४) मे प्रयुक्त 'वारण' शब्द का अर्थ 'व्याघ्र' किया है। यद्यपि अन्य स्थलों पर 'वारण' का अर्थ 'हाथी' होता है, तथापि यहाँ हाथी की अपेक्षा व्याघ्र अर्थ करना समीचीन प्रतीत होता है। कहीं-कही 'व्याघ्र' (बाघ) का तात्पर्य 'वृक'[7] अथवा लोपाश[8] शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रतीत होता है, यह हिंसक जीव सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय वनों में अधिक पाया जाता था, क्योंकि परवर्ती वैदिक

---

१. ऋग्वेद, ८/६६/८।

२. ऋग्वेद, १/११२/८, ११६/१४ आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके …११७/१६, ११८/८, १०/३९/१३।

३. ऋग्वेद, १०/७३/१, ९५/१५।

४. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९५७।

५. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, मैकडानेल एवं कीथ (अनु० रामकुमार राय), पृ०४९४।

६. ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिट्रेचर, विंटरनित्ज, भाग १, पृ० ६४।

७. ऋक्०, २/३४/९-वृक (बाघ) के सामन हिंसक, ८/५५/१ दस्मवेवृक…(आचार्य श्रीराम शर्मा ने इन स्थलों पर वृक का बाघ अर्थ किया है, ऋग्वेद, बरेली सं०)

८. ऋक्० १०/२८/४, १०/२८/९, १०—लोपाशः सिंहं प्रत्यंचमत्साः क्रोष्टावराहं निरतक्त कक्षात्। (यहाँ लोपाश का सामान्य अर्थ शृगाल न होकर बाघ है)।

संहिताओं[1] में इसका प्रायः उल्लेख हुआ है तथा आज भी हिमालय के वनों में यह अधिक मिलता है।[2]

ऋक्ष (रीछ अथवा भालू)—इसका ऋग्वेद (५/५६/३) मे यद्यपि एक बार उल्लेख हुआ है, तथापि इससे यह नही समझना चाहिये कि वैदिक आर्यों द्वारा अधिकृत भूभाग (सप्तसैन्धव प्रदेश) में यह हिंसक जीव कम पाया जाता था। इस सम्बन्ध मे डा० मैक्डानेल[3] तथा कीथ की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि ऋग्वेद (१/२४/१०) के अतिरिक्त अन्य परवर्ती[4] वैदिक साहित्य मे भी यह बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। यह सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय वनो मे अधिक पाये जाते थे।

वाराह या शूकर (सुअर)—यह तृणभक्षी (शाकाहारी) तथा मांसभक्षी जीव है। इसका ऋग्वेद[5] मे प्रायः उल्लेख हुआ है। यह सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्यवर्ती मैदानी घास के वनो मे सरोवरादि जलाशयो के आस-पास अधिक होते थे। इनके पालतू होने का प्रमाण ऋग्वेद मे नही मिलता है।

वन्य महिष— यह तृणभक्षी हिंस्र जीव सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी तथा मध्यवर्ती मैदानी वनो मे पाये जाते थे। इसका ऋग्वेद[6] (८/४५/२४) मे उल्लेख 'वन-महिष' (जंगली भैसा) के रूप मे अन्य मृगो के साथ हुआ है। सप्तसिन्धु प्रदेश की बस्तियो मे भी महिष[7] तथा महिषी[8] पालतू पशुओ मे प्रमुख थी, जो दूध-घी के अतिरिक्त मासाहार मे प्रयुक्त होती थी।

लोपाश—यह मांसाहारी जीव ऋग्वेद (१०/२८/४) में व्याघ्र के समान एक हिंसक जीव के अर्थ में उल्लिखित हुआ है, किन्तु डॉ० मैक्डॉनेल तथा कीथ[9] इसकी सम्भावना 'शृगाल'[10] अथवा लोमड़ी से करते है, जिसे तथ्य-संगत नही कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ 'शृगाल' के लिए पृथक् शब्द 'क्रोष्टा'[11] भी प्रयुक्त हुआ है।

---

१. यजु० वाजस० स०,१४/९, व्याघ्र, वाजस० सं० २१/३९, १९/९२,'व्याघ्र-लोम'।
२. वेद धरातल, श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी, २०१०, लखनऊ, पृ० १४, (भूमिका)।
३ वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनु० रामकुमार राय), वाराणसी १९६२, पृ० १२०।
४. शत० ब्रा०, २/१/२/४, तैत्ति० आर० १/११/२।
५. ऋक्,० ७/५५/४, १०/२८/ ४-क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात्।
६. वही, १०/२८/१०, १०/६०/३, महिष। ८/४५/२४, ८/५८/१५, ९/६२/६, वन महिष।
७. वही ८/३५/७। ८. ऋग्वेद, ५/२९/८, ६/१७/११।
९. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २६०। १०. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ९६९।
११. ऋग्वेद, १०/२८/४-लोपाशः सिंहः प्रत्यंचमत्साः क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात्।

प्रतीत होता है, यह जीव अपना मांस भोजन आकुल भाव से भक्षण करने के कारण इस अभिधान को प्राप्त हुआ।

आचार्य श्रीराम शर्मा[1] 'लोपाश' को बाघ से भिन्न नहीं मानते हैं, जिसे उचित कहा जा सकता है।

शश (खरगोश)—इसका ऋग्वेद (१०/२८/२, ९) में उल्लेख हुआ है। यह तृण तथा मांसभक्षी जीव है जो सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी वनों में पाया जाता था। इसके द्वारा छुरा निगल जाना[2] तथ्य विस्मयजनक है, जो बाद में बकरे के साथ संगत प्रतीत होता है।

कपि (बन्दर)—यह तृणभक्षी वन्य जीव है, जो फलदार वृक्षों के वनो मे पाया जाता है। ऋग्वेद (१०/८६/५) में इसका 'हरित' रूप में उल्लेख हुआ है। परवर्ती संहिता[3] में इसे अनेक स्थलों पर बालोंवाला तथा कुत्तों का शत्रु कहा गया है। इसके पालतू होने का प्रमाण, ऋग्वेद में नहीं, किन्तु तैत्तिरीय संहिता (४/२/१०/१) में मिलता है, जहाँ इसे 'मर्कट' कहा गया है।

वृषाकपि—इन्द्र-इन्द्राणी के वार्ता-प्रसंग में कपि के साथ वृषाकपि का भी उल्लेख हुआ है[4] जो वनमानुष से भिन्न नहीं है। मैक्डॉनेल तथा कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों[5] का भी यह दृष्टिकोण है। यही सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी तथा पर्वतीय वनों का शाकाहारी तथा मासभक्षी हिंसक जीव है।

क्रोष्टा (गीदड़ या शृगाल)—यह तृण एवं शाकाहारी जीव सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी वनों तथा बस्तियों के आस-पास पाया जाता था। अधिक कोलाहल करने (चिल्लाने) के कारण गीदड़ को 'क्रोष्टा' कहा गया है। वन्य-वराह की अपेक्षा इसे ऋग्वेद[6] में कायर प्रकृति का जीव बताया गया है। परवर्ती वैदिक संहिताओं[7] में भी इसका उल्लेख हुआ है, जहाँ यह शव-भक्षण करनेवाले शृगाल (सियार) से भिन्न नहीं है।[8]

---

१. ऋग्वेद, (खण्ड ४), द्रष्टव्य—अनुवाद (१०/२८/४)।
२. ऋग्वेद, १०/२८/२।
३. अथर्व वेद, ३/९/४, ४/३२/११, ६/४९/१।
४. ऋग्वेद, १०/८६/५।
५. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक रामकुमार राय, पृ० सं० १५२।
६. ऋग्वेद, १०/२८/१, ४। ७. अथर्ववेद, ११/२/२ (शवभक्षी)।
८. वाजसनेयि संहिता २४/३२।

गोधा (गोह्)—इसका वैदिक-साहित्य[1] में प्रायः उल्लेख हुआ है, किन्तु ऋग्वेद के (८/६९/९) सन्दर्भ को लुडविग[2] तथा वेबर[3] 'मगर' जलीय पशु से संबंधित करते हैं। रॉथ तथा त्सिमर के मत के आधार पर मैक्डानेल तथा कीथ[4] इसे बड़ी छिपकली से भिन्न नहीं मानते हैं, किन्तु वस्तुतः यह 'गोह्' से अभिन्न है।

लोप्र—इसका ऋग्वेद (३/५३/२३) में अस्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है, जिसकी पहिचान पूर्णतया नहीं की जा सकी है। रॉथ[5] इसकी सम्भावना 'लाल रंग' के पशु से करते हैं।

६. जन्तु—

सर्प—यह रीढ़वाले जन्तुओं में प्रमुख है, जो रेंगकर चलता है और सप्तसिन्धु-प्रदेश के घने जगलों में पाया जाता था।[6] इसके विषैले आक्रमण[7] का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के विषनाशक सूक्तों के आधार[8] पर ज्ञात होता है, उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश में सर्पों की बहुलता थी। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[9] का भी यही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। ऋग्वेद (७/१०४/६ आदि स्थलों) में 'अहि' का उल्लेख सर्प के सन्दर्भ में सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता, जबकि आज 'अहि' सर्प समानार्थी शब्द है।

नकुल (नेवला)—ऋग्वेद (१/१६४/१५) के अतिरिक्त सर्प-विष खींचने में छोटे नकुल[10] (नेवला) का उल्लेख हुआ है। यह सर्प के समान अँधेरी झाड़ियों एवं बिलों में रहता है, किन्तु फुर्ती में सर्प से अधिक तीव्र होता है।

मूष (चूहा)—इसका ऋग्वेद (१०/३३/३) में तांत काटने[11] का स्पष्ट उल्लेख

---

१. ऋग्वेद, ८/६९/२, ९, तैत्तिरीय संहिता, ५/५/१५/१, वाजसनेयि संहिता, २४/३५, पंचविंश ब्रा० ९/२/१४, जैमि० ब्रा० १/२२१।

२. ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ४९९। ३. इण्डिशे स्टूडियन, १८, १५, १६।

४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २६५।

५. सेण्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

६ Rigvedic India, Vol. I. p. 26.

७. ऋग्वेद, ७/५०/१—३। ८. वही, १/१९१ सूक्त, ७/५० सूक्त।

९. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण, पृ० ९८।

१०. ऋग्वेद १/१९१/१५ इयत्तकः कुषुम्भकस्तकं भिनद्म्यश्मना। ततो विषं प्रवावृते परावीरनु संवतः।

११. वही, १०/३३/३—मूषो न शिश्ना व्यदन्ति।

किया गया है। यह वन-बस्तियों में प्रायः बिलों में पाया जाता है तथा वस्तुओं को कुतरने की इसकी प्रवृत्ति होती है।

मण्डूक (मेढक या दादुर)—ऋग्वेद के 'मण्डूक सूक्त' में इनका विस्तृत वर्णन हुआ है, जिसके अनुसार ये दो जातियों[1] तथा विभिन्न[2] वर्णों के होते हैं। सरोवरों में सोये[3], वर्ष भर के प्यासे (७/१०३) मेढकों को पर्जन्य सींचता है[4], जिससे वे पाठशाला में पढ़नेवाले बालकों के समान टर्राने लगते थे।[5]

कङ्कत (कङ्कत)—एक विषैला एवं हानिकर जन्तु है जिसका ऋग्वेद (१/१९१/१) "कंकतो न कङ्कतोऽथो सतीनकङ्कतः।" में उल्लेख हुआ है। सायणाचार्य के मतानुसार यह हानिकर जीव 'बिच्छू' (वृश्चिक) से भिन्न नहीं है। ग्रासमैन[6] का भी इसके सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण है।

कशीका—इसका ऋग्वेद (१/१२६/५) में उल्लेख हुआ है, जो वन्य जन्तु अथवा जीव का एक नाम है। आचार्य सायण के अनुसार यह नेवला (नकुल) अथवा 'अंगूष' से अभिन्न है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों का इससे भिन्न दृष्टिकोण है। फिक[7] इसे एक प्रकार की बिल्ली (पूतिशारिजा) तथा गेल्डनेर[8] इसे 'मादा अगूष' मानते हैं।

कपना—यह वृक्ष की पत्तियों को चुनकर नष्ट कर देनेवाला एक कीड़ा प्रतीत होता है, जिसका ऋग्वेद (५/५४/६) में उल्लेख हुआ है। यास्काचार्य[9] भी

---

१. ऋग्वेद, ७/१०३/४।

२. ऋग्वेद, ७/१०३/६।

३. वही, ७/१०३/२—"न शुष्क सरसी शयानं"।

४. वही, ७/१०३/३।

५. वही, ७/१०३/१...... प्र० मण्डूका अवादिषु, १०३/५।

६. ऋग्वेद का अनु० (१/१९१/१), उद्धृत—वैदिक इण्डेक्स, भाग १, मैक्डानेल, ऐण्ड कीथ, पृ० १४८। तुलनीय—त्सिमर (हानिकर पशु) आल्टिण्डिशे लेबेन, ९८।

७. बेजेनबर्गर-बोट्रोज, ३,१६५ तुलनीय विचार, श्रेडर—प्रिहिस्टॉरिक एण्टिक्विटीज २४७, हॉपकिन्स—ज०अ० ओ०सो० १७,५७।

८. ऋग्वेद, ग्लॉसर, ४४।

९. निरुक्त—६/४।

इसे ऐसा ही कीड़ा (पत्तियों को नष्ट करनेवाला) मानते हैं। इस सम्बन्ध मैक्समूलर[1] एवं त्सिमर[2] की धारणा भी मिलती-जुलती है।

प्लुषि—यह एक अनिष्टकारक विषैला जन्तु (कीटाणु) है, जिसका ऋग्वेद (१/१९१/१) में उल्लेख[3] हुआ है।

वृश्चिक (बिच्छू)—सघन झाड़ियों अन्धकारयुक्त स्थानों में इस विषैले जन्तु का पाया जाना, साथ ही इसके विष का प्रभावशून्य होना वर्णित है।[4]

अजकाव—यह एक घातक विषैला जन्तु है, जिसका ऋग्वेद (७/५०/१) में उल्लेख[5] हुआ है। आचार्य श्रीराम शर्मा[6] इसका अर्थ सर्पादि मे करते हैं, जबकि डा० मैक्डानेल एवं कीथ[7] इसे 'विषैले-बिच्छू' का नाम प्रतिपादित करने है। आकार-प्रकार मे अत्यन्त छोटा होने से यह 'बिच्छू' जैसा ही कोई विषैला आक्रामक जन्तु प्रतीत होता है।

सूचीक—बिच्छू जैसा डंक मारनेवाला यह एक विषैला जन्तु है, जिसका ऋग्वेद (१/१९१/७) में उल्लेख हुआ[8] है। इसका डंक सुई के समान पैना प्रतीत होता है। अतः इसका सूचीक अभिधान प्रयुक्त हुआ है।

वम्र-वम्री—यह नर एवं मादा चींटियों का नाम है, जो ऋग्वेद[9] के अनेक स्थलों में उल्लिखित है। लोकभाषा में बड़ी चीटियां को जो लाल रंग की होती है, 'वीमी विमता या वेमता' भी कहा जाता है।

मक्ष (मधुमक्ष)--शहद (मधु) को ग्रहण[10] करनेवाले मक्ष (मधुमक्ष अथवा

---

१. सैक्रेड बुक आफ ईस्ट, ३२, ३३।		२. आल्टिण्डिशे लेबेन, ९७।

३. ऋग्वेद, १/१९१/१ द्वाविति प्लुंषी इति···।

४. वही, १/१९१/१६—वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्। अथर्व० १०/४/९-१५।

५. वही, ७/५०/१—रक्षतं......अजकावं दुर्दृशीकम्।

६. वही, खण्ड ३, द्रष्टव्य—अनुवाद ७/५०/१।

७. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १५।

८. ऋक्०, १/१९१/७ ये अङ्ग्या सूचीका ये पकङ्कताः।

९. वही, १/५१/९ ८/१०२/२१ आदि।

१०. वही, १०/४०/६—युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत......
वही०, ४/४५/४, ७/३२/२ (मक्ष), १/११९/९ (मक्षिका)।

भँवर मच्छ) का ऋग्वेद (१०/४०/६, ४/४५/४ आदि) में उल्लेख हुआ है। मधुमक्खी के छत्ते का भी वर्णन प्राप्त होता है।[१]

पक्षी—सप्तसैन्धव प्रदेश में उपर्युक्त हिंसक जीवों, अत्यन्त विषैले, विषहीन तथा अल्प विष वाले छोटे-बड़े स्थलीय जन्तुओं[२], मत्स्य[३] जैसे जलचर जीवों के अतिरिक्त निम्नलिखित पक्षी भी पाये जाते थे।

रोपणाका—यह गाने[४] वाले एक पक्षी का नाम है, जिसका ऋग्वेद (१/५०/१२) और अथर्ववेद (१/२२/४) में उल्लेख हुआ है। सायणाचार्य भी इसे गाने वाले पक्षी के रूप में मानते हैं, जो बुलबुल आदि से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

चाष (कठफोड़वा)—इसका ऋग्वेद[५] के अतिरिक्त यजुर्वेद[६] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की सूची में उल्लेख हुआ है। डॉ० मैक्डानेल तथा कीथ[७] इसे नीला कठफोड़वा (Coracias indica) से भिन्न नहीं मानते हैं।

चिच्चिक—यह एक पक्षी है, जिसका ऋग्वेद (१०/१४६/२) में 'वृषारव' के साथ उल्लेख किया गया है। दारिल द्वारा कौशिक-सूत्र[८] में उल्लिखित 'चिटक' पक्षी से इसकी समानता समीचीन प्रतीत होती है।

खर्गला—यह उल्लू अथवा इससे मिलता-जुलता[९] अशुभसूचक एक पक्षी है, जिसका ऋग्वेद (७/१०४/१७) में उल्लेख हुआ है।

श्विङ्का—ऋग्वेद (१०/८७/७) में हिंसक पक्षी के रूप में इसका उल्लेख

---

१. ऋग्वेद, १०/१०६/१०।

२. द्रष्टव्य—ऋक् १/१९१/१-१६ तथा ७/५०/१ आदि स्थल।

३. ऋक्० १०/६८/८ 'मत्स्यं दीनं उदनि क्षियन्तं, ७/१८/६। बड़े जलाशयों में मत्स्य (मछली) होती थीं।

४ डॉ० मैक्डानेल तथा कीथ—वैदिक इण्डेक्स, भाग २, (अनुवादक रामकुमार राय) पृ० २५३। ५. ऋक्० १०/९७/१३।

६. यजु० मैत्रा० सं० ३/१४/४, १५/९, वाजस० सं० २४/२३, २५/७।

७. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनुवादक रामकुमार राय), पृ० २९२।

८. कौ० सू० २६/२०, ब्लूमफील्ड, अथर्व वेद के सूक्त २६६, तुलनीय ग्रिफिथ—ऋग्वेद के सूक्त २, ५८९।

९. ऋक्० ७/१०४/१७—तुलनीय कौशिक सूत्र, १०७।

हुआ है। तैत्तिरीय संहिता[1] में वर्णित अश्वमेध के बलि-प्राणियों की सूची मे यह सम्मिलित किया गया है, जहाँ भाष्य में एक लाल मुँह की मादा बन्दरिया (रक्तमुखी वानरी) के रूप में इसकी असंगत व्याख्या की गई है।

सुपर्ण—यह प्रतीत होता है, बाज जैसा अच्छे पंखों वाला बलिष्ठ एवं हिंसक पक्षी था, जिसका अनेक स्थलों[2] में उल्लेख है। ऋग्वेद (१०/१४४/२) में इसे श्येन का पुत्र बताया गया है, जबकि अन्य स्थल[3] पर श्येन (बाज) से भिन्नता व्यक्त है। पाश्चात्य[4] विद्वानों के मतानुसार सुपर्ण को स्येन (बाज) अथवा गृद्ध मानना समीचीन प्रतीत होता है।

शकुन अथवा शकुण—सामान्यतः एक शुभ लक्षणों वाला शकुनसूचक पक्षी है, जिसका अनेक स्थलों पर उल्लेख है[5]। वर्ण भेद पर प्रतीत होता है, ये विभिन्न प्रकार के होते है। यथा—कृष्ण शकुण।[6]

शकुन्तक अथवा शकुन्तिका—छोटे पक्षी के अर्थ में सामान्य रूप से उल्लिखित[7] है, जो सर्वत्र सुलभ था।

सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्य पक्षियों में मयूर[8] (मोर), मयूरी[9] (मोरनी),

---

१. तैत्ति० सं०, ५/१५/१।

२. ऋक्०, १/१६४/२०, २/४२/२, ४/२६/४, ८/१००/८, ९/४८/३, अथर्व० १/२४/१, २/७२/२, ३०/३, ४/६/३। ३. ऋक्०, २/४२/२।

४. त्सिमर, आल्टिण्डिशे लेबेन, ८८, डॉ० मैक्डानेल ऐण्ड कीथ—वैदिक इण्डेक्स (भाग २), पृ० ५०३।

५. ऋक्०, ४/२६/६, ९/८५/११, ८६/१३, १०७/२०, ११२/२, १०/६८/७, १०६/३, १२३/६ आदि। (शकुन = पक्षी) अथर्व०—१२/१/५१, ३/१३, २०/१२७/४, तैत्ति० सं० ३/२/६/२ आदि (शकुन—विशाल पक्षी)।

६. वही, ९/१६/६।

७. वही, १/१९०/१, वाजस० सं०२३/२२ (शकुन्तिका), वही, २/४३ के पश्चात् खिल, वाज० सं० २३/२३ (शकुन्तक)

८. वही, ३/४५/१।

९. वही, १/१९१/१४, त्रिःसप्त मयूर्यः... तास्ते विषं विजभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव।

श्येन[1] (बाज), वर्तिका[2] (बटेर) आदि उल्लेखीय हैं। कपोत[3] (कबूतर), कर्करि[4] (कुररी या गलगल जैसा शब्द करने वाला पक्षी), उलूक[5] (उल्लू) (अशुभ आवाज करने वाला), गृध्र[6] (गीध), शुशुलूक (मुर्गा ऋक्० ७/१०४/२२)। शुक (तोता ऋक्० ८/३५/७, १/५०/१२), कपिंजल (तीतर ऋक्० २/४२/४३ आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी पक्षियों के उड़ाने (ऋक्० १/४८/५) उत्पातयति पक्षिण:) तथा बहेलियों द्वारा इनके पकड़ने का भी उल्लेख किया गया है (ऋक्० १/९२/१०)। आकाश मार्ग में उड़ने वाले (ऋक्० १/२५/७) उपर्युक्त इन स्थलीय पक्षियों के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश के विभिन्न जलाशयों में निम्नलिखित जलीय पक्षी भी पाये जाते थे।

आति— एक प्रकार का जलपक्षी, जो बतख अथवा हंसों से मिलता-जुलता है। पुरूरवा और उर्वशी के आख्यान में अप्सराएँ 'आतियों' के रूप में आती हैं। (ऋक्० - १०/९५/९, शतपथ ब्रा० ११/५/१/४, तैत्ति० संहिता ५/५/१३/१) सायणाचार्य इसे 'चाष' (कठफोड़वा—Coracias indica) तथा महीधर इसका अनुवाद 'आडी' (Turdus giaginianus—Adi) करते हैं।

कोक—इस जलीय पक्षी का उल्लेख ऋग्वेद मे(७/१०४/२२....कोकयातु) में अन्य पक्षियों—रूप धारण करने वाले राक्षसों—के संदर्भ में हुआ है।[7] परवर्ती-साहित्य[8] में भी प्रयुक्त हुआ है, जहाँ राँथ[9] इसे जलीय पक्षा 'चक्रवाक' न मानकर एक विनाशक परोपजीवी पशु मानते हैं, किन्तु इन सभी स्थलों पर सायणाचार्य इसकी 'चक्रवाक' के रूप में सम्यक् व्याख्या करते हैं। डॉ० मैक्डनिल एवं कीथ[10] 'कोयल' के साथ इसकी सम्भावना करते हैं जो भ्रान्तिपूर्ण है।

---

१. ऋक्०, ८/३४/९, ४/४०/३ श्येनस्येव व्रजतो अङ्कसं ...। ४/२६/४—प्रश्येन: श्येनेभ्य: आशुयत्वा। १/३२/१४, ९३/६, १६३/१।
२. वही, १/११२/८, ११६/१४, ११७/१६।
३. ऋग्वेद, १०/१६५/१, ३,४,५, १/३०/४।
४. वही, २/४३/३—यदुत्पन्वदसिकर्करि यथा।
५. वही, १०/१६५/४-६, ७/१०४/२२ उलूका यातुं....।
६. वही, १०/१२३/८, ७/१०४/२२।
७. ऋक्० ७/१०४/२२ उलूका यातुं शुशुलूका यातुं जहि श्वयातुंमुत कोक यातु सुपर्णा यातुं गृध्र यातुं। ८. अथर्व० ५/२३/४, ८/६/२।
९. सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश, वर्णक्रम स्थान, ६, तुलनीय ब्लूमफाल्ड, अथर्ववेद के सूक्त ४५४, ह्विटने-अथर्ववेद का अनुवाद, २६२।
१०. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनु० रामकुमार राय), पृ० २०९।

चक्रवाक (चकवा)—इसका ऋग्वेद[1] के अतिरिक्त परवर्ती संहिताओं[2] में उल्लेख हुआ है, जो जलीयपक्षी 'चकवा' (Anas-Casarca) से अभिन्न है। ग्रिफिथ[3] ने अंग्रेजी में इसे "ब्राह्मनी डक" अन्य अभिधान दिया है। इसे 'कोक', 'रथाङ्ग पक्षी' आदि भी कहते हैं तथा अपनी पारस्परिक दाम्पत्यनिष्ठा के लिए विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

हंस—यह जलीय पक्षी ऋग्वेद[4] के अतिरिक्त अथर्व वेद (६/१२/१) में इसी नाम से व्यवहृत हुआ है। सामान्यतया हंस उज्ज्वल त्वचा[5] से ढके श्रेणीबद्ध पाये जाते हैं, किन्तु इनके पृष्ठभाग में प्रायः उज्ज्वलता न होकर नीला या कालापन होने के कारण इन्हें 'नीलपृष्ठ' भी कहा गया है (ऋग्वेद ७/५९/७)। जल में प्रविष्ट[6] करने तथा तैरने के कारण इन्हें 'उद्प्लुत' तथा शुक्ल यजुर्वेद में 'नीर-क्षीर-विवेकी' संज्ञा प्रदान की गई है। ये तीव्र ध्वनि[7] भी करते हैं।

समीक्षा—उपर्युक्त विविध रीढ़ वाले एवं बिना रीढ़ वाले स्थलचर तथा जलचर जीव-जन्तुओं, पक्षियों के विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु भौमिक संरचना, प्राकृतिक वनस्पति, जलाशय आदि प्रायः सभी भौगोलिक उपादान सभी प्रकार के जीव-जन्तुओं के लिए अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुए हैं। इन विविध भूभागों में पाये जाने वाले जीव-जन्तुओं ने प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव को भोजन एवं आजीविका प्रदान की है। मांसभोजी,[8] जालधारण[9] करने वाले शिकारी वर्हलिए[10] जीवों को मारते वनों में शिकार ढूंढ़ा करते थे।[11] पशुओं या वन्यजीवों के

---

१. ऋक्० २/३९/३—चक्रवाकेवप्रति वस्तोरुस्रार्वाञ्च यातं रथ्येवशक्रा।
२. यजु०—मैत्रायणी सं० ३/१४/३, १३, वाजस० सं० २४/२२/३२, २५/८ (अश्वमेध के बलि प्राणियों की सूची में) अथर्व० १४/२/६४ (पारस्परिक दाम्पत्य-निष्ठायुक्त)।
३. ऋग्वेद के सूक्त, ग्रिफिथ, १/३०९, नोट ४।
४. ऋग्वेद १/६५/५, श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन, १६३/१०—हंसा इव श्रेणिशो, २/३४/५, ३/८/९, हसा इव श्रेणिशोयताना, ९/३२/३।
५. ऋक्०, ३/८/९—हंसा इव—शुक्रा वसाना स्वरवो न आगुः।
६. वही, १/६५/५, ३/४५/४, ९/३२/२ आदी हंसो यथा गणं।
७. ऋग्वेद, ६/५३/१०। ८. ऋग्वेद १०/१६/१०, क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि।
९. ऋग्वेद, ३/४५/१—मात्वा····पाशिनोऽति धन्वेव तां इहि।
१०. ऋग्वेद, ४/५८/६—एते अर्जन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणः, १०/१०६/१०। ११. ऋग्वेद, ८/२/६—गोभिर्यदी···मृगं न व्रा मृगयन्ते।

पकड़ने वाले जाल को पाश के अतिरिक्त[1] मुक्षीजा कहा गया है। प्रतीत होता है, मछली भी जाल द्वारा पकड़ी जाती थी। (ऋग्वेद ७/१८/६-पुरोला···मत्स्यासो निशिता अपीव)

वन्य जीव-जन्तुओं ने प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश को शिकार के अतिरिक्त पशु-पालन की भी आजीविका दी थी। सिंह जैसे हिंसक जीव को भी पकड़ कर पिंजरे में रखा जाता था।[2] जिन जीव-जन्तुओं का ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश में उल्लेख नहीं मिलता, इससे यह अभिप्राय नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वे उस समय वहां होते ही नहीं थे, क्योंकि एक स्थल पर ऋग्वेद[3] में उनका व्यापक वर्गीकरण प्राप्त होता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन[4] जैसे विद्वानों ने हाथी तथा अन्य अध्येताओं[5] ने व्याघ्र (बाघ) जैसे पशुओं के न होने की कल्पना की है, वह सर्वथा निराधार है, क्योंकि 'वारण' शब्द व्याघ्र[6] अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका समर्थन सायणाचार्य ने अपने भाष्य में भी किया है।

खनिज-पदार्थ—खनिज धातुएँ भू-पृष्ठ की चट्टानों से संपृक्त विशेष प्रकार के रासायनिक मूल तत्त्वों का योग है।[7] पृथ्वी-पटल पर प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तु (पशु-पक्षी) सदृश बाह्य-उपज प्रत्यक्ष है, जबकि खनिज-उपज भूगर्भ में सन्निहित होने के कारण सामान्यतया अप्रत्यक्ष है, जिसे मानव अपने श्रमपूर्ण प्रयास से खोद कर निकालता है। ऋग्वेद के अन्तर्गत प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है, प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश के भूपटल से अनेक बहुमूल्य खनिज पदार्थ प्राप्त किये जाते थे। सामान्यतः भू-पटल का ९८·६ प्रतिशत भाग विभिन्न खनिज तत्त्वों से

---

१. ऋग्वेद, १/१२५/२, निरुक्त ५/१९।
२. ऋग्वेद, १०/२८/१० सुपर्ण इत्था नखमा सिषायावरुद्धः परिपदं न सिंहः। ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड) आचार्य पं० श्रीराम शर्मा, बरेली, चतुर्थ सं०, पृ० १५९१ (पिंजड़े में अवरुद्ध सिंह) ऋग्वेद पर ऐति० दृष्टि, पं० रेउ, पृ० १९५।
३. ऋग्वेद, १/१९१/१-१६ जलचर, थलचर, विषैले, विषरहित, कम विष वाले, जलन करने वाले, डंक वाले, प्रत्यक्ष एवं अदृश्य जीव।
४. ऋग्वैदिक आर्य १९५७, इलाहाबाद, पृ० १४२।
५. विंटरनित्ज़—ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिट० भाग १, पृ० ६४।
६. ऋग्वेद, १०/४०/४—द्रष्टव्य—सायण भाष्य (वारण का व्याघ्र अर्थ)
७. भौतिक भूगोल के तत्व, डॉ० सी० बी० मामोरिया, १९७२, आगरा, पृ० ११३।

निर्मित होता है, इनमें भी प्रायः अयस् (लोहा) आदि अधिकांश खनिज शैल निक्षेपों अथवा आग्नेय शिलाओं[1] (Igneous-Rocks) से मिलते हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'सप्तसैन्धव प्रदेश' की खनिज-उपज का विवेचन किया जा रहा है।

ऋग्वेद के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में अनेक खनिज-धातुएँ पाई जाती थीं, जिनमें बहुमूल्य तथा जीवन उपयोगी सात धातुएँ[2], विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका धन आर्यों को पोषण करने तथा उनके शत्रुओं को रगड़ने में समर्थ था। इन सप्त धातुओं में हिरण्य (सोना), अयस् (श्याम-लोह) अर्थात् लोहा, ताँबा आदि महत्त्वपूर्ण हैं। परवर्ती-संहिताओं में भी इन धातुओं का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। वाजसनेयि संहिता (१८/१३) में छः धातुओं की एक तालिका में स्वर्ण (हिरण्य), अयस्, श्याम-लोह, शीशा और टीन (त्रपु) का उल्लेख किया गया है।

अयस्—ऋग्वेद[3] के अनेक स्थलों पर इस धातु का अनिश्चित रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। श्रेडर के मतानुसार[4] अथर्ववेद (५/२८/१) में इसका लोहे से आशय सुनिश्चित रूप से है। वैदिक साहित्य के अनेक[5] स्थलों पर अयस् को दो उपप्रकारों में विभाजित किया गया है—श्याम (कृष्ण) और लोहित (लाल) = श्यामायस[6] तथा लोहायस्। लोहायस और अयस् में विभेद[7] भी किया गया है तथा कहीं-कहीं[8] धातु-तालिका में श्याम, लोह तथा अयस् तीनों का पृथक् उल्लेख होने से प्रतीत होता है, कि इनमें विभेद था। डॉ० मैक्डानेल और कीथ[9] त्सिमर[10] के मत से सहमत होकर इस सन्दर्भ में श्याम को लोहा, लोह को ताँबा तथा अयस् को काँसा स्वीकार करते हैं। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[11] 'अयस्' की संभावना ताँबे से करते हैं, जो प्रतीत नहीं होती

१. आर्थिक भूगोल, एन० पी० पंवार, १९७२, खुर्जा, पृ० १७०।
२. ऋग्वेद, ४/५/६—यहु पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु।
३. ऋग्वेद, १/५७/३, १६३/९, ४/२/१७, ६/३/५।
४. प्री-हिस्टॉरिक ऐण्टीक्विटीस, श्रेडर, पृ० १८९।
५. अथर्व०, ११/३, १/७, मैत्रायणी सं० ४/२/९।
६. अथर्व०, ९/५/४—श्याम अयस् (लोहा), लोहायस (ताँबा)।
७. शतपथ ब्राह्मण, ५/४/१/२।
८. वाजसनेयि सं० १८/१३।
९. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनु० रामकुमार राय) पृ० ३६।
१०. आल्टिण्डिशे लेबेन, ५२।
११. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० १००।

है, क्योंकि इसके लिए स्पष्ट ही लोहायस् अथवा लोहित शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'अयस्' की काँसा से कल्पना भी सामान्यरूप से यद्यपि तथ्यपूर्ण नहीं कही जा सकती है, तथापि अग्नि की लपटों (ज्वाला) के वर्ण को दृष्टि में रखते हुए तपे लोहे अथवा काँसे को 'अयस्' माना जा सकता है, क्योंकि इस सन्दर्भ मे ज्वाला को—"अयो दंष्ट्र" कहा गया है।[1]

ऋग्वेद में अयस्-निर्मित[2] दस्युपुरों अथवा दुर्गों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिन्हें डॉ० ए० सी० दास[3] लौह दुर्ग (Iron-Fort) कह कर उनकी दृढ़ता एवं अजेयता व्यक्त करते हैं जबकि महापंडित राहुल सांकृत्यायन[4] 'अयस्' का तात्पर्य लोहे अथवा ताँबे से न ग्रहण कर 'पाषाण' से ग्रहण करते हैं। इन आयसी[5] दुर्गों के अतिरिक्त ऋग्वेद में अनेक अस्त्र-शस्त्रों और औजारों का भी उल्लेख हुआ है, जिनमे अयोमुख[6] वाण, परशु कुठार अथवा बसूला (वाशी[7]) आदि महत्त्वपूर्ण हैं। अश्व का सिर सोने से तथा पैर लोहे[8] (अयस्) निर्मित नालों से मढ़ा रहता था।

समीक्षा—ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश में अस्त्र-शस्त्र, कवच तथा औजार आदि पत्थरों के निर्मित होते थे, इसका कहीं प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। सामान्यतया ये ताँबे अथवा लोहे से निर्मित किये जाते थे। अतः उपर्युक्त मतों एवं वैदिक सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए अयस् के दोनों उपविभागों के अन्तर्गत इसे श्याम और लोह अर्थात् लोहा और ताँबा रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अग्नि की ज्वाला के उज्ज्वल वर्ण साम्य आधार पर (ऋग्वेद 'अयो-दंष्ट्र') सन्दर्भ के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों का इसे 'कांसा' भी कहना समीचीन प्रतीत होता है। अब अयस् और लोह

---

१. ऋग्वेद, १/८८/५, १०/८७/२।

२. ऋग्वेद, २/२०/८—दस्यून्पुर आयसीर्नितारीत्।

३. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० फर्स्ट, डॉ० ए० सी० दास, कलकत्ता, १९२१, पेज ८७।

४. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ९५-९७।

५. ऋग्वेद, ६/७५/१५—यथा यस्या अयोमुखम्।

६. ऋग्वेद, १०/५५ तथा ६/३/५—तेजोऽयसो न धारां।

७. ऋग्वेद, ८/२९/३—वाशीमेकोबिभर्ति हस्त आयसो...मन्तर्देवेषु।

८. ऋग्वेद, १/१६३/९—हिरण्यशृंगो यो अस्य पादाः।

दोनों लोहे के अर्थ रखते हैं। लोहा, ताँबा, काँसा से समन्वित 'अयस्' धातु प्रायः सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय भू-भाग[1] से प्राप्त की जाती थीं।

हिरण्य (स्वर्ण)—सोना सप्तसैन्धव प्रदेश की बहुमूल्य खनिज उपज थी, जिससे प्रायः आभूषण[2] सिक्के आदि निर्मित किये जाते थे। हिरण्य शब्द बहुवचन में प्रयुक्त प्रायः स्वर्णाभरणों को व्यक्त[3] करता है। ऋग्वेद तथा परवर्ती-संहिताओं में हिरण्य स्वर्ण का द्योतक है तथा अनेक स्थलों[4] पर उल्लिखित है।

कतिपय सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि स्वर्ण (सोना) सप्तसैन्धव प्रदेश की सिन्धु आदि बड़ी नदियों की उपत्यकाओं से उपलब्ध होता था। यही कारण है, सिन्धु नदी 'स्वर्ण धारा'[5] तथा 'स्वर्णमय'[6] अभिधानों से वर्णित हुई है। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि नदियों की घाटियों के अतिरिक्त 'हिरण्य' (सोना) अन्यत्र अन्य रूप से नहीं प्राप्त किया जाता था। 'सप्तसैन्धव प्रदेश' की भूमि के गर्भ से खोदकर यह बहुमूल्य खनिज निकाला जाता था, यह तथ्य कतिपय सन्दर्भों[7] से पुष्ट हो जाता है।

ऐसे भूगर्भ से निकाले गये अस्वच्छ सोने की धुलाई का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[8] ऐसे धुले हुए स्वच्छ स्वर्ण का वर्ण सूर्य के समान[9] चमकीला, पीला तथा आकर्षक होता था। स्वर्णकार इसे अग्नि में तपा कर भी शुद्ध करते थे (ऋग्वेद ६/३/४—द्रविर्न द्रावयति दारुधक्षत्)।

इन उपर्युक्त खनिज (अयस्-श्याम, लोह, हिरण्य) धातुओं के अतिरिक्त

---

१. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० फर्स्ट, डॉ० ए० सी० दास, १९२१, कलकत्ता, पेज ८७। ("दीज मेटल्स ऐण्ड प्रेसस स्टोन्स वेयर प्रोक्योरेबुल इन द नौर्दर्न माउन्टेनिअस रीजन्स ऑफ सप्तसिन्धु")।

२. ऋग्वेद, ७/५६/११ (निष्कग्रीव), ७/५६/१३ - (रुक्मवक्ष), १०/८५/८ (सौभाग्य) तिलक या स्त्रियों का सोहाग टीका—'ओपश'।

३. ऋग्वेद, १/१२२/१, १६२/१६, २/३३/९, ५/६०/२।

४. ऋग्वेद, १/४३/५, ३/३४/९, ४/१०/६, १७/१६, अथर्व० २/२८/४, १२/२/२२।

५. ऋग्वेद, ६/६१/७, ८/२६/१५।

६. ऋग्वेद, १०/७५/८।

७. ऋग्वेद, १/११७/५—शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय। अथर्व० १२/१/६, २६/४४।

८. तैत्तिरीय संहिता, ६/१/७।

९. ऋग्वेद, २/२७/९ ली रोचना······हिरणमया शुचयो धारपूता। ऋग्वेद २/३५/१० हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां······हिरण्यदा। ऋग्वेद ५/३८/२ उत्तमं हिरण्य-वर्णदुष्टरम्।

सप्तसैन्धव प्रदेश की सप्तधातुओं में पीतल भी पाया जाता था, जिसके वर्ण[1] का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। आचार्य श्रीराम शर्मा[2] के मतानुसार यह पीला धन स्वर्ण के अतिरिक्त 'पीतल' है। ताँबा (लोहित) भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया था, जिससे प्रायः बर्तन[3] बनाये जाते थे। ताँबा भी सामान्यतः अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता था। अग्नि मे तपाये गये ताम्रपत्र[4] का एक स्थल पर उल्लेख हुआ है। वैदिक कालीन सप्त-सैन्धव प्रदेश मे यद्यपि चाँदी (रजत) का अभाव तो नहीं था, किन्तु उसका प्रचलन अवश्य अल्प था। इस सम्बन्ध मे श्री राहुल सांकृत्यायन[5] की अवधारणा है कि वैदिक काल मे चाँदी का यदि अभाव नही तो उसकी दुर्लभता के कारण प्रचार जरूर कम था। डॉ० रमाशकर त्रिपाठी[6] संभवतः 'रुक्म'[7] का अभिप्राय स्वर्ण न मानकर चाँदी मानते हुये उसके प्रयोग को सोने की अपेक्षा अधिक स्वीकार करते हैं।

समीक्षा—ऋग्वेद के सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए तथा वैदिक साहित्य के अध्येताओं[8] के मतों पर विचार करने पर कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग की अपेक्षा उत्तरी पर्वतीय भूभाग में अधिक खनिज-धातुएँ तथा रत्न आदि प्राप्त होते थे। पर्वतीय धन के रूप मे (ऋक्० १०/६९/६ समश्रया पर्वत्या वसूनि) स्पष्ट इन बहुमूल्य खनिजों का संकेत किया गया है। आर्य इन बहुमूल्य खनिजों को भूगर्भ से खोदकर निकालना तथा उपयोग करना भली-भाँति जानते थे। खोदने से यदि कही खनिज पदार्थ नही प्राप्त होते थे तो उन स्थलों पर जल निकल आता था और वे कुयें जैसे कृत्रिम जलाशय बन जाते थे, जिन्हें 'खनित्रिम'[9] कहा गया है, जो खनिज और आपः (जल) दोनों का समानार्थी है।

अन्य उपज—सप्त खनिज धातुओं के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश में बहुमूल्य पत्थर (Precious-Stones), मणियाँ, रत्न, मोती आदि भी पाये जाते थे। मणियों

---

१. ऋग्वेद, ७/६७/१०—रयिं पिशंगं बहुलं पुरुस्पृहं···।
२. ऋग्वेद, खण्ड ३—बरेली (अनुवाद 'रयिं पिशंगं')
३. ऋग्वेद, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, पृ० १००।
४. ऋग्वेद, ५/६१/४—परा वीरास ··अग्नितपो यथासथ।
५. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १५८।
६. प्राचीन भारत, दिल्ली, १९६२, पृ० ३२।
७. ऋग्वेद—१/१६६/१०, ४/१०/५, ५/५३/४, ५६/१ (वक्ष मे धारण करने हेतु आभूषण)।
८. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० फर्स्ट, ए० सी० दास, पृ० ८७।
९. ऋग्वेद, ७/४९/२, अथर्व० १/६/४, १९/२/२ (कृत्रिम जलाशय)।

को कण्ठ[1] में अथवा शिर पर धारण किया जाता था। अनेक रत्नों[2] का भी उल्लेख किया गया है, जो उत्तर के हिमवन्त पर्वतीय भू-भाग के अतिरिक्त समुद्रों से भी समुपलब्ध होते थे। ऋग्वेद के एक[3] स्थल पर रत्नों के इच्छुक जनों को समुद्र में मग्न लगाने का उल्लेख प्राप्त होता है। समुद्री-सम्पत्ति में मोती[4] तथा शंख,[5] सीपी आदि महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। वैसे स्थलीय भागों में बहुमूल्य पत्थर भी रत्नों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे, जिनके अनेक स्थलों[6] पर उल्लेख से प्रतीत होता है, ये उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी पहाड़ी भूमि में प्रभूत माला मे प्राप्त हो जाते थे। Ctesias नामक विदेशी विद्वान् के वर्णन के आधार पर डॉ० ए० सी० दास०[7] का अभिमत है कि सप्तसैन्धव प्रदेश अपने यहाँ उत्तरी-पर्वतीय भाग में अधिक माला में पाये जाने वाले बहुमूल्य पत्थरों (रत्नों एवं मणियों आदि) को तत्कालीन पश्चिमी देश (कालान्तर में बेबीलोनिया) को प्रदान करता था। सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भाग में नमक की चट्टाने भी पाई जाती थीं, किन्तु नमक की पहाड़ी होते हुए भी उसके उपयोग का उल्लेख हमें खाद्य पदार्थ के रूप मे नही मिलता है।

समीक्षा—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश विविध भौतिक (खनिज आदि) उपजों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त समृद्ध था, इसका पता आर्यों के सम्पन्न आर्थिक जीवन से चलता है।

---

१. ऋग्वेद, १/१२२/१४—हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे···।
२. ऋग्वेद, ७/६७/१०—धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन।
३. ऋग्वेद, १/४८/३—ये अस्या······दधिरे समुद्रे न श्रवस्यवः। २/५६/२, ५८/३।
४. ऋग्वेद, १०/१४२/८।
५. ऋग्वेद, १/१८०/८—युवां चिद्धि···काराधुनीव—चिरयत्सहस्रैः।
६. ऋग्वेद, १/२०/७, ३५/८, ४१/६, १२५/१, १४०/११, १४१/१०, २/३८/१, अथर्व० ५/१/७, ७/१४/४।
७. ऋग्वैदिक इंडिया, वाल्यूम फर्स्ट, १९२१, कलकत्ता, पेज ८७।
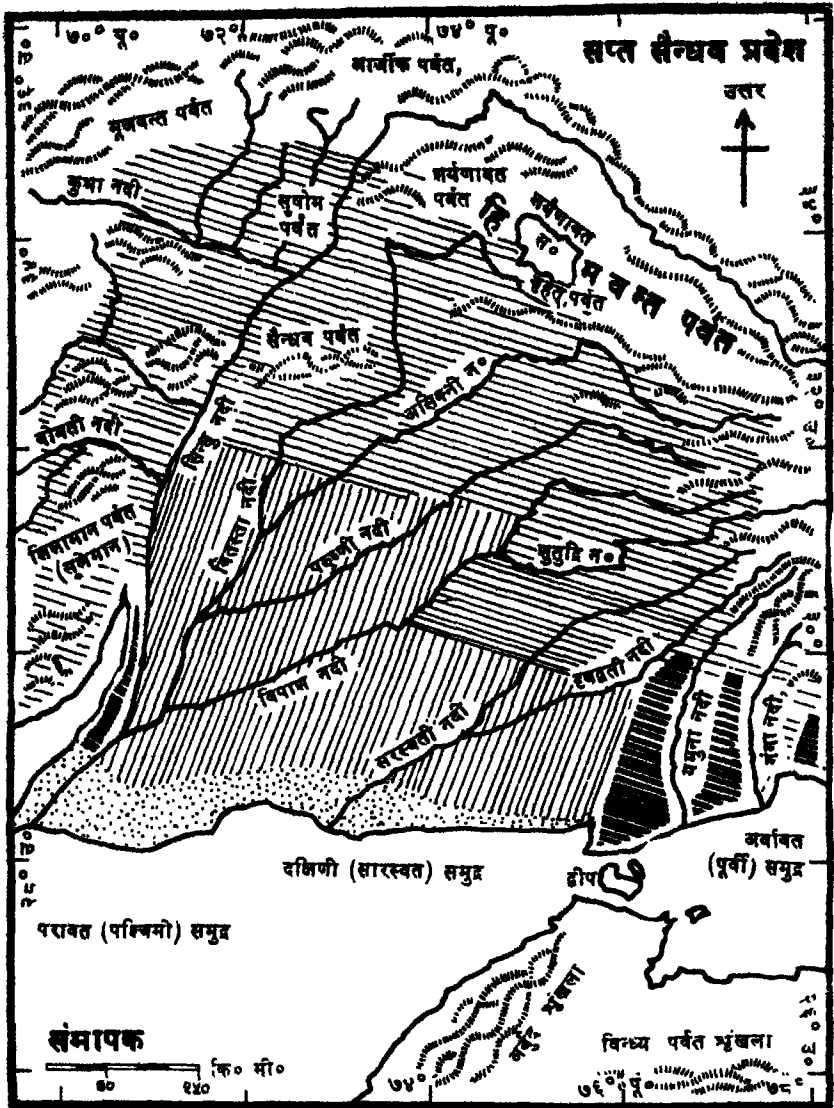
स्थलीय प्राकृतिक स्वरूप (भौमिक संरचना)

तृतीय अध्याय

ऋग्वैदिक भौमिक संरचना

किसी भी प्रदेश की भौमिक संरचना अथवा स्थल के प्राकृतिक (भौतिक) स्वरूप वहाँ की भौगोलिक दशाओं के नियामक होते हैं तथा इनके अध्ययन के लिए उसकी स्थलीय भौतिक रचना को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण के अनुसार यहाँ ऋग्वेद में उल्लिखित सप्तसैन्धव प्रदेश की स्थलीय संरचना (भौतिक स्वरूप) का विवेचन किया जा रहा है।

स्थल के प्राकृतिक स्वरूपों (पर्वत, मैदान आदि) की संरचना सामान्यत: भूमि (मिट्टी-Soil) तथा चट्टानों (शिलाओं) द्वारा होती है। प्रमुख भौगोलिकों[1] तथा भूगर्भशास्त्रियों[2] ने भौमिक-संरचना में मिट्टी एवं चट्टानों को महत्त्वपूर्ण मानते हुए इन्हें अनिवार्य कारक बताया है। मिट्टी एवं चट्टानों द्वारा पृथ्वी के धरातल पर विविध स्थलाकृतियाँ नैसर्गिक रूप से निर्मित हो जाती हैं, जिन्हें भौगोलिकों ने विभिन्न वर्गों में विभाजित किया है।[3] डेविस ने ऊँचाई के आधार पर स्थलाकृतियों को दो वर्गों के अन्तर्गत ग्रहण किया है। ए० एन० स्ट्राहलर[4] (Strahler A. N.) ने स्थलाकृतियों के तीन वर्ग – (१) मैदान, (२) पठार, (३) पर्वत – किये हैं, जबकि जे०बी० होइट[5] (Hoyt) ने—(१) मैदान, (२) पठार, (३) पहाड़ी, (४) पर्वत—चार स्थलाकृतियाँ मानी हैं। हंटिंगटन और शा[6] ने पठारों को पर्वतों एवं

---

१. सी० एल० ह्विट्ट ऐण्ड जी०टी० रेनर—ह्यूमैन ज्याग्राफी १६४८, पेज ४०७, डॉ० एस० डी० कौशिक, प्रोसीडिंग्स ऑफ नेशनल ऐकेडेमिक ऑफ साइन्सेज, इंडिया, वाल्यूम ३१, पार्ट २, पे० २४४।

२. आर्थर होम्स, फिजिकल ज्योलोजी, १६५६, पे० १२२। "द स्वायल, कन्सिडर्ड ऐज रौक लिन्बस, द डेड डस्ट ऑफ अर्थ विथ कन्टीन्युटी आफ लाइफ।" डी० एन० वाडिया, ज्योलोजी आफ इंडिया, १६५३, पेज ५०७, "द स्वायल्स ऑफ आल कन्ट्रीज आर द मोस्ट वैल्युवेबुल पार्ट ऑफ द रेगोलिथ आर सरफेस रौक्स ऐण्ड देयर ग्रेटेस्ट नेचुरल ऐसेट।"

३. अर्थ ऐण्ड मैन, डी० एच० डेविस, १६५७, पेज २७२-७६।

४. फिजिकल ज्याग्राफी, ए० एन० स्ट्राहलर, १६५१, पे० ११८।

५. मैन ऐण्ड द अर्थ, जे० बी० होइट, १६६२, पेज ७५।

६. ह्यूमैन ज्याग्रॉफी, हंटिंगटन ऐण्ड शा, पेज २२१-२२४।

मैदानों से पृथक्, किन्तु दोनों की स्थूल संयुक्त आकृति को स्वीकार किया है। वस्तुत: स्थल के स्वरूप को मूल संरचना के आधार पर तीन वर्गों के अन्तर्गत ग्रहण करना चाहिये। इसमें सामान्य रूप से पर्वत, पठार तथा मैदान आते हैं जिनकी भौतिक संरचना अन्तर्बाह्य रूपों में होकर उन्हें विशिष्टता प्रदान करती है। स्थलीय-स्वरूप (भौमिक संरचना) के सम्बन्ध में Howarch and Spock का यह विचार तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है—

"A land form is any element of the land scape characterised by a distinctive surface expression internal structure or both, and sufficiently conspiauous to be included in physiographic description."[1]

इस आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश की भौमिक-संरचना का अध्ययन यहाँ किया जा रहा है।

सामान्यत: सप्तसैन्धव प्रदेश के स्थलीय स्वरूप को ऊंचाई के आधार पर दो स्थूल रूपों (ऊँचे और नीचे[२]) के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं। ऊँचे स्थल पर्वतों से भिन्न नही हैं तथा नीचे स्थल मैदान, घाटियाँ, पर्वत, गर्त आदि है, जिनका ऋग्वेद[३] तथा अन्य वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। यह स्थल संरचना का स्थूल वर्गीकरण डी० एच० डेविस[४] के दृष्टिकोण के पूर्ण अनुकूल है। किन्तु इस वर्गीकरण के साथ ही निम्नलिखित रूपों में भी सप्तसैन्धव प्रदेश की भू-संरचना को विभाजित किया जा सकता है, जिसे स्ट्राहलर[५] के विचारानुसार पूर्ण संगत मानना चाहिये।

१—उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम एवं पश्चिम की पर्वतीय भूमि,
२—पूर्व की ऊँची (कहारी) तटीय भूमि,
३—मध्य तथा दक्षिण का मैदानी एवं मरुस्थलीय भाग।

---

१. क्लासीफिकेशन ऑफ लैण्ड फौर्म्स, हावर्च ऐण्ड स्पैक। ऋग्वेद—५/८३/७ द्रुतिं··· भवन्तूद्वतो निपादाः। यहाँ निपाद का तात्पर्य नीचे की भूमि अर्थात् घाटी है जो 'निवत्' से मिलता-जुलता है (ऋग्वेद १/१६१/११, ३/२/१०, ७/५०/४।
२. ऋग्वेद—३/२/१० स उद्वतो निवतो याति वेविषत्स भुवनेषु वीचरत्।
३. ऋग्वेद, १/५६/३, ६१/१४, ६३/१, ४/२०/६, ६/२४/८ (पर्वत या ऊँचाई)
४. अर्थ ऐण्ड मैन, १९५७, पेज० २७२-७९।
५. फिजिकल ज्याग्राफी १९५१, पेज ११८।

सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर, उत्तर-पश्चिम का भू-भाग विशाल पर्वत-शृंखलाओं द्वारा घिरा हुआ था। इस पर्वतीय भूभाग की संरचना सामान्यतः आग्नेय शिलाओं द्वारा होने के कारण अत्यन्त सुदृढ़ थी। आन्तरिक भू-गर्भीय अशान्तिवश यह पर्वतीय प्रदेश भूकम्पों[1] से प्रभावित होते हुए भी अपने बाह्य स्वरूप में सुस्थिर तथा अविचल[2] था। सप्तसैन्धव प्रदेश का यह पर्वतीय भू-भाग अपनी अलंघ्य ऊँचाई के कारण बाह्य शत्रुओं से रक्षा करता था, जिसका अनेक स्थलों[3] पर संकेत मिलता है। पर्वतों की उत्तुंग श्रेणियाँ प्रायः हिमाच्छादित[4] रहती थीं और अपनी ऊँचाई से समुद्री (मानसूनी) हवाओं अथवा मेघों की गति[5] को रोक लेती थीं, जिससे मूसलाधार वर्षा होने के कारण ऊँचे-नीचे भाग वर्षा[6] से सम हो जाते थे। निरन्तर प्रचण्ड वर्षा जल से इस पर्वतीय भूभाग की कठोर चट्टाने भी अपक्षय क्रिया (इरोजन—Erosion) से प्रभावित रहती थीं तथा पर्वतों की शृंखलाएँ ढहती[7] रहती थीं।

सामान्यतः भौतिक-शक्तियों के प्रभाव से भू-पटल पर निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं तथा स्थल के विभिन्न स्वरूप बनते-बिगड़ते रहते हैं, किन्तु बाह्य प्राकृतिक शक्तियों की अपेक्षा भूगर्भ की आन्तरिक शक्तियाँ अधिक प्रभावी होती हैं तथा इनसे ज्वालामुखी के भड़कने अथवा भूकम्प आने से भीषणता उत्पन्न हो जाती है। सप्तसैन्धव प्रदेश के

---

१. ऋग्वेद, २/१२/२—यः पृथिवीं व्यथमानमदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्। ऋग्वेद २/१२/१३—द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमते···पर्वता भयन्ते। ऋग्वेद, ४/२२/४, विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर्द्यौ ऋज्वाज्जनियन् रेजेत क्षाः।
२. ऋग्वेद, २/१७/५ स प्राचीनान्पर्वतान्दृंहदोजसा०···, ३/३०/४ पर्वतोऽनुव्रताय निमितेव तस्थुः, ५/५६/१ न पर्वता निनमे तस्थिवांसः। ५/८७/२ तदेषामधृष्टासो नाद्रयः। ऋग्वेद, ६/५२/४—पर्वतासो ध्रुवासो, ८/७/३४ गिरयश्चिन्नि जिहते···· पर्वताश्चिन्नि ये मिरे। ध्रुवासः पर्वता इमे १०/१७३/४।
३. ऋग्वेद, ६/५२/४—अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासो, ५/८४/१—बलित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवी। ऋग्वेद ७/३४/२३ तन्नो रायः पर्वतास्तन्न—१०/३५/२।
४. ऋग्वेद, ५/६१/१९—एष क्षेति···पर्वतेष्वपश्रितः, १०/१२१/४ यस्येमे हिमवन्तो महित्वा···।
५. ऋग्वेद, १०/५९/३ द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रात् ५/८५/४—समभ्रेण वसत पर्वतास····।
६. ऋग्वेद, ५/८३/७ दृतिं सुकर्ण विसितं न्यञ्च समाभवन्तूद्वतो निपादाः।
७. ऋग्वेद, ४/१७/३—"भिनद् गिरिं शवसा वज्रमिष्णान्०···। ५/४१/१···· पर्वतच्युते।"

इस पर्वतीय भू-भाग में भी आन्तरिक हलचलों से अनेक भौतिक परिवर्तन हुए, जिसका समर्थन अनेक प्रमाणों द्वारा भूगर्भशास्त्री[1] भी करते हैं। इस पर्वतीय भू-भाग की संरचना के समय प्रतीत होता है[2], ज्वालामुखी तथा भूकम्पों के कारण पृथ्वी अस्थिर[3] हो गई थी, पर्वत ढह कर गिरने लगे थे तथा भूमिखण्डों की उन्मज्जन आदि क्रियाओं से नदियों के प्रवाह-मार्ग भी परिवर्तित[4] होने लगे थे। इस सम्बन्ध में भूगर्भशास्त्रियों की धारणा[5] है, कि इन परिवर्तनों एवं आन्तरिक हलचलों के कारण इस पर्वतीय भू-भाग के मध्यवर्ती भाग (मध्य हिमालय) के उन्मज्जन के साथ इसकी दक्षिणी पाद-शृंखलाओं से लगी (शिवालिक) घाटी में एक गहरा गर्त बन गया, जो समुद्र के रूप में कालान्तर तक बना रहा और नदियों द्वारा काट कर बहाई हुई मिट्टी से मैदान के रूप में भर गया।

सप्तसैन्धव प्रदेश के तत्त्ववेत्ता एवं मंत्रदृष्टा ऋषियों ने उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम के इस पर्वतीय भू-भाग की संरचना के साथ इसमें भौतिक परिवर्तनों और भूगर्भ-सम्बन्धी हलचलों को देखा-समझा था। भूगर्भ-शास्त्रियों की आख्या[6] ऋग्वेद मे व्यक्त उत्तरी पर्वतीय भाग के वर्णनों को पूर्णतया पुष्ट करती है। आग्नेय चट्टानों से संरचना होने के कारण इस पर्वतीय भूभाग के गर्भ में बहुमूल्य खनिज धातुएँ, जिन्हें आर्य धन के रूप[7] में ग्रहण करते थे, विद्यमान थीं, इसके साथ ही बाहरी पटल मे अनेक मूल्यवान् चमकती चट्टाने भी पाई जाती थीं, जिसके कारण सप्तसैन्धव प्रदेश के लोग इन पर्वतों को विचित्र[8] चमकीला कहते थे।

---

१. इन्साइक्लोपीडिया, ब्रिटैनिका, वा० १२, पेज, ७२६, एडीशन ६।
२. ऋग्वेद, ७/३४/४—"शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको···" (ज्वालामुखी शान्त हो)
३. ऋग्वेद, २/१२/२—"यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्।"
४. ऋग्वेद, २/१५/६।
५. वाडियाज ज्योलोजी ऑफ इंडिया, पेज १०६-१०, २४८। सर्वे आफ इंडिया, पेपर नं० १२, १९१२, कलकत्ता। मेम्वायर्स आफ द ज्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, पेज १३७, पार्ट २।
६. क्वार्टरली जरनल आफ़ द ज्योलोजिक सोसाइटी, वा० ३१, १८७५, एच० एफ० ब्लूमफोर्ड, पे० ५२४-४१। इम्पीरियल गजेटियर आफ़ इंडिया, वा० फर्स्ट, १९०७, पेज ५३।
७. ऋग्वेद, १/५९/३—"या पर्वतेष्वोषधीष्सु," ऋग्वेद, १०/६९/६—"समश्रया पर्वत्या वसूनि।"
८. ऋग्वेद, १/६४/७—"चित्रभानवो गिरयो न··· ।"

चट्टानी संरचना के होते हुए भी इस पर्वतीय भू-भाग में कहीं-कहीं पर अथवा अधिकांश स्थलों पर उर्वर मिट्टी होने के कारण पर्याप्त वनस्पति (वृक्ष, औषधियाँ आदि) पाई जाती थीं। यही कारण है, पर्वतों को 'वृक्षकेश'[1] कहा गया है। ऊँची पर्वत चोटियों से मेघों[2] के रुकने तथा प्रभूत वर्षा[3] करने से न केवल यहाँ से अनेक बड़ी नदियाँ सप्तसैन्धव प्रदेश के शस्य सम्पन्न मैदानी भाग से होती हुई समुद्र की ओर बह निकलीं,[4] अपितु स्वयं पर्वतीय भू-भाग अन्नादि कृषि भोज्य पदार्थों को उत्पन्न कर जन-पोषण हेतु प्रदान[5] करता था। कतिपय पर्वतीय स्थलों पर सोम नामक वनस्पति (मूजवन्त शृंखलाओं में) पर्याप्त माला में उत्पन्न होती थी।[6]

सप्तसैन्धव प्रदेश के इस विस्तृत पर्वतीय भू-भाग की संरचना गगनचुम्बी[7] विशाल गिरि-शिखरों द्वारा होने के कारण, साथ ही बहुत गहरे पर्वतीय[8] गह्वर (खड्ड) होने से यहाँ गमनागमन असम्भवप्राय था और रथ-मार्गों का अभाव रहता था, तथापि बड़े पर्वतों को तोड़ कर[9] पर्वतीय (रथ) पथ बना लिए जाते थे। ऐसे पर्वतीय पथों का भी उल्लेख प्राप्त[10] होता है। इससे ज्ञात होता है कि यह उत्तर

---

१. ऋग्वेद, ५/४१/११—"आप ओषधीरुत नोऽवतु द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः। ५/८२/२ वाज पर्वत्सु पय उस्रियान''' ।
२. ऋग्वेद—५/८५/४—"समभ्रेण वसत पर्वतासः''', १०/५८/१, १/३२/१,२।
३. ऋग्वेद—५/८३/७—— समा भवन्तूद्वतो निपादाः। ऋग्वेद—८/९४/१२, ६/१७/५।
४. ऋग्वेद—१/७३/६—सिन्धवः समया समुद्रिम्। ३/३३/१— प्रपर्वतानामुशती उपस्था दृशवे इव''''विपाट्शुतुद्री पयसा जवेते। ७/९५/१—प्रमावधाना रथ्येव याति''' । ७/९५/२ एकाचेत्'''गिरिम् आ समुद्रात्।
५. ऋग्वेद—१/६५/३—पुष्टिर्न—पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंयु। ऋग्वेद ६/४९/१४—तन्नो''''अद्भिरर्कैस्तत् पर्वत स्तत् सविताचनोधात्। ५/५०/२ गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु।
६. ऋग्वेद, ५/३६/१—सामो न पर्वतस्य पृष्ठे। ५/८२/२—वाज पर्वत्सु ॥
७. ऋग्वेद, ५/८७/९—ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि ।
८. ऋग्वेद, १/११/५—त्वं........बलस्य.......विलम्,१/३३/१२, ६७/२, १/१३०/३, १/२३/१४ गुहाहितम्।
९. ऋग्वेद, ६/६२/७—"विजयुजा रथ्या यातमद्रिं...।"
१०. ऋग्वेद, १०/३९/१३—"ता वर्ति यातं.......विपर्वतं।"

तथा उत्तर-पश्चिम का पर्वतीय भाग सप्तसैन्धव प्रदेश के सामान्य जन-जीवन के कर्म में बिल्कुल बाधक[1] नहीं था, अपितु यह प्राणियों का प्रायः पालन करता था।[2]

अनेक भयंकर जीव इस क्षेत्र के पर्वतों में घूमा करते थे,[3] साथ ही आर्यों की गायें भी यहाँ की विषम भूमि में विलुप्त हो जाती थी।[4] सहस्रों उत्तुंग शिखरों के साथ ही गहरे गर्त अथवा गह्वर पाये जाते थे।[5] जिनमें प्रतीत होता है, प्रकाश नहीं पहुँचता था तथा केवल मरुत् (वायु) का प्रवेश सम्भव था।[6] इन पर्वतीय दुर्गकल्प गुहाओं में सामान्यतया आर्यों के शत्रु दस्युजनों को शरण मिलती थी[7] और इनमें अतुल सम्पत्ति छिपी रहती थी।[8] जल एवं वायु के प्रविष्ट हो जाने पर इन पर्वतीय गह्वरों में कुश[9] अथवा अन्य वनस्पति उगती रहती थी।

सप्तसैन्धव प्रदेश के इस पर्वतीय भू-भाग के भौतिक स्वरूप में परिवर्तनकारी अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ प्रभावशील दृष्टिगत होती है, जिनमें वृष्टि-जल[10] (इन्द्र) तथा प्रचण्ड वायु (मरुत्)[11] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो निरन्तर अपक्षरण करने वाले तत्त्व है। इनमें तथा आन्तरिक शक्तियों से[12] पर्वतों के आकार-प्रकार में सतत परिवर्तन होता रहा है, तथापि सप्तसैन्धव प्रदेश के इस उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी भाग के

---

१. ऋग्वेद, ८/८८/३—"न त्वा वृहन्तो अद्रया ..... ।"
२ ऋग्वेद, ५/८४,१—"बलित्था पर्वताना खिद्रं विभर्षि पृथिवी... ।"
३. ऋग्वेद, १/१५४/२—"मृगो न भीमः कुचरा गिरिष्ठाः" १०/१८०/२—"कुचरा गिरिष्ठा ।"
४ ऋग्वेद ५/३० ४ -"अश्मान चिच्छवसा विद्युतो वि विदोगवा," ६/३९/२—अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ।"
५. ऋग्वेद, ५/११/६—"त्वामग्ने... गुहाहितमन्वविन्दन् ।"
६. ऋग्वेद, ५/५२/१०—"आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा । ऋग्वेद—८/७,५ ।
७. ऋग्वेद, १/३३/१२—"न्यविध्यदिलीबिशस्य दृलहा विश्रृंगिणमभिनच्छुष्ण-मिन्द्रः ।"
८. ऋग्वेद, १/१३०/३—"परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि ।"
९. ऋग्वेद, १/२३,१४—"पूषा राजान......गुहाहितम् । अविन्दच्चित्रबर्हिषम् ।"
१०. ऋग्वेद, ४/१७/३—"भिनद्गिरिं शवसा वज्रमिष्णन्... ।" ६/१७/२—"गोत्रभिद् वज्रभिद्यां" १७/५ महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं," ६/३२/२ "अद्रिं गृणान ।" ११. ऋग्वेद, १/१६८/४, ८/७/४, ८/७/५ ।
१२. वही, ७/३४/४ "शं नो अग्नि ज्योतिर्नीको ।"

प्रमुख पर्वतों का जिनका ऋग्वेदादि प्राचीन संहिताओं में उल्लेख हुआ है, शोधपूर्ण परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

हिमवन्त—हिम[1] के अतिरिक्त ऋग्वेद में हिमवन्त का उल्लेख[2] व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में उस विशिष्ट पर्वत के लिए हुआ है, जो आज विराट् पर्वतमाला के रूप में हिमालय से भिन्न नहीं कहा जा सकता है। परवर्ती संहिताओं में यह अथर्ववेद[3] के अन्तर्गत सामान्य अर्थ में पर्वतों की उपाधि के लिए प्रयुक्त हुआ है, जबकि अन्य संहिताओं[4] में (व्यक्तिवाचक) संज्ञा के रूप में इसका उल्लेख हुआ है, जो हिमालय पर्वतमाला से अभिन्न है। नन्दलाल डे ने इसका विस्तार तिब्बत क्षेत्र तक मानते हुए इसे 'हिमाद्रि' संज्ञा दी है।[5] ऋग्वेद के एक स्थल[6] से प्रतीत होता है, उस समय भी सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र गोमती (वर्तमान गोमल) नदी के बेसिन तक हिमवन्त पर्वत का विस्तार था, किन्तु भूगोलवेत्ताओं[7] के मतानुसार इसकी इतनी ऊँचाई नहीं थी, जितनी आज है, तथा अन्य विद्वानों के अतिरिक्त प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार[8] द्वारा यह तथ्य भी पुष्ट किया गया है। प्रो० विद्यालंकार हिमवन्त (हिमालय) की संरचना को मध्यजीव द्वितीय कल्प (Mesozoicer Secondary Age) से लेकर नव्य जीव अथवा तृतीय कल्प (Tertiary Age) के बीच मानते हुए सिन्धु नदी के उद्गम क्षेत्र में मुस्ताग अथवा कराकोरम के दक्षिण (जहाँ सिन्धु पश्चिमाभिमुख होकर दक्षिण को मुड़ती है, उसके पूर्व) की ओर इसकी वृहद् श्रृंखलाओं को विस्तृत स्वीकार करते हैं।[9] टी० सी० कॉलॉकांट[10] तथा जे०

१. ऋग्वेद, १/११६/८, ११९/६, ८/३२/२६, १०/६८/१०।
२. ऋग्वेद, १०/१२१/४—"यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।"
३. अथर्व वेद, १२/१/११।
४. तैत्ति० सं०, ५/५/११/१, वाजस० सं० २४/३०, २५/१२।
५. द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, कलकत्ता, १८९९, पेज २८।
६. ऋग्वेद, ५/६१/१९—"एष क्षेति रथवीति मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः।"
७. मोडर्न रिव्यु, वा० ११३, नं० ३, मार्च १९६३, पेज २१०-१५ (डा० एस० एस० भट्टाचार्य-"ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया," शीर्षक लेख)।
८. भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, लाहौर, सं० १९८२, पृ० ७७।
९. भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, पृ० ७ तथा ७७।
१०. चैम्बर्स वर्ल्ड गजेटियर ऐण्ड ज्याग्राफिकल डिक्शनरी, लंदन, १९५९, पेज ३१५।

ओ० थॉर्न भी इसे प्रधानतः टर्शियरीयुगीन (अन्य पर्वतों की अपेक्षा नवीन) मानते हुए उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की प्राचीन जातियों के लिए सीमानिर्धारक पर्वत प्रतिपादित करते हैं। हिमवन्त अथवा हिमालय, जिसका ऋग्वेद (१/१२१/४) में उल्लेख है, सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर-पश्चिम की अपेक्षा उत्तरी भाग[1] में विस्तृत होने से 'उत्तर-गिरि'[2] के रूप में भी सुपरिचित रहा है तथा उसका ई० जे० रैप्सन द्वारा भी सम्यक् विवेचन किया गया है। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[3] के मतानुसार भी 'उत्तरगिरि' हिमालय ही है।

हिमवन्त पर्वत का विस्तार अत्यन्त व्यापक रहा है किन्तु आज की अपेक्षा इसकी ऊँचाई ऋग्वेदिक काल में कम थी।[4] सिन्धु नदी के उद्गम क्षेत्र से दक्षिण पूर्व की ओर इसकी विशाल श्रृंखलाएँ प्रारम्भ होती हैं, जो सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर-पूर्व के विस्तार से भी और आगे पूर्व को बढ़ गई थी। ऋषि वामदेव द्वारा एक ऋचा[5] के अन्तर्गत 'बृहत पर्वत' के रूप में हिमवन्त के ही व्यापक अवरोधक स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है जहाँ इन्द्र द्वारा (बृहत पर्वत पर) शम्बर का वध किया गया था। ऋग्वेद ८/७७/३ में नोधा गौतम पुत्र[6] ने भी इसे इसी रूप में वर्णित किया है। इस सम्बन्ध में श्री राहुल सांकृत्यायन[7] की अवधारणा है कि उस समय 'बृहत् पर्वत' हिमालय को कहा जाता था, जो परुष्णी (रावी) तथा शुतुद्रि-विपाश (सतलज-व्यास) के पास कांगड़े का बड़ा पर्वत हिमालय ही था तथा शिवालिक का छोटा पर्वत उसी से मिला हुआ था, जो आज भी अलग नहीं समझा जाता। 'बृहत् पर्वत' के रूप में यह हिमवन्त आज भी भौगोलिकों तथा भूगर्भशास्त्रियों द्वारा महाहिमालय (Great Himalaya—ग्रेट हिमालय) नाम से अभिहित किया जाता है। भूतत्त्ववेत्ता डॉ० एम० एस० कृष्णन् के मतानुसार[8] महाविद्यालय की संरचना अवसाद शिलाओं (Sedi-

---

१. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, वा० फर्स्ट, देलही, १९६२, पेज ७२, (ई० जे० रैप्सन)।
२. शतपथ ब्राह्मण—१/८/१/६ जल-प्लावन के समय 'मनोरवसर्पण' उत्तरगिरि (हिमालय पर हुआ था)।
३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० १२२ (उत्तरगिरि हिमालय)।
४. मौडर्न रिव्यू, वा० ११३, नं० ३, पे० २१०-१५।
५. ऋग्वेद, ४/३०/१४—बृहतः पर्वतादधि।
६. ऋग्वेद, ८/७७/३ न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त····।
७. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, प्रथम सं०, पृ० १०२-१०३।
८. भारतीय भूतत्त्व की भूमिका—डा० एम० एस० कृष्णन् (अनूदित) मद्रास, १९५५, पृ० ५।

mentary Rocks—सेडीमेण्ट्री रॉक्स) के अवसादों से हुई है, जिनके बीच-बीच में बड़ी मात्रा में ग्रेनिटीय शिलाएँ छिरी हुई है, किन्तु लघु हिमालय (शिवालिक हिमालय) का निर्माण तृतीय कल्प[1] के अवसादों से हुआ है। डब्लू० जी० मूर[2] ने हिमवन्त को परत-दार पर्वत (folded Mountain—फोल्डेड माउण्टेन) कहा है।

डी० एन० वाडिया[3] प्रभृति प्रमुख भूगर्भशास्त्रियों द्वारा भी हिमालय की उत्पत्ति टर्शियरी-युगीन विस्तृत भू-द्रोणी (जिसे टेथिस नाम दिया गया है) से प्रतिपादित की गई है। यह तथ्य ऋग्वेद के कतिपय स्थलों में प्राप्त संकेतों[4] से भी सिद्ध होता है। महान् हिमवन्त पर्वत की ही अनन्त गगनचुम्बी[5] चोटियाँ हिममण्डित होने के कारण सप्तसैन्धव प्रदेश की विपाट्, शुतुद्री आदि अनेक नदियों की जन्मदायिनी[6] रही है। यही पर्वत सोमादि ओषधियों[7] का परम स्रोत रहा, साथ ही साथ सप्त-सैन्धव प्रदेश के शत्रुओं के लिए अविचल और अलंघ्य[8] होकर आर्यों की समृद्धि का रक्षक बना रहा।

---

१. तृतीय कल्प—टर्शियरी एज से भिन्न नहीं है, हिमालय का उठाव अन्तिम रूप से इसी युग में हुआ था। (भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार, लाहौर, सं० १९८२, पृ० ७।)
२. ए डिक्शनरी आफ ज्याग्राफी, डब्लू० जी० मूर, (पेनगुइन बुक्स) पेज ७८ (भूकम्पों के कारण हिमालय फोल्डेड माउन्टेन्स है।)
३. ज्योलोजी आफ इंडिया, डी० एन० वाडिया, पेज २८। द क्वार्टर्ली जर्नल आफ द ज्योलोजिकल माइनिंग ऐण्ड मेटालुरजिकल सोसाइटी आफ इंडिया, दिसम्बर, १९३२ में प्रकाशित—'द टेरिशियरी ज्योसिनक्लाइन ऑफ नौर्थ वेस्ट पंजाब ऐण्ड हिस्ट्री ऑफ द क्वार्टरनरी अर्थ मूवमेन्ट्स ऐण्ड ड्रेनेज ऑफ दी गैन्गेटिक ट्रफ' शीर्षक लेख (लेखक डी० एन० वाडिया)। "द हिमालियन अपलिफ्ट सिन्स द ऐडवेन्ट आफ मेन, इट्स कल्ट हिस्टोरिकल सिग्नीफिकेन्स"—लेखक डा० बीरबल साहनी का प्रकाशित लेख, करेन्ट साइन्स, अगस्त, १९३६।
४. ऋग्वेद, २/१२/२३, २/६७/५।
५. ऋग्वेद, ५/८७/९—ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि ।
६. ऋग्वेद, ३/३३/१—"प्र पर्वतानामुशती···विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।"
७. ऋग्वेद, ५/८५/२—"वाज पर्वत्सु०···।"
८. ऋग्वेद, ५/५६/१ "न पर्वता निनमे तस्थिवांसः" ऋग्वेद, ६/५२/४ 'अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासो···।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी भू-भाग के पर्वतों में हिमवंत अथवा हिमाद्रि (हिमालय), जिसे शतपथ ब्राह्मण (१/८/१/६) में 'उत्तरगिरि' कहा गया है, अन्यतम स्थान रखता है। यही कारण है, पौराणिक-साहित्य के अतिरिक्त परवर्ती लौकिक संस्कृत के कालिदास जैसे मूर्धन्य महाकवियों द्वारा श्रद्धापूर्वक इसे 'नगाधिराज' उपाधि से विभूषित किया गया है। (कुमार सम्भव १/१ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः)। वैदिक आर्यजन भी इसे कम आदरपूर्वक नहीं देखते थे, उन्होंने इसका भौगोलिक, राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक महत्त्व भली-भाँति समझा था। इसी की लौहतुल्य दृढ़ कन्दराओं (दुर्गों) में रहने वाले शम्बर आदि दस्युओं को ४० वर्षों में बड़ी कठिनता से आर्य समाप्त कर उन पर अपना अधिकार कर सके थे।[१]

मूजवान् (मूजवन्त) पर्वत—समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश में यह पर्वत सोमोत्पत्ति के लिए सुप्रसिद्ध था तथा ऋग्वेद में इसका उल्लेख[२] भी हुआ है। अथर्ववेद[३] के अन्तर्गत गांधारियों और वाह्लीकों के साथ में उन सुदूरवासी मूजवन्त जाति के लोगों को भी गिनाया गया है, जिससे प्रतीत होता है, ये मूजवान् पर्वत पर निवास करते थे जो गान्धार तथा वाह्लीक देश से दूर अवस्थित नहीं था। यास्काचार्य[४] ने इसे (ऋग्वेद, १०/३४/१ में उल्लिखित मूजवान् को) पर्वत प्रतिपादित किया है तथा इस अर्थ का अनुसरण सायण[५], महीधर[६] आदि प्रमुख भारतीय भाष्यकारों ने किया है। यास्काचार्य ने मूजवन्त तथा में मुंजवन्त में कोई भेद न मानकर इन्हें समीकृत करते हुये परवर्ती[७] ग्रन्थों से उद्धरित कर हिमालय के अन्तर्गत ही अवस्थित स्वीकार किया है।

---

१. ऋग्वेद, ४/३०/१४।

२. ऋग्वेद, ५/३६/२ "सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे।" १०/३४/१ "सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः··· ।"

३. अथर्व० ५/२२/७—"तवमन् मूजवतो गच्छ वह्लिकाम् वा परस्ताम्। ५/२२/१४-"गन्धारिभ्योमूजवद्भ्योऽङ्ग्येभ्यः।"

४. निरुक्त, ९/८।

५. सायणाचार्य—ऋग्वेद १/१६१/८।

६. महीधर वाजसनेयि संहिता (उद्धृत स्थान)।

७. महाभारत, १०/७८५, १४/१८०, पाणिनि०—४/४/१० पर सिद्धान्त कौमुदी।

पाश्चात्य विद्वानों में डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ[1], हिलेब्राण्ट[2] तथा त्सिमर[3] के दृष्टिकोण से सहमत होकर मूजवान् पर्वत को कश्मीर की दक्षिणी-पश्चिमी निचली पहाड़ियों से अभिन्न मानते हैं। ई० जे० रैप्सन[4] भी इसे हिमालय (कश्मीर) का दक्षिण-पश्चिम भाग स्वीकार करते है, जो सोम उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था।

भारतीय विद्वानों में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी[5] इसे कुभा (काबुल) नदी के तट के समीप तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[6] वंक्षु नदी के दक्षिण में गलचाभाषा-भाषी मुंजान क्षेत्र के अन्तर्गत मूजवन्त को अवस्थित बताते हैं। डॉ० पी० एल० भार्गव[7] ने इसे हिन्दुकुश पर्वत से समीकृत किया है, जो सोमोत्पादक गौरी नदी के क्षेत्र से अधिक दूर नहीं है।

श्री गिरीश चन्द्र अवस्थी[8] के मतानुसार यह पर्वत कश्मीर के दक्षिण में न होकर नेपाल में है, जबकि कर्नल एम० एल० भार्गव[9] इसे हिन्दुकुश के दक्षिण-पूर्व ढालों में स्थित मानते हैं तथा श्री राहुल सांकृत्यायन[10] उत्तर-पश्चिमी सीमान्त का सोमोत्पादक पर्वत बतलाते हैं।

मूजवान् अथवा मूजवन्त जैसा कि यास्काचार्य ने समीकृत रूप में प्रयुक्त किया है, सप्तसैन्धव प्रदेश को सोम-उत्पन्न करने वाला पर्वत ही मानना चाहिये जो वंक्षु के दक्षिण में मुंजान क्षेत्र अर्थात् हिन्दुकुश पर्वत की दक्षिण-पूर्व की शृंखलाओं से भिन्न अवस्थित नहीं था। श्री एम० एल० भार्गव, डॉ० पी० एल० भार्गव तथा डॉ० अग्रवाल के मत को दृष्टि में रखते हुये यह हिन्दुकुश का द०पू० क्षेत्र हिमवन्त पर्वत का ही उत्तरी-पश्चिमी एक भाग कहा जा सकता है।

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, (अनुवादक रामकुमार राय), पृ० १८८।
२. वेदिशे माइथालॉजी, १/६३, ६५।
३. आल्टिण्डिशे लेबेन, त्सिमर, २६।
४. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वा० फर्स्ट, देलही १९६२, पे० ७२।
५. हिन्दू-सभ्यता, आर० के० मुकर्जी, चतुर्थ सं०, दिल्ली, पृ० ८७।
६. हिन्दू सभ्यता, (अनूदित) डॉ० वासुदेवशरण, पृ० ८७ (पादटिप्पणी)।
७. India in the vedic Age, 1971, Lucknow, p. 78.
८. वेद-धरातल, गिरीशचन्द्र अवस्थी, लखनऊ, २०१० वि०, ५६५।
९. द ज्याग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ, १९६४, पे० २७।
१०. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ११।

शर्यणावत् पर्वत—यद्यपि ऋग्वेद[1] के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक साहित्य[2] में इसका विवादास्पद अर्थ में प्रयोग हुआ है, तथापि कतिपय स्थलों पर[3] निश्चित् रूप से यह पर्वत के अभिधान रूप में ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद—(१/८४/१४) के आधार पर अन्य परवर्ती वैदिक ग्रन्थों[4] में भी इसे पर्वत माना गया है, जहाँ शर (शर्वण—नरकट) उगते थे और दध्यङ्ङ ऋषि के अश्व का सिर कट कर गिरा था। भाष्यकार सायणाचार्य 'शर्यणावन्त' को कुरुक्षेत्र स्थान तथा उसके पश्चिमी (जघनार्ध) भाग में स्थित एक सरोवर मानते हैं, जिसे कतिपय विद्वान्[5] सहमत होकर वहाँ की 'अन्यतः प्लाक्षा' नामक झील से संबंधित करते हैं।

अन्य पाश्चात्य विद्वानों में राथ[6] शर्यणावन् को एक झील मानते हैं, जबकि हिलेब्राण्ड[7] इसकी एक स्थान से सम्भावना करते हुए कश्मीर क्षेत्र के 'वुलर' समुद्र का प्राचीन नाम स्वीकार करते हैं, जो वैदिक काल की एक स्मृति थी।[8] लुडविग की धारणा है कि यह परवर्तीकाल की पूर्वी सरस्वती से संबंधित है।

भारतीय विद्वान् शर्यणावत् को सामान्य रूप से पर्वत ही स्वीकार करते हैं। श्री मनोहरलाल[9] भार्गव इसे वर्तमान कश्मीर-घाटी को घेरने वाला पर्वत मानते हैं, जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव[10] द्वारा उत्तरी सप्तसैन्धव प्रदेश में सुसोम एवं आर्जीक पर्वत के पास शर्यणावत् समुद्र के तट पर स्थिति निर्दिष्ट है। श्री गिरीश चन्द्र अवस्थी के मतानुसार शर्यणावत् कुरुक्षेत्र के पश्चिमार्द्ध के शर्यण नामक देश के समीपस्थ एक पर्वत है[11] जहाँ इसी नाम से प्रसिद्ध एक सर भी है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन[12]

---

१. ऋग्वेद, ८/६/३९, ६४/११, ९/६५/२२, ९/११३/१।
२. जैमिनीय ब्रा०, ३/६४। ऋग्वेद, ८/७/२९।
३. ऋग्वेद, १/८४/१४ तथा १०/३५/२।
४. शौनकीय बृहद्देवता ३/२३।
५. पिशेल—वेदिशे स्टूडियन २, २१७।
६. सेण्ट पीटर्स डिक्शनरी—व० स्था०।
७. वेदिशे माइथालॉजी १, १२६।
८. ट्रान्सलेशन ऑफ ऋग्वेद, ३/२०१।
९. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ, १९६४।
१०. India in the vedic Age, 1971. Lucknow. P. 77.
११. वेद-धरातल, लखनऊ, २०१० विक्रमीय, पृ० ६४१।
१२. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ११-१२।

शर्यणावत् को पर्वत मानते हुए इसे सुषोमा (सोहान) नदी के ऊपर वाले प्रदेश (उद्गम क्षेत्र) जो आर्जिकीया के समीप था, से संबंधित करते हैं।

डॉ० ए० सी० दास[1] तथा पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[2] की धारणा है कि सप्तसिन्धु प्रदेश का यह पर्वतीय क्षेत्र भी मैदानी भाग के समान प्राचीन आर्यों की बस्तियों से युक्त था।

शर्यणावत् के सम्बन्ध में सायणाचार्य की भ्रान्त अवधारणा का अनुसरण करते हुए प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी स्थान तथा सरोवर (झील) की जो अनिश्चयात्मक कल्पना की है, वह प्रमाणाभाव के कारण ग्रहण नहीं की जा सकती है। ऋग्वेद—१/८४/१४ तथा १०/३५/२ (दिवस्पृथिव्योरव आवृणीमहे मातृन्सिन्धून् पर्वतान्दर्यणावतः) में स्पष्टरूप से पर्वत के रूप में उल्लिखित होने के कारण डॉ० भार्गव प्रभृति अधिकांश भारतीय विद्वानों का दृष्टिकोण तथ्ययुक्त कहा जाना चाहिए। यह हिमवन्त पर्वत की उत्तर-पश्चिमी शृंखलाओं से सम्बन्धित प्रतीत होता है। मूजवान पर्वत के निकटस्थ उसके समान सोम एवं शर्यण[3] (सरकण्डा) उत्पादक कश्मीर क्षेत्र का एक प्रसिद्ध पर्वत था, जो सुषोम एवं आर्जीक पर्वत शृङ्खलाओं के भी समीपस्थ था।

आर्जीक पर्वत—इसका ऋग्वेद में आर्जीक के रूप में एकवचन[4] तथा बहुवचन[5] में प्रयोग हुआ है। एक स्थल[6] पर आर्जीकीय और अन्यत्र[7] आर्जीकीया रूप में भी आया है। सायणाचार्य आर्जीक का अर्थ ऋजीक देश का ह्रद बतलाते हैं, जिसे निराधार प्रतिपादित किया गया है।[8] दुर्गाचार्य ऋजीक को पर्वत मानते हुये व्याख्या करते हैं—"ऋजीको नाम पर्वतः तस्मात् प्रभवति तद्धितेन" इसके आधार पर श्री

---

१. ऋग्वैदिक इंडिया, कलकत्ता, १९३३, पेज ७३।
२. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, दिल्ली, १९६७, पृ० १११।
३. शर्यण—नरकट शब्दार्थ के आधार पर राथ नरकट की झाड़ियों से इसे आच्छादित (जल अथवा सरोवर) मानते है, सेंट पीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०।
अतः बहुत संभव है, इसकी उपत्यका में इसी 'शर्यणावत्' नाम का समुद्र अथवा सरोवर भी हो। इस आधार पर डॉ० पी० एल० भार्गव की अवधारणा तथ्ययुक्त प्रतीत होती है।
४. ऋग्वेद, ८/७/२९, ९/११३/२।
५. ऋग्वेद, ९/६५/२३।
६. ऋग्वेद, ८/६४/११।
७. ऋग्वेद १०/७५/५।
८. हिन्दी विश्वकोष, प्रथमावृति, कलकत्ता, पृ० ३८।

गिरीशचन्द्र अवस्थी[1] ऋजीक को व्यास के उद्गम का पर्वत तथा आर्जीक को उसके समीप का देश स्वीकार करते हैं। डॉ० पी० एल० भार्गव[2], एम० एल० भार्गव[3] आर्जीक को वह पर्वत सिद्ध करते हैं, जिससे आर्जीकीया (हारो) नदी निकलती है। प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् इसे जाति अथवा देश मानते हैं। मैक्डानेल[4] तथा कीथ आर्जीक अथवा आर्जीकीय को देश या जाति का द्योतक तथा आर्जीकीया को उस देश की नदी बतलाते है। पिशेल[5] आर्जीक को अनिश्चित् स्थितिवाला देश तथा हिलेब्राण्ट[6] अरियन (अनाबेसिस—५-२९-४) के आधार पर इसे कश्मीर के समीप का देश स्वीकार करते हैं। ग्रासमैन ने यास्क[7] के अर्थ का अनुसरण करते हुये इसे विपाश (व्यास) कहा है, जो नदी सूक्त (१०/७५) के अनुसार यह विचार नितान्त तथ्यहीन हो जाता है।[8]

ऋग्वेद में (८/७/२९) में जहाँ एकवचन में आर्जीक का प्रयोग हुआ है, निश्चित रूप से उस पर्वत के लिए है, जिससे आर्जीकीया (हारो) नदी निकलती थी। आर्जीक जहाँ (ऋग्वेद–९/६५/२३ में) बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, वहाँ निस्सन्देह यह देश अथवा जातिवाची है। सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त में यह पर्वत वर्तमान कश्मीर क्षेत्र के पश्चिमी भाग में, Murree के उत्तर मे सुषोमा नदी (सोहान) के उद्गम क्षेत्र के समीपस्थ था। दूसरे शब्दों में आर्जीकीया (वर्तमान हारो) जो सोहान नदी के उ०-प० में बहती है, का उद्गम स्थान ही आर्जीक पर्वत कहा जाना चाहिए।

सुषोम पर्वत—यह सप्तसैधव प्रदेश का उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त का पर्वत है, जिसका आर्जीक और शर्यणावत पर्वतों के साथ ऋग्वेद[9] में उल्लेख हुआ है।

---

१. वेद धरातल, लखनऊ, सं० २०१० वि०, पृ० १२।

२. India in the vedic Age, 1971, Lucknow. P. 77।

३. द ज्याग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ, १९६४।

४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनु० रामकुमार राय) बनारस, पृ० ७०।

५. वेदिशे स्टूडियन २, २०९, २१७। ६. वेदिशे माइथोलोजी १,१२६-१३७।

७. निरुक्त—९/२६।

८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ७०।

९. ऋग्वेद, ८/७/२९—'सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति।

यद्यपि ऋग्वेद (१०/७५/५) में 'सुषोमा' के उल्लेख को आचार्य यास्क के आधार[1] पर रॉथ[2], मेगस्थनीज[3] आदि सुषोमा का अभिप्राय 'सोम-पाल' ग्रहण करते हैं, तथापि दुर्गाचार्य की व्याख्या (सुषोमा सिन्धुः सा कस्मात् यदेनामभिप्रस्रुवन्ति अभिगच्छन्ति अन्य प्रभूता नद्यः।) के आधार पर एन० एल० डे०,[4] जयचन्द्र विद्यालंकार,[5] राहुल-सांकृत्यायन[6] प्रभृति विद्वानों ने सिन्धु अथवा सिन्धु की सहायक नदी सोहान स्वीकार किया है। ऋग्वेद (८/७/२९) में उल्लिखित सुषोम पर्वत से यही सुषोमा (सोहान) नदी निकलकर वर्तमान रावलपिण्डी की तराई से होती हुई अटक से कुछ नीचे सिन्धु में गिरती है।

डॉ० पी० एल० भार्गव[7] ने सुषोम पर्वत को सुषोमा (सोहान) का उद्गम-स्थल मानकर झेलम घाटी के पश्चिम मरी (Murree) के दक्षिण में निर्दिष्ट किया है। एम०एल० भार्गव[8] के मतानुसार भी सुषोमा (वर्तमान सोहान) नदी का उद्गम स्थान, जो झेलम के पश्चिम में मरी के दक्षिण की पर्वत शृङ्खला से भिन्न नहीं है, को सुषोम पर्वत कहा जा सकता है। प्रतीत होता है, यह पर्वत भी अन्य उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त पर्वतों के समान हिमशिखरों के साथ ही सोमादि वनस्पतियों के लिये उस समय विख्यात था।

उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी पर्वतमाला के अतिरिक्त आर्य सप्तसैन्धव प्रदेश की पश्चिमी पर्वत श्रेणी से सम्बन्धित शिलामान् पर्वत जो वर्तमान सुलेमान शृङ्खलाओं से भिन्न नहीं है, से सुपरिचित थे।[9] ऋग्वेद में अ-प्रत्यक्ष रूप से यह शिलामान पर्वत शिलमावती नदी के उद्गम स्थान के रूप में उल्लिखित हुआ है।[10] श्री राहुल सांकृत्यायन[11] ने इसे 'कृष्णगिरि' की संज्ञा दी है। प्रतीत होता है, इसकी संरचना शिलाओं (चट्टानों) से होते हुए भी इस पर सीलमा आदि पौधों की

---

१. निरुक्त, ९/२६। २. सेण्ट पीटर्स बर्ग डिक्शनरी, वर्ण स्थान।
३. एरिअन इण्डिका, ४/१२, तुलनीय—स्वानबेक मेगस्थनीज ३१।
४. द ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंशियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, पेज १९८।
५. भारत भूमि और उसके निवासी, प्रथम सं०, पृ० ३३।
६. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ९-११।
७. India in the vedic Age, 1971, 2ed Lucknow P. 77.
८. द ज्याग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पेज २१।
९. ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि—पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, पृ० ७९।
१०. ऋग्वेद, १०/७५/८।
११. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ११।

वनस्पति भी पर्याप्त पायी जाती थी तथा सप्तसैन्धव प्रदेश के पश्चिमी समुद्र-तट तक इन पर्वत-शृंखलाओं का विस्तार था।

सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्य पर्वतीय भूभाग में सिन्धु उपत्यका से सम्बन्धित सैन्धव पर्वत (नमक का पहाड़) तथा दक्षिण-पूर्व में अर्बुद पर्वत (अरावली) जो पौराणिक साहित्य[1] में पारियात्र के नाम से वर्णित हुआ है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सैन्धव पर्वत श्रेणी के सम्बन्ध में श्री एम० एल० भार्गव[2] का विचार है कि जिन आन्तरिक शक्तियों से पारावत (सप्तसिन्धु का पश्चिमी) समुद्र-तल उन्मज्जित हुआ था, उन्हीं आन्तरिक शक्तियों के द्वारा नमक की पहाड़ियों का उन्नयन हुआ। इसकी प्राचीनता को प्रतिपादित करते हुए श्री ओल्डहम ने कहा है कि यहाँ की नमक की पहाड़ियों के निम्न तल से प्राप्त प्राचीन जीवों के पाषाणीभूत अवशेष कैम्ब्रियन काल (Cambrian-Age, जो लगभग ५४० लाख वर्ष पूर्व का माना जाता है) के है और भारत में सबसे पुराने है।[3] ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश की भूमि में इस नमक के पहाड़ का अस्तित्व श्री राहुल सांकृत्यायन[4] भी स्वीकार करते हैं। जनरल कन्निंघम[5] ने इसके ग्रीक नाम Oromenus को ग्रहण करते हुये अपने सर्वेक्षण मानचित्र में इसे प्रदर्शित किया है तथा परवर्ती काल मे रौम पर्वत (Raum-range) श्रेणी से परिचित कराते हुये ऋग्वेद में उल्लिखित[6] रूम तथा रुशम जाति के लोगों से इसे सम्बन्धित स्वीकार किया है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश में सैन्धव पर्वत का अस्तित्व था। भले ही इसकी श्रेणियाँ उत्तर के हिमवन्त पर्वत जैसी उत्तुंग एवं हिमाच्छादित न हों, किन्तु मैदानी क्षेत्र में इसका अपना महत्त्व था। इसकी संरचना लवणयुक्त चट्टानों से हुई है, किन्तु इस लवण का उस समय लोग खाने में उपयोग करते थे, इसका ऋग्वेद में उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु कतिपय महाकाव्यों[7] के आधार पर कह सकते हैं कि सिन्धुतटीय अथवा उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्रीय अश्व इसके नमकीन शिलाखण्डों को चाटा करते थे।

---

१. मार्कण्डेय पुराण—५७/१०-११।
२. द ज्याग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ, १९६४, पे० २१।
३. मैनुअल ऑफ ज्योलाजी आफ इंडिया, १९३८, पे० १०५।
४. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ४४।
५. ऐन्शियंट ज्याग्राफी ऑफ इंडिया, मैप नं० ५, (कन्निंघम)।
६. ऋग्वेद, ५/३०/१२-२५, ८/३/१२, ८/४/२।
७. रघुवंश, ५/७३ "...लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः।"

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण-पूर्व के सीमावर्ती समुद्रतटीय भूभाग में, प्रतीत होता है, शुष्क (सूखाग्रस्त) अर्बुद पर्वत (अर्बुदावली—वर्तमान अरावली) की निचली श्रेणियाँ थीं, जिन्हें बाद में वहाँ की घनघोर वर्षा[1] ने धीरे-धीरे काट दिया तथा नदियों द्वारा बाढ़ में लाई हुई मिट्टी ने ढक लिया, जिससे यह भाग वनस्पति से सर-सब्ज होकर गाय, बकरी आदि पशुओं के लिए परम उपयोगी हो गया था। ऋग्वेद[2] में इसका प्रतीकात्मक (दैत्य) रूप से स्पष्ट उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है, इन्द्र द्वारा इसको भी अपक्षरित किया गया था। वर्तमान उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान की अर्वली पर्वतमाला सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी तटीय भाग में विद्यमान थी, इसका समर्थन भूगर्भशास्त्रियों ने अपने सर्वेक्षण के आधार पर किया है। इस सम्बन्ध मे ओल्डम[3] का विचार है कि यह उत्तरी अर्वली पर्वतमाला नदियों द्वारा लाकर जमाई हुई मिट्टी की तह के नीचे-नीचे गंगा की खाड़ी से होती हुई हिमालय से जा मिली है। इसकी ऊँचाई दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने पर धीरे-धीरे कम होती गई है जिससे उत्तरी निचले भाग तो नदी-मिट्टी से ढक गये हैं, किन्तु दक्षिण की ओर के ७०० फीट से ऊँचे भाग आज भी अर्बुद पर्वत (अरावली) के रूप में प्रत्यभिज्ञात हो सकते है।

समीक्षा इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की अधिकाश सीमान्त भूमि पर्वतीय थी, जिसमें पश्चिम, पश्चिमोत्तर तथा उत्तर के हिमवन्त, मूजवान् आदि पर्वत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण-पूर्व की सागरतटीय अर्बुद पर्वत श्रेणी, प्रतीत होता है, समुद्र धरातल से १००० फीट से अधिक ऊँची नहीं थी, कि समुद्री हवाओं (मानसून) को रोक सकती, जबकि सप्तसैन्धव प्रदेश के पश्चिम-पश्चिमोत्तर तथा उत्तर की पर्वत-श्रेणियाँ उस समय भी इतनी ऊँची थी (१८,००० फीट से अधिक ऊँची) कि उनके शिखर हिममण्डित रहते थे और मानसूनी पवनों का प्रतिरोध कर भारी वृष्टि में योग देते थे। हिमवन्त आदि अधिकाश उत्तरी पर्वतीय भूभाग शम्बर आदि दस्युओं द्वारा अधिकृत था, जबकि दक्षिण-पूर्व का अर्बुद श्रेणी से सुरक्षित समुद्रतटीय भाग, प्रतीत होता है, पणियो के प्रभुत्व में था।

स्थलीय संरचना

पर्वतों के पश्चात् स्थल की द्वितीय आकृति के अन्तर्गत स्ट्राहलर[4],

---

१. ऋग्वेद, ८,३/१९ निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गाः आजः।

२. ऋग्वेद, १०/६७/१२ – इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य विमूर्धानमभिनदर्बुदस्य।

३. मेम्वायर्स ऑफ द ज्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वॉल्यूम XLii, पेज २, ८७।

४. फिजिकल ज्यॉग्राफी, ए० एन० स्ट्राहलर, १९५१, पेज ११०।

होयट[1] प्रभृति भौगोलिकों ने पठारों को ग्रहण किया है, किन्तु सप्तसैन्धव प्रदेश की स्थलीय संरचना का ऋग्वेद के आधार पर (भौगोलिक) अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें पठारी भूमि का सर्वथा अभाव था, क्योंकि किसी भी पठार का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि इस द्वितीय स्थलाकृति के अन्तर्गत पर्वतों और मैदानी भाग के बीच की ३०० फीट से १००० फीट ऊँची तटीय कछारी भूमि को ग्रहण किया जा सकता है। सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग में अनेक नदियों द्वारा बहाकर लायी हुई मिट्टी से ऐसे ऊँचे अनेक कछारी रूपों का होना स्वाभाविक है, तथापि ऋग्वेद में शीर्षस्थान से ऊँचे गंगा नदी के 'उरुः कक्ष' नामक कछार का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[2], जो पणियों के एक बृबु नामक सरदार द्वारा अधिकृत थी।

यह कछारी पूर्वी समुद्रतटीय ऊँची पट्टी उत्तर-दक्षिण लम्बी अरावली पर्वत-माला का ही एक अंग थी, जो श्री ओल्डहम[3] के मतानुसार नदियों द्वारा जमाई हुई मिट्टी की पर्त के नीचे गंगा की खाड़ी के पास से हिमालय पर्वत से जा मिली है।

अतएव इस उरु: कक्ष (गाङ्‌ग्य कछार) की संरचना के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इसकी धरातल से ऊँची ऊपरी तह नदियों द्वारा लाई सामान्य (रेतीली एवं चिकनी) मिट्टी से तथा आन्तरिक निम्न-तल ग्रेनाइट आदि चट्टानों से निर्मित हुआ था। चट्टान-मिश्रित यह लम्बी-पूर्वी कछारी पट्टी कालान्तर में जमुना से पश्चिम तक परिवर्धित होकर अपनी असाधारण ऊँचाई के कारण जल-विभाजक (Water shed) स्थल का रूप धारण कर गई।

'सप्तसैन्धव प्रदेश' के पर्वतीय और मैदानी भूभागों की अपेक्षा इस पूर्वी समुद्रतटीय उच्च स्थल का स्वरूप स्वभावतः सर्वथा भिन्न था और भू-स्वरूपवेत्ता ऋषियों की[4] दृष्टि में इसे प्रवण अथवा निम्न न कह कर उन्नत (उद्वत) स्थल ही कहा जाना चाहिये जो पर्वत, पठार तथा मैदानों की भाँति स्थलीय प्रवाह प्रणाली (नदियों) से प्रभावित होते हुए शिपद आदि रोगों से शून्य स्वास्थ्यप्रद स्थल समझे जाते थे।

---

१. मैन, ऐण्ड द अर्थ, होइट, १९६२, पेज ७५।

२. ऋग्वेद, ६/४५/३१ "अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे—मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्‌ग्यः।

३. मेम्वायर्स ऑफ द ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वाल्यूम XLii, पेज ८७।

४. ऋग्वेद, ७/५०/४— "याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदकाश्च याः। ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः शिवा देवीरशिपदा भवन्तु।"

प्रतीत होता है, 'उरुः कक्ष' (गंगा की ऊँची कछारी भूमि) अन्य स्थलीय स्वरूपों (पर्वत, पठार तथा मैदानों) से कम नैसर्गिक साधनों से सम्पन्न नहीं था। इसकी ऊपरी परत नदियों द्वारा बहाई मिट्टी से निर्मित होने के कारण प्राकृतिक वनस्पति के अतिरिक्त प्रभूत कृषि-संपदा से सम्पन्न थी, इसके साथ ही बाह्य और आन्तरिक चट्टानी भाग बहुमूल्य खनिजों के अतिरिक्त तटीय भाग समुद्री विशाल नौकाओं को आश्रय भी प्रदान करता था। यही कारण है, इसकी प्राकृतिक स्थलीय संरचना का आर्थिक (वाणिज्यिक) तथा राजनैतिक लाभ समझते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश की अन्य प्रभावी (आर्य) जातियों को पीछे छोड़कर पणियों के नायक बृबु ने इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था तथा इसे चिरस्थायी रखने के लिए वह पुरोहित ऋषियों को सहस्रों[1] (गायों) का दान देता रहता था।

स्थल संरचना से तृतीय स्वरूप के अन्तर्गत सामान्य रूप से मैदान ग्रहण किये जाते हैं, जिसका निर्धारण भूवैज्ञानिकों ने उच्चावच (relief) एवं ढाल के अनुपात (Configuration) के आधार पर किया है। सीमैन[2] के मतानुसार मैदानों में ढाल की अपेक्षा कम उच्चावच तथा चपटापन अधिक रहता है। उसकी भूमि सामान्यतः समतल ही होती है तथा ढाल ४° से कम होता है। समुद्र-तल से मैदान प्रायः ६०० फीट तक ऊँचे पाये जाते हैं, किन्तु इसमें भौगोलिकों के द्वारा वैमत्य व्यक्त किया गया है। फिंच तथा ट्रिवार्था ने मैदानों को—समतल, असमतल, विषम (कटे-फटे) और लहरदार—चार रूपों में विभजित करते हुए इनकी स्थानीय ऊँचाई ५०० फीट से कम निर्धारित[3] की है, जबकि ई० सी० सैम्पुल द्वारा इनकी समुद्रतल से ऊँचाई दो सौ मीटर (६६० फीट) तक स्वीकार की गयी है।[4] इस दृष्टि से सप्त-सैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग का यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

सप्तसैन्धव प्रदेश से पश्चिम, उत्तर तथा पश्चिमोत्तर पर्वतीय भूभागों की

---

१. ऋग्वेद, ७/४५/३२—"यस्य···रातिः सहस्रिणी। सद्यो दानाय मंहते।" ६/४५/३३ बृबुं सहस्रदाः···।

२. फिजिकल ज्यॉग्राफी सीमैन, पृ० १५५—'प्लेन्स हैव लो रेलीफ ऐण्ड हैव मोर फ्लैट लैण्ड दैन स्लोप।'

३. इलीमेन्ट ऑफ ज्यॉग्राफी—फिन्च ऐण्ड ट्रिवार्था, पेज २५७।

४. इन्फ्लूएन्सेज ऑफ ज्यॉग्राफिक इन्वायरेनमेन्ट—ई० सी० सैम्पुल १९११—पेज ४७६।

अपेक्षा मैदानी भाग की ऊँचाई नगण्य थी तथा इसकी गणना निचले स्थलों[1] के अन्तर्गत की जाती थी जिसमें होकर अनेक नदियाँ बहती थीं। सरस्वती[2] आदि प्रमुख नदियों की लहरों द्वारा पर्वतों की शृंखलाओं को तोड़ने पर यही ऊँचे स्थलों की प्रवाह के साथ बहाकर लाई मिट्टी से ही सप्तसैन्धव के मैदानी भाग को स्वरूप प्राप्त हुआ है। इस प्रकार नदियों द्वारा बाढ़ जल के साथ लाये तथा जमा किये तल-छट मे संरचना होने के कारण ऐसे मैदानों का जलोढ़मैदान (Alluvial plains) अथवा बाढ़ के मैदान (flood-plains) कहा जाता है। डॉ० एस० डी० कौशिक[3] के मतानुसार भी सिन्धु सतलज के मैदान जलोढ़ हैं तथा ये स्वरूप में समतल पाये जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि सप्तसैन्धव प्रदेश का समस्त मैदानी भाग जलोढ़ (Alluvial-plains) था। हिमवन्त, मूजवन्त आदि पर्वतों की पादवर्तिनी उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तरी मैदानी पतली पट्टी काँप पंखों (Alluvial fans) के प्रसार के फलस्वरूप[4] भी निर्मित हुई। अतः इस पर्वतीय भू-भाग के समीपस्थ मैदान को सप्तसिन्धु प्रदेशीय गिरिपद मैदान (Pied mont-plain) कहा जा सकता है।

सप्तसैन्धव प्रदेश का दक्षिणी मैदानी भाग, प्रतीत होता है कि पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों एवं नदियों द्वारा निरंतर मिट्टी जमा करने के कारण ही अस्तित्व में आया। इस सम्बन्ध में भू-गर्भशास्त्रियों की भी धारणा है कि यह भू-भाग समुद्र-गर्भ से बाहर निकला तथा अवशिष्ट समुद्री भाप से प्रभावित होकर वृष्टि-सम्पन्न[5] रहता था। सागर के आंतरिक तट के उत्क्षिप्त रूप में ऐसे मैदानों को ए०के० लोबेक[6], टी० जी० वार्स्टेस्टर[7] प्रभृति विद्वानों ने आन्तरिक मैदान (Interior plain) अथवा 'डायास्ट्रोफिक मैदान' की संज्ञा दी है।

'सप्तसैन्धव प्रदेश' के समुद्रतटीय भागों में जो संकीर्ण तट-रेखा के रूप में दक्षिण में पश्चिम से पूर्व तक फैला था, तटीय मैदान (Coastal-plain) के रूप

---

१. ऋग्वेद, ७/५०/४—या० प्रवतो निवत उद्वतो उदन्वती···।
२. ऋग्वेद, ६/६१/२—'इयं शुष्मेभि···सानुगिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। (७/६५/१,३,५)
३. मानव भूगोल, मेरठ, तृतीय, पृ० २८६।
४. डॉ० एस० डी० कौशिक—मानव भूगोल, मेरठ, पृ० २८६।
५. वाडियाज ज्योलोजी ऑफ इंडिया, १९१९, पृ० १५-१६ एवं २४५।
६. ज्योमॉर्फोलाजी, १९३९, पृ० ४८०-४८।
७. वही, १९५८, पृ० ५०७।

में विद्यमान था। समुद्र तथा नदियों द्वारा जमा किये रेत तथा मिट्टी से ही प्रधानतः इसकी संरचना हुई थी। कहीं तो बालू की पट्टी इतनी चौड़ी दृष्टिगोचर होती थी कि वहाँ रेगिस्तान ही प्रतीत होता था। ऐसे स्थल को ऋग्वेद में 'धन्व' की संज्ञा दी गयी है तथा इसका अनेक स्थलों पर[1] उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है कि यह सप्त-सैन्धव प्रदेश का तटीय मैदानी भाग तीन रेतीली पट्टियों से युक्त था, जिसका स्पष्ट संकेत किया गया है।[2] इस रेतीली भूमि में कभी वायु हित[3] वर्षा होती थी तो कभी अन्य मैदानी भागों के समान ही सामान्य वर्षा होती थी जिससे जल पाकर समस्त तृषित प्राणी शान्ति[4] लाभ करते थे। सामान्य रूप से यह भूभाग अनुर्वर ही था किन्तु पर्जन्यों से मूसलाधार वृष्टि पाकर नदियों की बहा कर लायी गयी मिट्टी से उर्वर भी हो जाता था।[5] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह भूभाग सदैव वृष्टि लाभ कर हरा-भरा रहता था। यह जलाभाव से सूखा-ग्रस्त भी रहता था तथा जीव-जन्तु तृषित रहते थे।[6] इस मरुस्थलीय भूमि में गमनागमन (सवारी) के लिये ऊँट[7] तथा घोड़ों[8] का उपयोग होता था। यहाँ की यात्रा का एकमात्र अवलम्ब जल ही था[9], जिसके लिये देवों से सदैव मंगल-कामना[10] की गयी है।

यह रेतीली (मैदानी) पट्टी सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी (वर्तमान सिन्ध क्षेत्र)[11] तटीय भाग में थी। इसका विस्तार प्रतीत होता है कि आज जैसा बहुत व्यापक नहीं था, क्योंकि ऋग्वेद में हमें 'महा धन्व' का उल्लेख नहीं मिलता है। श्री

---

१. ऋग्वेद, १/३५/८, १/३८/७, ८५/१०, ११६/४, १/१३५/९, ४/१७/२, ११/७, ५/८३/१०, ६/१२/५, ३४/४, ६/६२/२, ८/९१/६, ४/७९/३, १०/६३/१५, ८६/२०।

२. 'त्री धन्व योजना सप्तसिन्धून्…।' ३. ऋग्वेद, १/३८/७—धन्वन्निदा।

४. ऋग्वेद, ४/१९/७—धन्वान्यज्रां अपृणतृषाणां।

५. ऋग्वेद, ५/८३/१०।

६. ऋग्वेद, ९/७३/३—धन्वन्न तृष्णा समरीत तां अभि…।

७. ऋग्वेद, १/१३८/२, ८/५/३७, ६/४८, १०/१०६/२।

८. ऋग्वेद, ६/६२/२—'ध्वान्यति याथो अज्रान्।

९. ऋग्वेद, ६/३४/४—'अनं न धन्वन्नभि स यदापः… ।'

१०. ऋग्वेद, १०/६३/१५—'स्वस्ति न पथ्यासु धन्वसु… ।'

११. India in the vedic Age, P. L. Bhargava, 1971, Lucknow, P. 78।

राहुल सांकृत्यायन[1] का भी इस सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। सप्तसैन्धव प्रदेश का मध्यवर्ती मैदानी भाग जो सिन्धु से लेकर सरस्वती के आगे यमुना नदी तक फैला हुआ था, नदियो की बहाकर लाई हुई मिट्टी की परतों से निर्मित हुआ तथा अत्यन्त उपजाऊ समझा जाता था। इस दक्षिणी तटीय (रेगिस्तानी) मैदान से इस मध्यवर्ती कृषि योग्य उपजाऊ मैदान का अन्तर अनेक योजनों का था।[2] इन मध्यवर्ती मैदानो की सघन वनस्पति (जंगलों) में कभी-कभी दावाग्नि लग जाती थी जो इस दक्षिणी रेतीली तटीय भूमि तक फैल जाती थी।[3]

इस दक्षिणी पट्टी में जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत वनस्पति भी विद्यमान होती, वहाँ बैल आदि[4] पशु पाले जाते थे और मानव-बस्तियाँ बस जाती थीं, तथा वृष्टिजल अथवा जलाशयों के आश्रित न रह कर कुओं[5] की व्यवस्था कर लेते थे।

सप्तसैन्धव प्रदेश का मध्यवर्ती मैदानी भाग अत्यन्त विस्तृत और उपजाऊ था तथा इसका स्वरूप समतल था। कृषि के उपयोग के अतिरिक्त प्रतीत होता है कि यह कहीं-कहीं घास के मैदान[6] के रूप में जिसका पशुओं के चरागाह के रूप में उपयोग होता था, दृष्टिगत होता है। यह मैदानी भाग सामान्यतः आकार में समतल होने पर भी कहीं-कहीं बड़ी नदियो की घाटियों अथवा कगारों से ऊँचा-नीचा पाया जाता था। कभी-कभी युद्धादि अवसरों पर गमनागमन में ऐसे स्थलो पर अवरोध उपस्थित होने पर नदियों की ऊँची कगारों को खोदकर समतल भी बनाया जाता था। सुदास के शत्रुओं के द्वारा परुष्णी (रावी) नदी की उत्तुंग कगारों को इसी अभिप्राय से ढहा दिया गया था[7] तथा इन्द्र ने भी उसके किनारों को ठीक किया था (मूसलाधार वर्षा से नैसर्गिक रूप से तट कट गये थे)।[8]

यह मैदानी भाग नदियों के मध्यवर्ती प्रवाह मार्ग में पड़ने के कारण उनसे

---

१. ऋग्वैदिक आर्य १९५७, इलाहाबाद, पृ० १२।
२. ऋग्वेद, १०/८६/२०—'धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्तावि योजना।'
३. ऋग्वेद, ६/१२/५····'सद्यो यः···न तायुरति धन्वाराट्।'
४. ऋग्वेद, १/१३५/९—धन्वन्निचद्ये अनाशवो···गिरौकसः।
५. ऋग्वेद, १/११६/९···क्षु रन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमाय।
६. ऋग्वेद, १/३८/५—'मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्य।'
७. ऋग्वेद, ७/१८/८—'दुराध्यो···विषग्रुभ्रे परुष्णीम्।'
८. ऋग्वेद, ७/१८/९—'ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम।'

पूर्णतया अभिसिंचित[1] होकर शस्य संपन्न रहा। डॉ० ए० सी० दास[2] भी इसे निचला मैदान (Lower-plain) कहते हुये नदियों से सींचे जाने के कारण उपजाऊ बतलाते हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश का समस्त मैदानी भाग इस प्रकार तीन रूपों में (उत्तर का गिरिपदीय मैदान, मध्य का जलोढ़ मैदान तथा दक्षिण का तटीय एवं रेतीला मैदान) विभाजित किया जा सकता है। इसका ढाल सामान्यत: उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम को चार अक्षांश ४° से अधिक नहीं था। इस मैदान के उत्तर-पश्चिम भाग का ढाल (सिंधु-घाटी) उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को था, यह संबंधित नदियों के प्रवाह मार्ग के आधार पर ज्ञात होता है।

यह मैदानी भाग उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर में अविच्छिन्न उत्तुंग पर्वतीय शृंखलाओं के प्राकृतिक अवरोधों (नेचुरल बैरियर्स) से सुरक्षित होने के कारण निर्बाध स्थल मार्गों के अतिरिक्त जलमार्गों के वाणिज्यिक क्रिया-कलापों (व्यापार आदि) तथा ऋषियों के वैचारिक आदान-प्रदान से उत्कृष्ट संस्कृति एवं सभ्यता का जन्मदाता बना। प्राय: संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ मैदानी भागों में ही पनपती हैं जैसा कि ह्वाइट तथा रेनर का विचार है—

"Civilization was Cradled in plains and modern civilization is the child of a plain environment".[3]

सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्कृष्ट वैदिक संस्कृति भी इसी मैदानी भाग की ही अमर देन है।

समीक्षा—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश में स्थलीय संरचना के अन्तर्गत विरोधाभास पूर्ण विचित्र वैविध्य विद्यमान था। इसके पश्चिम, पश्चिमोत्तर तथा उत्तर में जहाँ हिममंडित उत्तुंग पर्वतीय शिखर-श्रेणी थी वहीं गहरे पर्वतीय गह्वर उपत्यकायें भी थीं, जहाँ लम्बे समतल (घास के) मैदान थे, वहीं ऊँचे कगारों, कछारों की कटी-फटी भूमि। जहाँ उपजाऊ खेतों से पूर्ण हरे-भरे मैदान थे वहीं घने वन उसके निकट ही रेतली, सूखी एवं अनुर्वर मरुस्थली भी पाई जाती थी। इस स्थल संरचना का उतना सही अध्ययन पुरातत्ववेत्ता, भूगर्भशास्त्रियों तथा भौगोलिकों के निष्कर्षों से नहीं किया जा सकता, जितना कि ऋग्वेद (आदि वैदिक साहित्य) में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर संभव हो सकता है।

---

१. ऋग्वेद, ३/३३/३ एनावय ..., ऋग्वेद—४/१६/७ प्राग्रुवो नभन्वो न ...।
२. ऋग्वैदिक इंडिया, कलकत्ता – २, पेज ७३।
३. ह्यूमैन ज्यॉग्राफी, १६४८—ह्वाइट ऐण्ड रेनर, पेज ३४७।

॥४॥

स्थलों के प्रवाहशील प्राकृतिक रूप
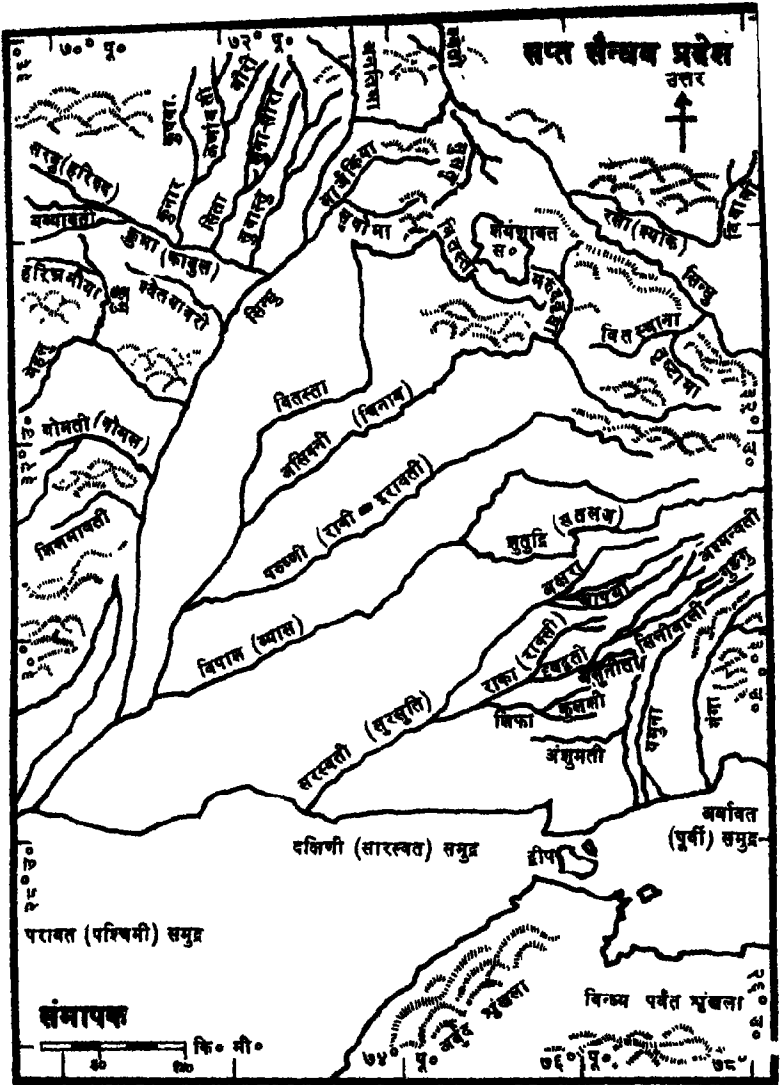
प्रवाहशील प्राकृतिक रूप (नदियाँ)

चतुर्थ अध्याय

ऋग्वैदिक स्थलों के प्रवाहशील प्राकृतिक रूप

नदियाँ एवं निर्झर

किसी भी देश की प्रवाह-प्रणाली वहाँ के स्थल की प्राकृतिक संरचना तथा स्वरूप के अतिरिक्त अन्य भौगोलिक दशाओं पर आधारित रहती है। स्थल के प्रवाहशील जलीय प्राकृतिक रूपों के अन्तर्गत नदी, नद, पर्वतीय स्रोतों (निर्झरों) आदि का अध्ययन किया जाता है। इनके स्वरूप के आधार पर ही प्रवाह-प्रणाली निर्धारित की जा सकती है। स्थल की प्राकृतिक संरचना एवं स्वरूप के साथ ही अन्य भौगोलिक दशाएं किस प्रकार प्रवाह-प्रणाली को स्वरूप प्रदान करती हैं, यह एक विचारणीय विषय है। हिमावृत्त-पर्वत-शिखर, नदियों के अक्षय्य उद्गम स्रोत, तापक्रम की दशा, अखण्ड वृष्टि आदि तत्व स्थलीय प्रवाहशील जलीय रूपों को प्रभूत प्रभावित करते हैं। इसी दृष्टिकोण के अनुसार सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रवाह-प्रणाली का यहाँ पर विवेचन किया जा रहा है।

जहाँ स्थल के प्रवाहशील जलीय प्राकृतिक रूपों (नदियों एवं नद-निर्झरों) को भौतिक दशाएँ प्रभावित करती हैं, वहाँ प्रवाहशील जलीय प्राकृतिक रूप किसी देश की स्थिति के अतिरिक्त जलवायु, प्राकृतिक वनस्पति आदि भौगोलिक वातावरण को भी प्रभावित करते हैं। इस संबंध में ई० सी० सैम्पुल का विचार है[1] कि देश की स्थिति स्वयं ही इतिहास में सैदव सबसे बड़ा भौगोलिक कारक रहा है। स्थलीय प्रवाहशील जल-राशियों में नदियों का विशिष्ट स्थान है, जिनका मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस तथ्य का[2] अनुमान इनकी अनेक मानवीय उपयोगिताओं (जल-पूर्त्ति, औद्योगिक उद्देश्यों की पूर्त्ति, भोज्यपदार्थ, मछलियाँ, कृषि-सिंचाई, नौ-परिवहन, व्यापारिक मार्ग, खनिज-लवण प्राप्ति, वायु-मंडल में आर्द्रता, बस्तियों का नियंत्रण, संस्कृति का केन्द्र (मेले आदि) प्राकृतिक सीमांकन एवं सुरक्षा) से लगाया

---

१. इन्फ्ल्यूएन्सेज ऑफ ज्योग्राफिकल इनवायरेनमेन्ट, ई० सी० सैम्पुल, १९११, पेज १२९।

२. डॉ० एस० डी० कौशिक, मानव-भूगोल, मेरठ, तृतीय सं०, पृ० ३९८।

जा सकता है। ऋग्वेद के अन्तर्गत ऋषियों द्वारा सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रवाह-प्रणाली का सुन्दर निरूपण किया गया है।

नदियों का प्रवाह-प्रकृति एवं स्वरूप

प्रथम अवस्था—नदियों की उपयोगिता तथा उनके पोषक स्वरूप को दृष्टि में रखकर आर्य नदियों को माता[१] के रूप में श्रद्धापूर्वक देखते थे। उन्हें धुनि[२], सिन्धु[३], नदी[४], सरित्[५] आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है। प्रायः मात्र प्रधान नदियों का उल्लेख[६] अनेक स्थलों पर हुआ है, जिनसे उनकी प्रवाह-प्रकृति एवं सामान्य स्वरूप का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है। प्रमुख नदियां जो (हिमवन्त) प्रभृति पर्वत अंक से निकलकर वेगपूर्वक बहती हुई समुद्र की ओर निकल चलती हैं[७] और अपने पर्वतीय उद्गम प्रदेश में जब ये नदियां अपने तीव्र प्रवाह में पर्वत तट को[८] तोड़ती है, तब मैदानी भाग में यह क्रिया स्वाभाविक ही है। प्रतीत होता है, इनके पर्वतीय उद्गम प्रदेश, चट्टानी भूखण्डों अथवा हिमानी शिलाओं द्वारा अवरुद्ध रहते थे, जो मूसलाधार वृष्टि से कट-छट कर प्राकृतिक प्रवाह-मार्ग प्राप्त कर लेते थे।[९]

---

१. ऋग्वेद, १०/३५/२—"मातन्सिन्धून०···।" ऋग्वेद, ८/९६/१—"अम्या आपो मातरः सप्त तस्थुः···"। ऋग्वेद, २/४१/६—"अम्बितमे नदीतमे···।"

२. ऋग्वेद २/३०/२—पथो रदन्ती···धुनयो वन्त्यथम्। ऋग्वेद, १/१७४/९—त्वं धुनिरिन्द्र···न स्रवन्तीः। २/१५/५।

३. ऋग्वेद, २/१२/३, १२, ५/५१/७, ६/१९/५, ६/५२/४, ८/२४/२७, ९/६६/६, ९/८८/६, ९/८६/८, १०/३५/२, १०४/७, ८/३/३५, ४/५८/७, २/११/१, ३/३६/६, ३६/७, ४/१९/५, २२/६।

४. ऋग्वेद, २/१७/३, २/४१/६, ३/३३/४, ३३/१२, ७/९६/१, ८/२६/१८, ९६/१४, १०/६४/८, ८/३१/१०।

५. सरित्, ऋग्वेद—४/५८/६, ७/२०/२। अथर्व०, १२/२/४१।

६. ऋग्वेद, २/१२/३, १२, ५/४३/१, ८/५४/७, ४१/९ ९/८६/३६ १०/४३/३, ३/१/४,६, ९/५४/१।

७. ऋग्वेद, प्र पर्वतानामुशती···पयसा जवेते।

८. ऋग्वेद, ६/६१/२, सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।

९. ऋग्वेद, २/१२/३—यो हत्वाहिमरिणात्०···१२—सततं सप्तसिन्धून्, २/१५/३ सद्मेव प्राचो वि मिमाय···।

सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय भू-भाग ही यहाँ की प्रायः सभी नदियों के उद्गम स्थल हैं, जो वर्ष के अधिकांश दिनों में हिममंडित रहते थे। शिशिर के अवसान पर ग्रीष्मकालीन सूर्य के तपने से पर्वतीय श्रृंगों की हिम पिघलने के कारण बहती नदियों के साथ ही इनसे समुद्र भी जल से परिपूर्ण हो जाता था—इस तथ्य का निरूपण निम्नलिखित ऋचा द्वारा किया गया है : —

"सिषक्ति सा वां सुमतिश्च निष्ठातापि घर्मोमनुजो दुरोण।
यो वां समुद्रान्स॰ रितः पिपर्त्ये···।"[1]

उद्गम क्षेत्रीय इसी प्रथम अवस्था के अन्तर्गत नदियाँ पतले स्रोत के रूप में रथ[2] के समान शब्द करती तीव्र[3] गति से मैदान से होकर समुद्र की ओर बहती है। अनेक स्थलों पर पर्वतीय भागों से नीचे[4] सप्तसैन्धव प्रदेश (मैदानी भाग) की ओर निसर्गतः आती इन नदियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रायः उद्गम क्षेत्र के आस-पास अनेक पर्वतीय जल-स्रोतों तूर्णाशों[5] (Streams) अथवा नदिकाओं (Rivulets) के सयोग से ही नदी का जन्म होता है,[6] सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पर्वतीय भाग की ऐसी लघु सरिताओ अथवा नदिकाओ का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। जिनका नाम निर्धारित नहीं हो सका था तथा इनकी संख्या स्वरूपानुसार २१ से लेकर ९१ तक बताई गई है।[7] महापंडित राहुल सांकृत्यायन[8] ने इन्हे नालों से भिन्न नही माना है।

१ ऋग्वेद, ७/७०/२।
२. ऋग्वेद, ३,३६/६—"प्रयत्सिन्धवः प्रसवं यथायन्नापः समुद्रं रथ्येव जग्मुः।
३. ऋग्वेद, ४ २२/६—प्र सिन्धवो जवसा चक्रमन्त।
४. ऋग्वेद, १/५७/१—अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं, १/७१/१०—अवक्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः।
५. ऋग्वेद, ८/३२/४—तूर्णाश—पहाड़ी सोता (वैदिक इण्डेक्स), निरुक्त ५/१६। दुर्गाचार्य—तूर्णाशमुदकं गिरेरधिमि···।
६. भौतिक भूगोल के तत्त्व, सी० बी० मामोरिया एवं न्याती, १९७२, आगरा, पृ० १९३।
७. ऋग्वेद, १०/६४/८—त्रिसप्त सस्रा नद्यो महीरयो, ऋग्वेद, १०/७५/१—प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्रसृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा। ऋग्वेद, १/१२१/१३, प्रास्य पारं नवतिं नाव्यानमपि कर्तमवर्तयोऽयज्यून्। १/८०/८ यते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्या अनु। ऋग्वेद, १/३२/१४—अहेर्यातारं····न च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि।
८ ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ७५, इलाहाबाद।

द्वितीय अवस्था के अन्तर्गत नदियाँ निचले मैदानी भाग की उथली घाटियों में अपेक्षाकृत अधिक विस्तारपूर्वक मन्द प्रवहमान पायी जाती हैं, जिनमें पार्श्विक अपरदन (Lateral-Erosion) के साथ ही भग्नाश्म राशि (Talus) को बहाने तथा उसको निक्षिप्त करने की क्रियाएँ होती रहती हैं।[१] सप्तसैन्धव प्रदेशीय मैदानी भाग मे बहती हुई नदियों की ऐसी प्रकृति का यथातथ्य वर्णन हमें प्राप्त होता है, जिससे उनके द्वारा पार्श्विक अपरदन[२] अथवा तटीय भ्रंश, निक्षेप एवं आस-पास की भूमि को जलपूर्ण[३] कर उपजाऊ बनाने की क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। वर्षा ऋतु में नदी तथा नदों[४] के बाढग्रस्त, उत्तुंग[५] तरंगोयुक्त भयंकर सामान्य रूप का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

तृतीय अवस्था के अन्तर्गत नदियां स्थलीय बालू, बजरी, मिट्टी आदि अपरदित पदार्थों को बहाती हुई समुद्र अथवा समुद्रतटीय डेल्टाई भाग में एकत्रित करती हैं। सतत रूप से इस निक्षेप क्रिया (मिट्टी के जमा) होने से नदी-मुहाने पर धारा अवरुद्ध हो जाती है, परिणामतः नदी को अपना प्रवाह बनाये रखने के लिए पृथक् मार्ग निर्मित करना पडता है। इस प्रकार अन्तिम अवस्था मे नदी अनेक धाराओं मे बँट जाती है तथा डेल्टा का निर्माण कर लेती है।[६] ऋग्वेद मे अनेक स्थलों पर नदियो के समुद्र मे [७]गिरने की इस अन्तिम अवस्था का सुन्दर वर्णन समुपलब्ध होता है।

इस प्रकार उद्गम क्षेत्र से लेकर सागर मे गिरने तक की नदी की अवस्थाओ

---

१. भौतिक भूगाल के तत्त्व, सो० बी० मामोरिया, १९७२, पृ० १९७, २०० ।

२. ऋग्वेद, ५/४५/२—'धन्वर्णसो नद्यः खादो अर्णा स्थूणेव सुमिता, ऋग्वेद—२/२५/३ ।

३. ऋग्वेद, ३/३३/४—"एना वय पयसा पिन्वमाना । १ ११२/१२-याभी रसाश्राद-सोदुगः पिपन्वथुस्त्रां ।

४. १/३८/८—नदं न भिन्नममुया···यन्त्यापः ।

५. ऋग्वेद, ३/३३/१२, १३, उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वा ।

६. भौतिक भूगोल के तत्त्व—सी० बी० मामोरिया, १९७२, पृ० २२८ ।

७. ऋग्वेद, १/५५/२—"सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रतिगृम्णाति विश्रिता वरीमभिः । १/५२/४—आयं पृर्णन्ति समुद्र न सुम्वः । १/१३०/५—त्व वृथा नद्य इन्द्र सर्तवे समुद्रमसृजो । १/१९०/७—स य स्तुभो वनयो नयन्ति समुद्र न स्रवतोरोधचक्राः । २/१९/२,३—समाहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छासमुद्रम् । ३/३३/२,६,७-समुद्रेण सिन्धवो यादमान···भरन्तः । ३/४६/४, ५/११/५, ६/१७/१२, ६/१९/५, ८/९२/२२ ।

एवं स्वरूप का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें प्रारम्भिक लघु जल-स्रोतों (Streams) अथवा कृत्रिम नदिकाओं[1] (Rivulets—रेवुलेट्स) के अतिरिक्त मुख्य एवं सहायक नदियों के संगम[2] का भी सामान्य उल्लेख हुआ है। सप्तसैन्धव प्रदेश के स्थल के प्रवाहशील प्राकृतिक रूपों का प्रतिनिधित्व वहाँ की सिन्धु-सरस्वती प्रभृति सप्तप्रधान नदियाँ ही करती है, जिनके साथ ही अन्य सहायक अनेक नदियों का भी ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रवाह प्रणाली निर्धारित करने वाली निम्नलिखित नदियों का विवेचन किया जा रहा है।

प्रथम वर्ग की नदियाँ : सिन्धु नदी समूह—सप्तसैन्धव प्रदेश का आधे से अधिक भाग इस सिन्धु प्रवाह प्रणाली से प्रभावित था। उ० प०, पश्चिमी तथा मध्य सप्तसैन्धव प्रदेश से संबंधित इन सभी नदियों का प्रतिनिधित्व सिन्धु तथा उसकी कुछ बडी सहायक नदियाँ करती हैं। इनका वैशिष्ट्य यह है कि धरातल के ढाल के अनुसार ये सिन्धु तथा उनके पूर्व की नदियाँ प्रायः उ० पू० से दक्षिण-पश्चिम को प्रवाहित होती है, जबकि सिन्धु के पश्चिम की सहायक नदियाँ उ० प० से दक्षिण-पूर्व को बहती दृष्टिगत होती हे।

सिन्धु—प्राचीन भारतीय विशाल एवं पवित्र नदियों में सिन्धु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः प्राचीन वैदिक साहित्य के अनेक स्थलों[3] के अतिरिक्त परवर्ती प्रमुख लौकिक संस्कृत ग्रन्थों[4] मे भी इनका उल्लेख हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद मे सिन्धु शब्द अनेक स्थलो पर[5] समुद्र के साथ ही सामान्य नदी[6] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तथापि कतिपय स्थानो पर (ऋग्वेद १०/७५/६) निश्चित् रूप से सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की सुप्रसिद्ध नदी के अभिधान के रूप मे यह उल्लिखित

---

१. ऋग्वेद, १०/४३/७—आपो न सिन्धुमभियत्समक्षरन्तसोमास इन्द्र कुल्या इव ह्रदम्।
२. ऋग्वेद, ८/६/२८—उपह्वरे गिरीणा संगमे च नदीनाम्।
३. ऋग्वेद, १/१२६/१, ५/५२/९, ८/२०/२५, २६/१८, १०/६४/९, ७५/३, ७, ८, ९। अथर्व० १४/१/४३, १९/३८/३। माध्यन्दिन स०—८/५९/१, जैमिनीय ब्राह्मण—३/८२, ३/२३७।
४. वाल्मीकीय रामायण—किष्किन्धा० ४०/२१, ४२/१५। महाभारत, सभा पर्व, दिग्विजय पर्व, ३२/८। रघु० ४/६७ मालविका० ५/१५ के पूर्व राजा—"स्वस्ति ...सिन्धोर्दक्षिणे रोधसि।"
५. ऋग्वेद, ३/३२/१६, ३/५३/९, ५/११/५।
६. ऋग्वेद, १/११/६, २७/६, २/२५/३, २/११/१, ४/२८/१ आदि।

हुई है। इसे बेहिस्तन अभिलेख के अतिरिक्त अवेस्ता में 'हिन्दु' वेंडी डाड में 'हेन्दु,' ग्रीक मे 'इण्डोस,' अंग्रेजी में इंडस तथा तिब्बती मे Khambab—खम्बाब (Lion's-mouth) कहा गया है। इस नदी के तट पर मलमल का महीन कपड़ा प्राचीन काल में निर्मित होकर बेबिलोनिया एवं असीरिया तक जाता था। अतः इस नदी के नाम पर बेबिलोनियन्स मलमल को सिन्धु कहते थे।[1] प्रतीत होता है कि यह प्राक् ऋग्वेद-कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश मे, जब हिमवन्त पर्वत शिशु-अवस्था मे था, उद्‌गम स्थल से अपनी उच्च घाटी मे दक्षिण-पश्चिमाभिमुखी प्रवाहित होकर शर्यणावत् नामक समुद्र या महासरोवर से मिलती थी। यह संभावना एम० एल० भार्गव[2] प्रभृति भूगोलवेत्ता विद्वानों द्वारा भी की गई है। कालान्तर में हिमवन्त अवस्थित उत्तरी सप्त-सैन्धव प्रदेश मे भौगर्भिक एव अन्य भौतिक परिवर्तनों के कारण सिन्धु की ऊपरी घाटी मे प्रवाह-प्रणाली भी परिवर्तित हो गई। परिणामतः यह दक्षिण-पश्चिम की ओर न बह कर उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगी। ऋग्वेद की एक ऋचा[3] के द्वारा इस तथ्य का स्पष्ट उद्‌घाटन हुआ है।

अलबेरूनी के अनुसार चेनाव (असिक्नी) नदी के संगम के पूर्व तक सिन्धु के केवल ऊपरी प्रवाह को ही सिन्धु नदी कहा जाता था, उस स्थल के नीचे अरोर तक इसे पंचनद तथा अरोर से समुद्र तक इसके प्रवाह को 'मिहरान' कहा जाता था।[4]

भूगर्भवेत्ताओं एव भौगोलिकों ने इसकी ऊपरी घाटी मे लेह के समीप भूगर्भीय उपद्रवों (Slismic-disturbances) के कारण इसके परिवर्तित प्रवाह-पथ को निरूपित किया है।[5] ऋग्वेदकालीन सिन्धु नदी तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, कुभा, क्रुमु आदि अपनी सहायक नदियो का जल लिए हुए पश्चिमी (पारावत) समुद्र मे गिरती थी। किन्तु अब इसका स्वरूप काफी भिन्न (विशाल) है। यह हिमालय पर्वत के उत्तरी ढाल पर पश्चिमी तिब्बत क्षेत्र मे अवस्थित कैलास पर्वत की एक पश्चिमी शृंखला, जो १६८४१ फीट की ऊँचाई पर प्रधान हिमालयीय ढाल से सम्बन्धित बोखारचू (Bokharchu) नामक ग्लेशियर के समीप (३१-१५ अक्षांस-८१°-४०फीट पूर्वी देशान्तर) से निकल कर

---

१. रिगोजिन्स, वैदिक इंडिया, पेज ३०६।

२. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ, १६६४, पेज १२२।

३. ऋग्वेद, २/१५/६—सोदञ्च सिन्धुमरिणान्महित्वा।

४. द्रष्टव्य—इंडिया, फर्स्ट वा०, पेज २६०।

५. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, एम० एल० भार्गव, लखनऊ, १६६४, पेज १२२।

६. ऋग्वेद, १०/७५/६ तथा ५/५३/६।

काराकोरम तथा हिमालय के लगभग १०००० फीट गहरे मार्ग से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। गिलगित के समीप सिन्धु दक्षिण-पश्चिम को अपना मोड़ लेकर हिन्दुकुश प० (पश्चिमी सीमान्त हिमालयीय प्रदेश) को पार करती है। इसके उद्गम से ८६० मील तथा मुहाने से ६४० मील दूर कश्मीर घाटी के पश्चिम अटक के समीप कुभा (काबुल)[1] अपना तथा अपनी सहायक सुवास्तु (स्वात) का भी जल इसी को सौंप देती है तथा यहीं से इसका पर्वतीय तीन मील, उत्तुग, भयकर कगारो वाले मार्ग का भी मोह छूट जाता है। अतः यहाँ से काला बाग तक इसके प्रवाह मे बहुत क्षोभ-उद्वेग दृष्टिगत होता है। दक्षिण तटीय भाग मे इसकी अन्य सहायक नदियो मे क्रुमु (कुर्रम) अपनी सहायक टोची के साथ, गोमती (गोमल) अपनी सहायक जोब को लेकर देरा-इस्माइलखाँ के समीप इससे मिलती है।

सिन्धु की वामतटीय प्रधान नदियो मे राक्षसताल[2] से निकलने वाली शुतुद्रि[3] (सतलज) नदी है जिसके दक्षिण तट पर विपाश[4] (व्यास) तत्पश्चात् असिक्नी (चेनाब) अपनी दाहिनो ओर की सहायक वितस्ता (झेलम) नदी, बाये ओर की सहायक परुष्णी (रावी) का साथ लेकर 'पचनद' का रूप धारण करती है। ६० मील तक प्रवाहित होने के पश्चात् यह पचनद प्रवाह सिन्धु के बाये किनारे से जा मिलता है। इस प्रकार वर्तमानकालीन सिन्धु नदी अपने उद्गम स्थान से १८०० मील का मार्ग पार कर ३७३०८० वर्गमील का बेसिन बनाती हुई हैदराबाद के नीचे ३००० वर्गमील के क्षेत्र मे अपना डेल्टा निर्मित करती है, जो बहुत ही उजाड़ और निर्जन है, जहा दलदल और गोरन के आगे केवल जगली घास और पाधे होते हैं।

सिन्धु प्रदेशीय चौडी, शुष्क तथा गहरी घाटियो को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन सिन्धु नदी अपनी धारा को प्रभूत मात्रा मे परिवर्तित करती रही है। आज की अपेक्षा ऋग्वैदिक काल मे सिन्धु आदि नदिया की घाटियाँ इतनी गहरी नही थी तथा धरातल की ऊँची सतह पर बहती थी, यह तथ्य अन्य भूगाल-

---

१. हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड, वाल्यूम २, पेज ६७।
२. भारत-भारती मान-चित्रावली, मेरठ, पृ० २६, २८, मानसरोवर के पश्चिम मे अवस्थित झील।
३. ऋग्वेद, १०/७५/५—"इमे मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं सचता परुष्ण्या।"
४. ऋग्वेद, ३/१३/१—प्रपर्वतानामुशती···विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते। ३/३३/३, १२ आदि।

विदों[1] द्वारा भी व्यक्त हुआ है। किसी समय इसका डेल्टा और आगे दक्षिण-पूर्व (कच्छ की खाड़ी) में था।[2] ऋग्वेदकालीन सिन्धु का स्वरूप तो और भी संकुचित होगा। इस सन्दर्भ में ले० कर्नल एम० एल० भार्गव का दृष्टिकोण सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि यह ऋग्वेद के समय गोमती (गोमल) संगम के बाद पारावत (दक्षिणी-पश्चिमी) समुद्र में उस स्थल पर मिलती होगी जहाँ वर्तमान दरियाखान अथवा देरा-इस्माइलखाँ तथा मियाँ वाली जिलों की सीमाएँ हैं।

जैसा भी इसका प्राचीन स्वरूप रहा हो, इतना तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वृहत्तर सप्तसैन्धव प्रदेश (आर्यावर्त) की यह मेरुदण्ड थी। अतः ऋग्वेद[3] के नदी सूक्त में इसकी बहुत प्रशंसा हुई है, जहाँ इसे हरे-भरे प्रदेश की ओर जाने वाली नदियों में श्रेष्ठ,[4] अच्छे घोड़ों वाला, अच्छे वस्त्रों एवं ऊन वाली[5] बताया गया है। इसके तट पर घोड़े, भेड़ें तथा भेड़ों से उत्पन्न ऊन अथवा ऊनी वस्त्रों की प्रचुरता व्यक्त होती है। अन्य स्थलो पर भी सिन्धु को माता[6] के समान (पोषक) माना गया है।

सिन्धु की सहायक नदियाँ—

तृष्टामा—सिन्धु नदी के उद्गम के पश्चात् प्रथम सहायक[7] नदी के रूप में

१. भारतवर्ष का भूगोल– प० राम नारायण मिश्र, प्रयाग, पृ० २८३ मोडर्न रिव्यू, वा० ११३, नं० ३, मार्च १९६३, डॉ० एस० एस० भट्टाचार्य का 'ज्याग्राफी आफ द ऋग्वैदिक इंडिया' शीर्षक लेख, पेज २१०-१५।

२. द्रष्टव्य—लेखक का शोध ग्रन्थ-कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान, कानपुर, १९६९, पृ० ९६।

३. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पे० १२२।

४. ऋग्वेद, १०/७५/१।

५. ऋग्वेद, १०/७५/८—ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते……। सिन्धु के ऊर्णावती तथा सीलमावती विशेषण साभिप्राय है, जो इसकी सहायक छोटी नदियों के भी द्योतक है, ज० कनिंघम ने भी इन्हे उ० प० क्षेत्र की सिन्धु की सहायक नदियाँ माना है। द्रष्टव्य-Cunnigham's Ancient Geog. of India. 1924. (Introduction)

६. ऋग्वेद, ३/३३/३—"अच्छा सिन्धु मातृतमामयास……।"

७. ऋग्वेद, १०/७५/६—तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः।

यह उल्लिखित हुई है जिसे मैक्डानेल एवं कीथ प्रभृति[1] पाश्चात्य विद्वान् निश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं कर सके हैं, किन्तु भारतीय विद्वानों ने इसका प्रत्यभिज्ञान करने का यथेष्ट प्रयास किया है। प० विश्वेश्वरनाथ रेउ के मतानुसार[2] तृष्टामा लद्दाख (कश्मीर) की जासकार नदी मानी जाती है, जो सिन्धु की प्रथम सहायक है। इसके साथ ही उन्होंने कतिपय लोगों की इस धारणा को भी व्यक्त कर दिया है, जो तृष्टामा को चित्राल के पचकोर क्षेत्र मे तीन शाखाओं मे बहने वाली नदी मानते हैं।

ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[3] की मान्यता है कि यह ऋग्वेदकालीन उत्तरी सप्तसिन्धु प्रदेश की सिन्धु मे मिलने वाली प्रथम नदी है, जो गिलगित नदी के रूप मे सुपरिचित बिश्र, यासीन, इश्कुमान और हुआ आदि सहायक नदियों की समवेत धारा ही है। डॉ० पी० एल० भार्गव[4] भी इसे सिन्धु की प्रथम पश्चिमी सहायक गिलगित नदी से समीकृत करते है।

उपर्युक्त मतो पर विचार करने पर हम कह सकते हैं कि डॉ० पी० एल० भार्गव तथा श्री एम० एल० भार्गव की गिलगिट नदी तृष्टामा के रूप में नहीं ग्रहण की जा सकती है और न चित्राल की पचकोर क्षेत्रीय तीन शाखाओं मे बहने वाली कोई नदी को तृष्टामा माना जा सकता है, क्योकि ये सिन्धु के न बायें और न दक्षिण तट से मिलने वाली प्रथम सहायक नदियाँ है। इस दृष्टि से प० विश्वेश्वरनाथ रेउ की धारणा तथ्ययुक्त प्रतीत होती है तथा लद्दाख (कश्मीर लेह) के समीप सिन्धु के वाम तट से मिलने वाली[5] प्रथम सहायक नदी 'जास्कर' जो हिमवन्त की जास्कार श्रेणी से निकलती है, को तृष्टामा से समीकृत किया जा सकता है। पं० रेउ इसे सिन्धु के पश्चिम की नदियो की सूची मे सम्मिलित करते है, यह सर्वथा असंगत है। जास्कर नदी सिन्धु के बाये तट अर्थात् दक्षिण से उत्तर को बहती है।

अनितभा—इसका रसा, कुभा, क्रुमु सहित सिन्धु नदी के साथ उल्लेख हुआ है।[6] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह सिन्धु की सहायक नदी थी। सायणाचार्य[7]

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ३६१।
२. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि—पं० वि० ना० रेउ, १९६७, दिल्ली, पृ० ११५।
३. द ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, लखनऊ, १९६४, पेज १२२।
४. India in the vedic Age, P. L. Bhargava. 1971. P. 65.
५. भारत भारती मानचित्रावली, मेरठ, पृ० २६।
६. ऋग्वेद, ५/५३/९—"मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मावः सिन्धुर्निरीरमत्।"
७. सैक्रेड बुक आफ ईस्ट, ३२, ३२३। वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २९।

के आधार पर श्री मैक्समूलर इसे नदी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे उन्होंने किसी नदी से समीकृत नहीं किया है। डॉ० विमल चरण लाहा[1] तथा पं० वि० ना० रेउ[2] इसे सिंधु की पश्चिमी सहायक नदियों के अन्तर्गत ग्रहण करते है। प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी[3] इसकी अवस्थिति वर्तमान अफगानिस्तान में निर्धारित करते है। इस सन्दर्भ में श्री एम० एल० भार्गव[4] गिलगिट तथा काबुल के बीच में सिंधु की उत्तर-पश्चिम सहायक नदियों में बराण्डू (Brandu) नदी को अनितभा से समीकृत करते है, जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव[5] इसे काबुल की सहायक अलिंगर (Alinger) से समीकृत करते है।

सिन्धु के अतिरिक्त उसकी अन्य सहायक नदियों की प्रवाह-प्रणाली को दृष्टि मे रखते हुए यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि अनितभा सिन्धु के दाहिने तट से मिलने वाली उसकी पश्चिमी नदी थी, किन्तु इसका बराण्डू के साथ प्रत्यभिज्ञान करना पूर्णतः तथ्ययुक्त नही प्रतीत होता है, क्योंकि श्री एम० एल० भार्गव की अवधारणा मात्र अनुमान पर ही आधारित है, इस दृष्टि से डॉ० भार्गव का समीकरण समीचीन है, क्योंकि अनितभा (अलिंगर), रसा और कुभा के बीच मे वर्णित हुई है।

सुसर्तु[6]—इस नदी का कुभा, रसा और श्वेती के साथ उल्लेख हुआ है। त्सिमर, लुडविग, मैक्डानेल तथा कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो ने सुनिश्चित रूप से सुसर्तु को सिन्धु नदी का सहायक नदी होना स्वीकार किया है, किन्तु कौन सी सहायक है, इसे वे निर्दिष्ट नही कर सके हैं।[7] पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ,[8] पं० गिरीशचन्द्र अवस्थी[9] तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय[10] प्रभृति भारतीय विद्वान् इस सिन्धु की

१. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, १९७२, लखनऊ, पृ० ४९। रिवर्स आफ इंडिया, वी० सी० लाहा, पेज १५-१६।
२. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि—१९६७, दिल्ली, पृ० ११७।
३. द ज्याग्रॉफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, वाल्यूम १, वाराणसी, १९६७, पेज २५।
४. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पे० १२२।
५. India in the vedic Age. 1971. P. 68.
६. ऋग्वेद, १०/७५/६, "सुसर्त्वा, रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया।"
७. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, अनु० रामकुमार राय, काशी, पृ० ५०९।
८. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि-१९६७, दिल्ली, पृ० ११५।
९. वेद धरातल, २०१० वि० लखनऊ, पृ० ७७५।
१०. वैदिक साहित्य और संस्कृति, तृतीय सं० १९६७, काशी, पृ० ३७९।

सहायक 'सुरु' नदी से समीकृत करते हैं, जो वास्कर नदी के बाद उसी दिशा में अर्थात् दक्षिण उत्तर को बहती है। इसकी पश्चिमी सहायक 'ड्रास' और पूर्वी सहायक नदी 'पशुम' कही जाती है। मानचित्र[1] तथा शब्दकोष[2] में भी सिन्धु की द्वितीय सहायक के रूप में यह निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय के भू० पू० रजिस्ट्रार श्री के० डी० तिवारी द्वारा कश्मीर राज्य सरकार के अधिकारियों से इस सम्बन्ध में प्राप्त सूचना के आधार पर सुसर्तु का 'सुरु' के साथ किया समीकरण सर्वथा प्रामाणिक एवं स्वीकार्य है। श्री एम० एल० भार्गव[3] ने जो इसे दरिल (Daril) के साथ तथा डॉ० पी० एल० भार्गव[4] ने घोरबन्द (Ghorband) से समीकृत किया है, जिसे मात्र अनुमान पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं कहा जा सकता है।

रसा—इसका ऋग्वेद के अनेक स्थलों[5] में उल्लेख हुआ है। 'रसानितभा' (ऋग्वेद - १०/७५/६) के सन्दर्भ में लुडविग[6] इसे अनितभा नदी के विशेषण रूप मे ग्रहण करते है, किन्तु मैक्समूलर[7] प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों को अनितभा सर्वथा अज्ञात है, जिन्हे ज्ञात भी है, वे नाम निर्दिष्ट न करते हुए इसे वैदिक क्षेत्र के उ० पश्चिम की नदी मानते हैं।

पौरस्त्य आचार्यो में यास्क[8] इसे जलवाली नदी मानते हैं। अवेस्ता में रसा को 'रङ्हा अथवा 'रन्हा' कहा गया है, जो मूलरूप से जलों के स्वाद या सार का द्योतक होने से मैकडानल[9] एवं कीथ के मतानुसार डे महोदय ने भी 'अराक्सेस' अथवा 'जकमार्टेस'[10] नदी के साथ भी इसे समीकृत किया है। पं० विश्वेश्वरनाथ

---

१ भारत भारती मानचित्रावली, मेरठ, पृ० २६, आक्सफोर्ड एटलस, (उ० प० सीमान्त मानचित्र)

२ ज्याग्राफिकल डिक्शनरी, एन० एल० डे, पे० १६८।

३ ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १६६४, पे० १२३।

४ India in the vedic Age, P. 66.

५. ऋग्वेद, १/११२/१२, ५/५३/६, १०/७५/६, (५/४१/१५, ६/४१/६)

६ ऋग्वेद का अनुवाद, ३/२०२।

७ मैक्समूलर-इंडिया, ११६/१७३ ए० एन०।

८. निरुक्त, ११/२५। ६. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २३२।

१०. ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंशियंट ऐण्ड मेडि० इंडिया, एन० एल० डे०, पेज १६७।

रेउ,[1] पं० बलदेव उपाध्याय,[2] श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी[3] इत्यादि विद्वानों के द्वारा इसका प्रत्यभिज्ञान कश्मीर की प्रसिद्ध नदी 'शेवक' के साथ किया गया है, जो श्वेती के पूर्व सिन्धु में गिरती है। डॉ० पी० एल० भार्गव[4] ने रसा को हिन्दुकुश से दक्षिण को बहने वाली पंजशिर नदी से अभिन्न माना है।

वस्तुत: यह सिन्धु की तीसरी सहायक नदी है तथा इसे तंगिर (Tangir) कहना तथ्यपूर्ण नहीं है, जैसा कि ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[5] ने इसे तंगिर के साथ समीकृत अनुमानतः किया है। श्री विमल चरण लाहा[6] ने सिन्धु की सहायक नदियों के अन्तर्गत इसका समीचीन विवेचन किया है। अत: रसा को पंजशिर की अपेक्षा 'शेवक' अथवा 'श्योक'[7] कहा जाना चाहिए, जो लद्दाख श्रेणियों से निकल कर सिन्धु के उत्तर में समानान्तर बहती हुई उसके दक्षिणी तट से भेंटती है।

श्वेती—यह नदी ऋग्वेद (१०/७५/६) में सिन्धु की चतुर्थ सहायक के रूप मे उल्लिखित हुई है। इसको प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा श्वेत्या अथवा श्वेती रूप में सिन्धु की सहायक नदी स्वीकार किया गया है, जिनमें लुडविक,[8] जिमर[9] तथा मेक्डानेल एवं कीथ[10] का मत महत्वपूर्ण है। भारतीय विचारकों में श्री एन० एल० डे[11], प० बलदेव उपाध्याय,[12] प० विश्वेश्वरनाथ रेउ[13] इत्यादि ने इसे सिन्धु की चतुर्थ सहायक नदी मान कर कश्मीर की 'गिलगित' से समीकृत किया है। श्री गिरीश

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० ११५।
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति-१९६७, तृतीय सं०, काशी, पृ० ३७९।
३. वेद धरातल, सं० २०१० वि०, लखनऊ, पृ० ५८१।
४. India in the vedic Age, 1971, Lucknow, P. 69.
५. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पृ० १२३।
६. रिवर्स आफ इंडिया, बी० सी० लॉ, पे० ९-१० तथा प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, उ० प० ग्रन्थ अकादमी, १९७२, पृ० ४९।
७. भारत भारती मानचित्रावली, मेरठ, पृ० २६।
८. ट्रान्सलेशन आफ ऋग्वेद, ३/२००।
९. अल्टेन डिस्चेजलेवेन, १४/१५।
१०. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, अनु० रामकुमार राय, पृ० ४५३।
११ ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐन्शियंट ऐ० मेडि० इंडिया, पे० २००।
१२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, १९६७, काशी, पृ० ३७९।
१३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० ११७।

चन्द्र अवस्थी[1] इसे गिलगित से अभिन्न स्वीकार कर रसा और कुभा के मध्य निर्धारित करते हैं, किन्तु श्री एम० एल० भार्गव[2] की अवधारणा है कि श्वेती सिन्धु के उ० प० से मिलने वाली काण्डिया (Kandia) से भिन्न नहीं है। डॉ० पी० एल० भार्गव[3] इसे कुभा (काबुल) की सहायक कुनार नदी से अभिन्न मानते हैं।

यह श्वेती नदी ऋग्वेद ८/२६/१८ में उल्लिखित श्वेत्या वरी से सर्वथा भिन्न है। उपर्युक्त मतों को दृष्टि में रखते हुए श्वेती नदी को सिन्धु की चतुर्थ सहायक नदी 'गिलगित' से समीकृत करना सर्वथा समीचीन है। इस सम्बन्ध में एम० एल० भार्गव की काण्डिया अभिधान विषयक अवधारणा तथ्यपूर्ण न होने के कारण ग्राह्य नहीं है, उनके द्वारा भी निर्दिष्ट इसकी अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए इसे कुनार की अपेक्षा 'गिलगित' कहना ही अधिक उपर्युक्त है।

कुभा—यह दो ऋचाओं[4] के अन्तर्गत सिन्धु की अन्य सहायक नदियों के साथ उल्लिखित हुई है। डा० बी० सी० लाहा[5], पी० एल० भार्गव[6], ज० कन्निंघम प्रभृति विद्वानों द्वारा इसका प्रत्यभिज्ञान सुनिश्चित और निर्विवाद रूप से हुआ है तथा आधुनिक अफगानिस्तान की काबुल नदी से अभिन्न है।[7]

इसके नाम कुभा पर विचार करते हुए कनिंघम महोदय ने इसके अवस्थिति काल के सम्बन्ध में भी अनुमान किया है—

"I infer that the name must have been applied to the काबुल River before the Asian occupation or, at least as aerly as B.C. 2500." Ancient Geo. of India, P. 43.

---

१. वेद-धरातल, २०१० वि०, पृ० ६७७।

२. द ज्योग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, १९६४, पृ० १२३।

३. India in the vedic Age, 1971, P. 66.

४. ऋग्वेद, ५/५३/९—रसानितभा कुभा क्रुमुर्मावः सिन्धुर्नि···।
ऋग्वेद, १०/७५/६—मुसर्त्वा रसया त्या। त्वं सिन्धो कुभया।

५. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ, १९७२, पृ० ४९।
रिवर्स आफ इंडिया, पेज ९-१०।

६. India in the vedic Age, 1971, P. 66.

७. कन्निंघम्स ऐन्शयंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, एडिटेड बाई एस० एन० मजूमदार, कलकत्ता, १९२४ पेज ४३।

किन्तु कुभा (काबुल) ईस्वी पूर्व २५०० के पूर्व विद्यमान रही होगी। प्राचीन कुभा नदी को ग्रीक निवासी एरियन ने कोफेस (Kophes), प्लिनी ने कोफेन (Kophen), टालेमी ने कोआ (Koa) कहा है।[1] हिन्दुकुश की दक्षिणी शृंखलाओं से होकर पूर्व में आधुनिक पंजकोरा (वैदिक सुवास्तु या स्वात) नदी के साथ कुनार (कामेह या खोनार) जो इसकी प्रधान सहायक नदी है, को मिलाती हुई यह अटक के समीप (कुछ पहले) सिन्धु में गिरती है।

क्रुमु—यह सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी ऋग्वेद की दो ऋचाओं[2] में उल्लिखित है तथा सभी प्राचीन भूगोल के विद्वानों[3] के द्वारा निर्विवाद रूप से आधुनिक कुर्रम नदी के साथ समीकृत की गयी है जो गोमती (गोमल) नदी के उत्तर में अपनी सहायक टाची के जल से आपूरित होकर हिन्दुकुश, सुलेमान[4] शृंखलाओं से प्रवाहित होती हुई इश्खेद (Ishakhed) के दक्षिण में सिन्धु मे मिलती है।

मेहत्नु—इसका गोमती तथा क्रुमु के साथ उल्लेख हुआ है।[5] जिससे प्रतीत होता है, या तो यह इन नदियों के पूर्व ही सिन्धु में गिरती थी अथवा क्रुमु की एक सहायक नदी थी। ले० कर्नल, एम० एल० भार्गव[6] इसे क्रुमु की सहायक स्वीकार कर मातूं (Matun) से समीकृत करते है किन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय[7] तथा पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[8] गोमती तथा क्रुमु से पृथक् स्वतन्त्र रूप से इनके पूर्व सिन्धु मे

१. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, बी० सी० लाहा, लखनऊ, १९७२ पृ० ४९।
२. ऋग्वेद, ५/५३/९, १०/७५/६।
३. डॉ० बी० सी० लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ १९७२, पृ० ४९, १७० तथा जनरल कन्निघम, ऐन्शियंट ज्याग्राफी ऑफ इंडिया, एडीटेड बाई एस० एन० मजूमदार कलकत्ता, १९२४, इन्ट्रोडक्शन, पे० ३९, ले० कर्नल एम० एल० भार्गव, ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, लखनऊ १९६४, पेज १२४। डॉ० पी० एल० भार्गव, इण्डिया इन द वैदिक एज, १९७१, पृ० ६७।
४. रिवर्स आफ इंडिया, पे० १५।
५. ऋग्वेद १०/७५/६ गोमती क्रुमु मेहत्न्वा।
६. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज १२४।
७. वैदिक साहित्य और संस्कृति, तृतीय संस्करण, पृ० ३८०।
८. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० ११६।

मिलने वाली नदी 'सवान' से इसे अभिन्न मानते हैं, जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव[1] मेहलु को क्रुमु की सहायक टोंची (कैतू) नदी से समीकृत करते हैं।

मेहलु को प्रत्यक्षतः सिन्धु की सहायक न मान कर क्रुमु को सहायक नदी मानना समीचीन है, इस तथ्यपूर्ण दृष्टिकोण के आधार पर 'सवान' नदी की अपेक्षा कैतू अथवा मातूं (Matun) से समीकरण किया जाना अधिक उपयुक्त है तथा मैक्डानेल एवं कीथ,[2] पं० उपाध्याय एवं रेउ की अपेक्षा एम० एल० भार्गव तथा डॉ० भार्गव का मत ग्राह्य होना चाहिए।

गोमती—यह नदी क्रुमु और मेहलु के साथ वर्णित हुई है।[3] राजा रथवीति का गोमती के तट पर ही निवास था। यह सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी वर्तमान अफ़गानिस्तान की गोमल नदी से भिन्न नहीं कही जा सकती है। लुडविक[4], त्सिमर[5]; प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त ज० कन्निंघम[6], ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[7], डॉ० बी० सी० लाहा[8], पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[9], डॉ० पी० एल० भार्गव[10] इत्यादि भारतीय विद्वानों में इसके गोमल के साथ समीकरण में वैमत्य नहीं है।

ऋग्वेदिक प्राचीन गोमती (गोमल) लखनऊ तथा जौनपुर से होती हुई वाराणसी के समीप गंगा में गिरने वाली गोमती से सर्वथा भिन्न थी। वह पुरातन गोमती (गोमल) डेरा इस्माइलाखां तथा पहाड़पुर के मध्य सिन्धु से मिलती है।

सुवास्तु—यह ऋग्वेद (८/१६/३७) के अतिरिक्त निरुक्त[11] में भी उल्लिखित है। इसे एरियन[12] द्वारा साओस्तोस (Saostas) परवर्ती दिनों में लोगों

१. India in the vedic Age, 1971, Lucknow, P. 67.
२. वैदिक एण्डेक्स, भाग २, अनुवादक रामकुमार राय, पृ० १६१।
३. ऋग्वेद, १०/७५/६, ५/६१/१६।
४. ट्रान्सलेशन आफ़ ऋग्वेद, ३/२००। ५. अल्टिंडिशे लेबेल—१४।
६. ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, कलकत्ता १६२४, इन्ट्रोडक्शन ३६।
७. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज १२३।
८. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल—१६७२, लखनऊ, पृ० ४६।
९. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ११६।
१०. India in the Vedic Age, 1971. P. 67.।
११. निरुक्त—४/२/७—सुवास्त्वा अधितुग्वनि, ४/१५।
१२. इण्डिका, ४/११, तुलनीय—लुडविग-ऋग्वेद का अनुवाद, ३/२००, त्सिमर··· आल्टिण्डिशे लेबेन, १८। इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, २३, पृ० १८७।

द्वारा शुभ वस्तु तथा वर्त्तमानकाल में स्वात अभिहित किया गया है। डॉ० ए० सी० दास[1] जैसे कतिपय विद्वान् भ्रान्तिवश श्वेती और श्वेतयावरी को एक समझते हुये इन्हे 'स्वात' से समीकृत करते हैं, जबकि इनकी अपेक्षा सुवास्तु ही स्वात है, जो पंजकोरा नदी के पूर्व में बहती है। इस दृष्टि से डॉ० पी० एल० भार्गव[2] का मत समीचीन है।

वर्तमान स्वात नदी अपने ऊपरी प्रवाह में 'उमु' नाम से जानी जाती है तथा फ्लेमर दर्रे के पास से निकल कर पंजकोरा नदी में मिलने के पश्चात् निमोथ के समीप काबुल नदी में गिरती है। अतएव इसे सिन्धु की अप्रत्यक्षरूपेण सहायक नदी कहा जा सकता है।

प्रयियु तथा वयियु—इन दोनों का सुवास्तु (स्वात) के साथ समुल्लेख हुआ है।[3] अतः ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[4] इन्हें इसी क्षेत्र से सम्बन्धित लघु सरिताएँ ही स्वीकार करते है, जो अब विलुप्त हो चुकी है। अतः इनको किसी नदी मे समीकृत करना संभव नहीं है।

गौरी[5]—इसका ऋग्वेद मे दो स्थलों पर उल्लेख हुआ है, जिसमे ऋग्वेद-(९-१२-३) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इसकी घाटी मे सोम उत्पन्न होता था। गौरी नदी एरियन की गैरोइया (Garroia) तथा अन्य ग्रीक लोगों की गुरौस (Guraus) अथवा गौरीस (Gourios) या गुरी (Gruri) से भिन्न नही कही गयी है।[6] इसे श्री एम० एल० भार्गव[7] तथा डॉ० पी० एल० भार्गव[8] ने पंजकोर नदी से समीकृत किया है जो निसोथ के निकट कुभा (काबुल) नदी मे मिलती है। अतः प्रकारान्तर से यह भी सिन्धु की पश्चिमी उप-सहायक पंजकोरा नदी कही जा सकती है।

१. ऋग्वेदिक इंडिया, वा० १, १९२१, कलकत्ता, पे० ६८।
२. India in the Vedic Age, P. 68.
३. ऋग्वेद, ८/१९/३७ -- प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधितुग्वनि।
४. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पृ० १२४।
५. ऋग्वेद, १/१६४/४१— "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी-द्विपदी चतुष्पदी।"
   ऋग्वेद-९/१२/३-सोमो गौरी अधिश्रितः।
६. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, १९७२, लखनऊ, पृ० ४९।
७. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, १९६४, पे० १२४।
८. India in the Vedic Age, 1971, P. 68.

सुषोमा—यह आर्जीकीया के साथ ऋग्वेद[1] में उल्लिखित है जिससे प्रतीत होता है कि यह शर्यणावत सरोवर क्षेत्र के समीप आर्जीकीया के साथ सिन्धु नदी में मिलती थी।

ऋग्वेद, १०/७५/५ में उल्लिखित सुषोमा को यास्काचार्य[2] सिन्धु से समीकृत करते हैं। दुर्गाचार्य[3] का भी यही दृष्टिकोण है। मैगस्थनीज[4] ने इसे 'सोएनोस' कहा है, जिसे मैक्डानेल[5] एवं कीथ ने आधुनिक 'सुवन्' या 'सुअन्' से अभिन्न माना है।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[6], महापंडित राहुल सांकृत्यायन,[7] पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[8], जनरल कन्निंघम[9], डॉ० पी० एल० भार्गव[10], ले० कर्नल एम० एल भार्गव[11] प्रभृति विद्वानों ने इसे सिन्धु से पृथक् सोहान नदी के साथ समीकृत किया है, जो आर्जीकीया के साथ अटक प्रदेश में प्रवाहित होकर यहाँ से काफी नीचे सिन्धु में मिलती थी। इसकी ऊपरी घाटी (रावलपिंडी की तराई) में स्थित खुशालगढ़ और मक्खड़ में महापंडित राहुल सांकृत्यायन को पुरा पाषाणयुग के हथियारों के रूप में पुरातन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

सोहान नदी के उत्तर में 'हारो' नदी बहती है। ये दोनों सिन्धु की सहायक नदियाँ हैं तथा ऋग्वेदकाल में और अधिक दक्षिण में प्रवाहित थी। अतः सुषोमा को

---

१. ऋग्वेद, ८/७/२९—सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति। १०/७५/५—वितस्त-यार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया। ८,६४/११…अयं ते शर्यणावति सुषोमायामधि… प्रियः आर्जीकीये मदिन्तमः।

२. निरुक्त ९/२६।

३. "सुषोमा सिन्धुः सा कस्मात् यदेनामभि प्रसुवन्ति अभिगच्छन्ति अन्याः प्रसूताः-नद्यः।" ४. एरियन—इण्डिका ४/१२।

५. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, अनु० रामकुमार राय, पृ० ५०९।

६. भारतभूमि और उसके निवासी, प्रथम संस्करण, पृ० ३३।

७. ऋग्वेदिक आर्य, इलाहाबाद, प्रथम एडीशन, पृ० ९।

८. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० ११५।

९. ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, १९२४, कलकत्ता, इन्ट्रोडक्शन, पेज २९।

१०. India in the Vedic Age, 1971. P. 65.

११. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पे० ११६।

'सोहान' से समीकृत करना सर्वथा समीचीन ही है तथा एन० एल० डे[1] आदि प्राचीन भूगोलविदों का मत स्वीकार्य नहीं है, जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव प्रभृति विद्वानों का मत समीचीन होने से स्वीकार्य है।

आर्जीकीया—ऋग्वेद में इसका उल्लेख तीन स्थलों पर हुआ है,[2] जिसमें ऋग्वेद १०/७५/५ यह सुनिश्चित रूप से नदी के नाम रूप में प्रयुक्त है। यास्काचार्य[3] इसे विपाश (व्यास) से अभिन्न मानते हैं जिसे एन० एल० डे[4] तथा ग्रासमैन ने भी समर्थित किया है, किन्तु हिलेब्रान्ट[5] की अवधारणा है कि आर्जीकीया सिन्धु का ऊपरी भाग, वितस्ता (झेलम) अथवा कोई अन्य नहीं है। डॉ० मैक्डानेल[6] एवं कीथ ग्रासमैन के मत का खंडन करते हुये आर्जीकीया को विपाश (व्यास) से भिन्न नहीं बतलाते हैं। ब्रून होफर[7] ने इसे 'अर्घनव' की सहायक 'अर्घेसन' नदी से समीकृत किया है। डॉ० ए० सी० दास[8] ने यास्क के दृष्टिकोण को ग्रहण करते हुए भी इसका निश्चित तथ्यपूर्ण प्रत्यभिज्ञान नहीं किया है। वे आर्जीकीया को सुषोमा से भी अभिन्न स्वीकार करते है। पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[9] इसे झेलम के पश्चिम की अज्ञात नदी निर्दिष्ट करते हैं जो सुषोमा (सोहन) के साथ होकर सिन्धु में मिलती थी। ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[10] तथा डा० पी० एल० भार्गव[11] ने आर्जीकीया को 'हारो' से समीकृत कर इसे सुषोमा के उत्तर में प्रवाहित होने वाली सिन्धु की पूर्वी सहायक नदी स्वीकार किया है।

उपर्युक्त पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के आर्जीकीया के समीकरण संबंधी

---

१. द ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ ए० एण्ड मेडि० इंडिया, १८९९, कलकत्ता, पेज ९५। २. ऋक्० ८/७/२९, ८/६४/११, १०/७५/५।
३. निरुक्त, ९/२६। ४. ६—वत्, पेज ५।
५. वैदिक माईथौलोजी, १-१३७।
६. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ७०।
७. ईरान ऐण्ड तूरान, पेज ५२। द ज्याग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडि० इंडिया, पार्ट १, १९६७, वाराणसी, पेज ३३।
८. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, १९२१, कलकत्ता, पेज ३६।
९. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ११५।
१०. द ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पेज ११७।
११. इण्डिया इन द वैदिक एज, १९७१, लखनऊ, पृ० ६५।

मतों पर विचार करने पर संबंधित ऋचा (१०/७५/५) में निर्दिष्ट नदियों के भौगोलिक क्रम के आधार पर इसे विपाश (व्यास), वितस्ता (झेलम) अथवा सिन्धु का उत्तरी भाग न मान कर 'हारो' नदी ही मानना अधिक उपयुक्त है। अतएव डॉ० भार्गव एवं श्री भार्गव की आर्जीकीया विषयक तथ्यपूर्ण अवधारणा ही ग्राह्य है।

ऊर्णावती—यह ऋग्वेद (१०/७५/८) में उल्लिखित सिन्धु की एक सहायक नदी है, किन्तु लुडविग[१] के मतानुसार यह सिन्धु की एक धारा का नाम है। पिशेल[२] इसे सिन्धु का विशेषण मान कर भेड़ो से परिपूर्ण अर्थ ग्रहण करते हैं, जबकि राथ[३] इसका अनुवाद ऊन युक्त करते है। ग्रिफिथ[४] तथा अन्य विद्वानों[५] ने भी इसे सिन्धु की सहायक नदी के रूप मे मान्यता प्रदान की है जिसे उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र के अन्तर्गत मानना चाहिये। कन्निंघम महोदय ने पाश्चात्य विद्वानो के साथ ही ऋग्वेद के विख्यात व्याख्याता सायणाचार्य पर टिप्पणी करते हुये इस संबंध में लिखा है—

"Sayan was ignorant of the Geography of N. W. Frontier, and therefore explained those words as adjectives. But these words are to be taken as proper names ऊर्णावती, सीलमावती, ऋजिती, एनी, चिला, हिरण्यमयी, रसाति........."Seven tributaries of Indus to be located to the N. W."[६]

किन्तु ऊर्णावती का किसी आधुनिक नदी के साथ अनुमानपूर्ण समीकरण नही किया जा सकता है। इसके नाम से प्रतीत होता है कि इसके तटो पर सुन्दर ऊन वाली भेड़े अधिक पाई जाती थी।

सीलमावती (शिलमावती)—ऋग्वेद १०/७५/८ में यह ऊर्णावती के साथ

---

१. ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।
२. वेदिशे स्टूडियन २, २१०।
३. सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०।
४. हिम्स ऑफ दि ऋग्वेद, १०/७५/८।
५. कन्निंघम - ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, १८२४, कलकत्ता, इन्ट्रोडक्शन, पेज xL.
६. वही।

उल्लिखित हुई है। अतएव लुडविग[1], ग्रिफिथ[2], कन्निघम[3] आदि विद्वानों ने इसे नदी के रूप में ग्रहण किया है–यह यथार्थ ही है। पाश्चात्य विद्वान् गेल्डनर[4] तथा जिमर[5] ने सायण की व्याख्या के आधार पर इसे नदी रूप में नहीं माना है, क्योंकि सायणाचार्य ने सीलमा को एक घास का पौधा जिसकी छाल से किसान रस्सियाँ निर्मित करते थे, अर्थ कर इसे सिन्धु का विशेषण स्वीकार करते हैं।

अतः सीलमावती को भी ऊर्णावती के समान ही सिन्धु की सहायक नदी ही मानना चाहिये जो सप्तसैन्धव प्रदेश उ० प० क्षेत्र में ऊर्णावती के साथ बहती होगी। इसका भी निश्चित प्रत्यभिज्ञान नहीं किया जा सकता है।

श्वेतयावरी—यह ऋग्वेद में उल्लिखित श्वेती[6] अथवा श्वेत्या (गिलगित नदी) से सर्वथा भिन्न है।[7] श्री एम० एल० भार्गव के मतानुसार[8] श्वेतयावरी को सिन्धु की सहायक 'कोहात तोई' से समीकृत किया जा सकता है जो सफेद कोह से निकल कर काबुल तथा कुर्रम नदियों के बीच में सिन्धु से मिलती है। डा० अविनाश चन्द्र दास[9] प्रभृति प्राचीन भूगोलवेत्ता का श्वेती से नामान्तर कर इसका स्वात से समीकरण करना सर्वथा भ्रान्तिजनक मत कहा जा सकता है।

विबाली—इसका ऋग्वेद (४,३०,१२) में वितस्थाना के साथ उल्लेख हुआ है। मैक्डानेल एवं कीथ[10] इसे नदी मानते हैं, किन्तु वे किसी निश्चित नदी से समीकृत नहीं कर सके हैं। ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[11] इसे कश्मीर की श्योक (Syok) अथवा शौयूक (Sauyook) नदी से समीकृत करते हुये सिन्धु की सहायक नदी

---

१. ट्रान्सलेशन आफ ऋग्वेद, ३/२००।
२. हिम्स ऑफ द ऋग्वेद—१०/७५/८।
३. ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया (इन्ट्रोडक्शन) P. xL.
४. ऋग्वेद ग्लासर—१८५।
५. एल्टेन डिस्चेज लेबेन, ४२६।
६. ऋग्वेद—१०/७५/६।
७. ऋग्वेद ८/२६/१८।
८. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इण्डिया, लखनऊ, १९६४, पेज १२४।
९. ऋग्वेदिक इंडिया, वाल्यूम १, १९२१, कलकत्ता, पृ० ६८।
१०. वैदिक इण्डेक्स, वाल्यूम २, पेज ३०२।
११. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, १९६४, पेज १२०।

स्वीकार करते है। किन्तु यह श्योक से भिन्न उसकी शाखा नहीं ज्ञात होती है अतएव विबाली को श्योक की उद्गम स्थलीय सहायक नदी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। (द्रष्टव्य—मानचित्र-नदियाँ)

वितस्थाना (तिष्ठमाना)—विबाली के साथ वितस्थाना का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।[1]

श्री गिरीश चन्द्र अवस्थी[2] सदृश कतिपय विद्वानों ने भ्रान्तिवश इसे वितस्ता अथवा वितस्था रूप मे नामान्तरित कर झेलम से समीकृत करने का प्रयास किया है, किन्तु इस सम्बन्ध मे कर्नल एम० एल० भार्गव[3] की अवधारणा विचारणीय है। उसके द्वारा वितस्थाना तिष्ठमाना सिन्धु की सहायक नदी के रूप मे वितस्था अथवा वितस्ता (झेलम) से सर्वथा भिन्न कश्मीर की 'जास्कार' नदी मे समीकृत की गयी है।

हरियूपीया तथा यव्यावती—इनका वृचीवान् के पुत्रों के वध के प्रसंग मे[4] उल्लेख हुआ है। सायणाचार्य इन्हे नदी एव नगरी दोनो संभव मानते है। हिलेब्राण्ट[5] इसे क्रुमु की सहायक इर्याब (हलियाब) नदी से अभिन्न मानते है, जो ब्रानहाफर की अरिओब (हरियूपीया) से भिन्न नही हैं। अतः हरियूपीया को इर्याब के रूप मे क्रुमु (कुर्रम) की सहायक नदी मानना चाहिये। यव्यावती भी उसके समीप बहने वाली नदी प्रतीत होती है।[6]

सरयु—इसका स्वतत्र रूप से अर्ण और चित्ररथ की इसके पार निवास-स्थली[7]

---

1. ऋग्वेद, ४/३०/१२—उत सिन्धु विबाल्यं वितस्थानामधिक्षमि परिष्ठा इन्द्रमायया।
2. वेदधरातल, लखनऊ २०१० विक्रमी, पृ० ५८४।
3. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, लखनऊ १९६४, पेज १२०।
4. ऋग्वेद ६/२७/५—वृचीवतो यद्धरियूपीयाया हन्पूर्वे....। ६/२७/६—यव्यावती।
5. वेदिश्चे माइथालॉजी, ३/२६८।
6. लुडविग भी यव्यावती को नदी मानते है, जिसके तट पर हरियूपीया नगर था (ट्रान्सलेशन आफ ऋग्वेदिक, ३/१५७) किन्तु हरियूपीया भी उसी क्षेत्र की नदी थी, इस सन्दर्भ मे डॉ० ए० सी० दास का मत इसे समर्थित करता है। (ऋग्वेदिक कल्चर, पेज नं० १५९-१६२, श्री एम० एल० भार्गव भी दोनों को नदियाँ ही मानते हैं, किन्तु उनका समीकरण सरस्वती क्षेत्र मे मान्य नहीं है।
7. ऋग्वेद—४/३०/१८, १०/६४/९ तथा ५/५३/९ सरस्वती सरयुः सिन्धुर्ऊर्मिभिः।

होने के साथ ही एक स्थल पर सरस्वती और सिन्धु के साथ तथा अन्य स्थल पर रसा, अनितभा कुभा के साथ समुल्लेख हुआ है। यह सरयु अब आजकल की कोशल की सरयु (घाघरा) मे सर्वथा भिन्न है। हॉपकिन्स इसे पश्चिम की नदी संभावित करते हैं (रिलीजन्स आफ इण्डिया, पृ० ३४), इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्री राहुल सांकृत्यायन इसे पश्चिमी सप्तसिन्धु मे सिन्धु और झेलम के मध्य की नदी मानते हैं। (ऋग्वेदिक आर्य, पृ० १०) लुडविक ने इसका समीकरण क्रुमु के साथ किया है (ऋग्वेद का अनुवाद, ३/२८०), जबकि वी० सेण्ट मार्टेन ने इसकी संभावना शुतुद्रि अथवा विपाश की सहायक नदी के रूप में की है। श्री एम० एल० भार्गव इसे सिन्धु की अपेक्षा सरस्वती के अधिक निकट मान कर हरयू (हरिसद्) के स्थानो में घग्घर से समीकृत करना अधिक उपयुक्त मानते हैं। (द ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ० ८७)। डॉ० पी० एल० भार्गव ने इसे सिन्धु की पश्चिमी सहायक गोमल की सहायक सिरिटोई (Siritoi) से समीकृत किया है (इण्डिया इन द वेदिक एज, पृ० ७०)। ऋग्वेद, ५/५३/६ तथा १०/६४/६ के अतिरिक्त ५/८३/८ सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुये इसे पश्चिमी सप्तसैन्धव में प्रकारान्तर से सिन्धु नदी की सहायक नदी मानना तथा सिरिटोई की अपेक्षा हरिसद् से समीकृत करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, जो पूर्व की ओर बहती हुई सिन्धु में मिलती है।

कुषवा—यह ऋग्वेद[१] (४/१८/८) मे सिन्धु की सहायक नदी के रूप में उल्लिखित है। सामान्यतया कुषवा का अर्थ है, जहाँ अथवा जिसके समीप सोम भली-भाँति नही दबाया (पीसा) जाता हो, किन्तु श्री एम० एल० भार्गव आदि प्राचीन भूगोल-वेत्ता[२] इसे नदी वाचक रूप में ग्रहण करते हैं। कुषवा ग्रीक लोगों की कोइअस (Koeus-or-Choeus) नदी प्रतीत होता है जिसे आधुनिक काल की कुनार नदी से समीकृत किया जा सकता है। यह हिन्दुकुश (मूजवत) पर्वत श्रेणियो से निकलकर पंजकोरा के पश्चिम में प्रवाहित होती हुई कुभा (काबुल) नदी से मिलती थी। इसके उद्गम स्थल मूजवत के साथ ही इसकी ऊपरी घाटी में भी सोम पौधा प्रभूत माला में पैदा होता था।

सिता तथा शुना-सीरा (असिता)—इनका ऋग्वेद (कृषि सूक्त)[३] में उल्लेख हुआ है, जिन्हें मैक्डानेल एवं कीथ क्रमशः फाल रेखा[४] (सीता) दो कृषि-देवताओं के

---

१. ऋग्वेद—४/१८/८—मतच्चन त्व युवतिः परास मच्चन त्वा कुषवा जगार।

२. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पे० १२५।

३. सिता अथवा सीता—ऋग्वेद, ४/५७/६, ७, शुना-सीरा ४/५७/५, ८, अथर्व०, ३/१७/५, मैत्रा० सं० १/७/१२। ४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४९८।

नाम[1] (शुना-सीरा) के अतिरिक्त राय[2] द्वारा व्यक्त अंश और हल के मूर्त रूप स्वीकार करते हैं। ले० कर्नल एम० एल० भार्गव सिता तथा शुना-सीरा को सिन्धु की समीपवर्तिनी उप-सहायक नदियाँ मानकर उन्हें क्रमशः डोर (Dor) और सिरान नदियों से समीकृत करते हैं।[3]

श्री भार्गव के मतानुसार यदि शुना तथा सीरा को पृथक् नदियाँ ही माना जाय तो भी ये सिता (डोरा) में मिलने के पूर्व शुना (सुना), उनर (Unar) अथवा मंगल के रूप में सीरा (सिरान) में गिरती[4] होंगी। अतएव सिता, शुना, सीरा भी प्रकारान्तर से सिन्धु की सहायक नदियों के रूप में मानी जा सकती है।

उपर्युक्त छोटी-बड़ी ज्ञात-अज्ञात अनेक नदियों के अतिरिक्त सिन्धु की निम्न-लिखित विशाल पूर्वी सहायक नदियाँ भी अपनी प्रवाह-प्रणाली एवं अन्य भौगोलिक प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

वितस्ता यह ऋग्वेद के नदी-स्तुति[5] प्रसंग में वर्णित हुई है, जिसे यास्काचार्य[6] एवं पाणिनि[7] ने इसी रूप में ग्रहण किया है। पुराणों[8] में भी वितस्ता का इसी रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। इसे ग्रीक ऐतिहासिकों ने सिकन्दर के समय हाईडस्पेस (ह्यदस्पीस-Hydaspes), टालमी ने विडस्पेस (बिदस्पीस-Bidaspes), मुसलमान इतिहासकारों ने विहत अथवा बिहत तथा कश्मीरियों ने वेथ के रूप में अभिहित किया है। जनरल कन्निंघम[9], डॉ० ए० सी० दास[10], एन० एल० डे[11], बी० सी० लाहा[12], डॉ० पी० एल० भार्गव[13] आदि विद्वानों के मान्य मतों के अतिरिक्त

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४२८। २. सेण्ट पीटर्स बर्ग कोश, व० स्था०।

३. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, १९६४, पे० १२०। ४. वही।

५. ऋग्वेद, १०/७५/५—असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्त्यार्जीकीये।

६. निरुक्त, ९/२६—वितस्ता अविदग्धा विवृद्धा महाकूला।

७. अष्टाध्यायी—१/४/२१ (काशिकावृत्ति)

८. वायुपुराण २९/१३, ४५/९५ (हिमालय से निकली है)। ब्रह्माण्डपुराण, १२/१५ मत्स्य पु० १२/३६, श्रीमद्भागवत, ५/१९/११।

९. ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, ऐडीटेड बाई एस० एन० मजूमदार, पेज ३९।

१०. ऋग्वेदिक इंडिया, वाल्यूम १, पेज ६६।

११. ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐन्शि० एण्ड मेडि० इंडिया, पे० १०६।

१२. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ, १९७२, पृ० ५० (वितस्ता—वितस्ता, झेलम)

१३. **India in the Vedic Age, 1971, P. 65.**

ऋग्वेदिक सन्दर्भों के आधार पर इसे निर्विवादरूप से वर्तमान झेलम के समीकृत किया जा सकता है। यह सिन्धु की पूर्वी सहायक विशाल नदियों में सबसे पश्चिमी है जो कश्मीर की पीरपंजाल व पर्वतमाला से निकलकर पुंछ के आगे पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। तत्पश्चात् यह दक्षिण में घूमकर दक्षिण-पश्चिमाभिमुख बहती है।

मीरपुर के पश्चिम में (कस्बे के निकट) पूर्व की ओर चलकर पुनः पश्चिम की ओर मुड़ जाती है तथा पूर्वोत्तर में पीरदादन एवं दक्षिण-पश्चिम में खोसब के मध्य एक उभार बनाती हुई यह दक्षिण की ओर बहती हुई झंग और झंग मघियाना के आगे असिक्नी (चेनाब-Chenab) में मिल जाती है। कश्मीर में वितस्ता झेलम नदी अनेक स्थानीय अभिधानों (विरनग, अदपल सन्द्रन आदि) से विश्रुत है। इसे पालि भाषा में वितंसा (वितम्सा) भी कहा गया है।

असिक्नी—यह ऋग्वेद[1] मे मरुद्वृधा तथा वितस्ता आदि नदियों के साथ वर्णित हुई है। यास्काचार्य ने[2] असिक्नी नाम पड़ने का कारण उसका काला दिखाई देने वाला जल बताया है। इसे एरियन ने एकेसिनीज (Akesines) टालेमी ने 'सन्दवल' अथवा 'सन्डबग' (Sandbal or Sandbaga) तथा परवर्ती संस्कृत साहित्यकारों ने चन्द्रभागा नाम से अभिहित किया है।[3] जनरल कन्निंघम[4], डॉ० ए० सी० दास[5], डे[6], प० विश्वेश्वरनाथ रेउ[7], पी० एल० भार्गव[8] प्रभृति विद्वानों ने निर्विवादरूप से इसका समीकरण आधुनिक चिनाव अथवा चेनाब के साथ किया है जो सर्वग्राह्य ही है। चन्द्रभागा अथवा असिक्नी (चिनाव) परुष्णी के पश्चिम की नदी है जो कांगड़ा जिले में बारलाछ दर्रे के विपरीत दिशाओं में चन्द्र और भाग

---

१. ऋग्वेद, ८/२८/२५, १०/७५/५।
२. निरुक्त, ९/२६।
३. द ज्याग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, पार्ट १, पेज ३५।
४. एन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, पेज ३९ (इन्ट्रोडक्शन)
५. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पेज ६६।
६. ज्या० डिक्शनरी, पे० ५।
७. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० ११४।
८. India in the Vedic Age, 1971, P. 64.

दो पर्वतीय सरिताओं से संवमित होकर चन्द्रभागा (चेनाब) के रूप में किश्तवर के ठीक ऊपर प्रवाहित प्रतीत होती है। किश्तवर से रिश्तवर तक इसका प्रवाह दक्षिणोन्मुख तथा जम्मू तक बहने के पश्चात् अपने और वितस्ता के मध्य दोआब बनाती हुई यह संयुक्त[1] (मरुद्वृधा अथवा मरुवर्धन) रूप में यह दक्षिण-पश्चिमोन्मुख प्रवाहित होती हुई इस समय सिन्धु मे मिलती है, किन्तु प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक युग में यह स्वतन्त्ररूप से सिन्धु में न गिर कर पारावत समुद्र में गिरती थी।

परुष्णी—यह ऋग्वेद[2] मे उल्लिखित सिन्धु की सभी सहायक नदियों मे सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण है। विविध स्थलों में इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि इसकी धार विकट गहरी थी तथा नाव द्वारा ही इसे पार किया जा सकता था।[3] दाशराज्ञ युद्ध में भरतों में शत्रुओ ने इसकी उत्तुग कगारो को ढा दिया था,[4] जिससे इसके प्रवाह में सामयिक अवरोध उत्पन्न हो गया था, किन्तु नैसर्गिक (इन्द्र के) प्रभाव से प्रवाह गन्तव्य दिशा में जाने लगा था।[5] यह असिक्नी (चेनाब) तथा विपाश (व्यास) के बीच की नदी है जिसे यूनानी लागों ने हाइड्राओटीज (Hydraotis), एड्रीस (Adris) अथवा रोनाडीस (Ronadis) अभिधान प्रदान किया है।[6] तथा जनरल कन्निंघम[7], डा० पी० एल० भार्गव[8] आदि प्राचीन भूगोल-विदों द्वारा यह इरावती (उद्‌गम स्थान पीर पंजाल-हिमालय श्रेणियों से निकलने वाली) रावी से समीकृत की गयी है। यह दो सरिताओं के रूप मे परुष्णी (इरावती अथवा रावी) कश्मीर मे छम्बा के दक्षिण-पश्चिमी कोण पर सर्वप्रथम दृष्टिगत होती है। दक्षिण-पश्चिमोन्मुख परुष्णी (रावी) छम्बा से लाहौर तक असिक्नी (चेनाब) अथवा वितस्ता (झेलम) की सयुक्त धारा से प्रवाहित है।

---

१. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पेज १११।

२. ऋग्वेद, ५/५२/९ उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। ऋग्वेद, ४/२२/२ —श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णा, ८/७४/१५ · सत्यमित्वा ……।

३. ऋग्वेद, ७/१८/५। ४. ऋग्वेद-७/१८,८ —विजगृभे परुष्णीम्।

५. ऋग्वेद, ७/१८,९ ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशु०………,१०/७५/५, इमं मे………स्तोमं सचता परुष्ण्या।

६. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, बी० सी० लाहा, पृ० ५०, १९६।

७. ऐन्शियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया-पेज ३९ (इन्ट्रोडक्शन), ए० सी० दास, ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पेज ६६। एन० एल० डे—द ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, पे० ६६। ८. डा० पी० एल० भार्गव, इण्डिया इन द वैदिक एज, १९७१, पृ० ६४।

ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[1] की अवधारणा है कि ऋग्वैदिक काल में परुष्णी (रावी) तथा विपाश् (व्यास) नदियाँ शुतुद्रि (सतलज) की जो स्वतन्त्र नदी के रूप में रामनगर की स्थिति से कुछ ऊपर सारस्वत सागर में गिरती थी, सहायक थी, किन्तु कालान्तर में विपाशा तथा शुतुद्रि के मध्य प्रवाह मार्ग में तीव्र परिवर्तन होने के कारण वैसा रूप दृष्टिगत नहीं होता है, किन्तु ऋग्वेद मे परुष्णी के उल्लेख से संबंधित स्थलों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह सिन्धु, विपाश अथवा शुतुद्रि, सरस्वती आदि किसी नदी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी।

विपाश (विपाशा)—यह ऋग्वेद[2] में उल्लिखित है जहाँ इसका शुतुद्रि के साथ वेगपूर्वक समुद्र में गिरने का विविध रूपों में वर्णन प्राप्त होता है।[3] विपाश, शुतुद्रि दोनों नदियाँ अपनी उत्तुंग तरंगों से प्रदेशों को सिंचित[4] करती हुई तथा लघु नदियों को जलाप्लावित करती हुई[5] द्रुत वेग से चलती है। ऋग्वेद मे विपाश के इस नैसर्गिक वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय यह एक स्वतंत्र नदी थी। यह तथ्यमयी संभावना डॉ० बी० सी० लाहा द्वारा भी की गयी है।[6] प्रायः (जनरल कन्निंघम[7], डॉ० भार्गव[8] आदि) सभी प्राचीन भूगोलवेत्ताओं ने इसे वर्तमान व्यास नदी से समीकृत किया है। इसे यूनानियों ने विपासिस (Vipasis), हाइपैसिस (Hypasis) अथवा हाईफैसिस (Hyphasis) से अभिन्न माना है जो शुतुद्रि (सतलज) की एक सहायक नदी है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों[9] में इसका विपाश नाम से उल्लेख

---

१. ए ज्याग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४-लखनऊ, पे० १०७।
२. ऋग्वेद, ३/३३/१-३, १२, ४/३०/११।
३. ऋग्वेद, ३/३१/१—प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव·······विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते। ऋग्वेद, ३/३३/२-अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः। ऋग्वेद, ३/३३/३—अच्छा सिन्धूं मातृतमामयास विपाशमुर्वी
सुभगाः वत्समिव मातरः सरिहाणे।
४. ऋग्वेद, ३/३३/४—एन वय पयसा पिन्वमाना·········।
५. ऋग्वेद, समभक्त विप्रः सुमति नदीनाम् प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुरध्रा।
६. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, १९७२, लखनऊ, पृ० २२७।
७. ऐन्शियंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, इन्ट्रोडक्शन, पेज ३९।
८. *India in the vedic Age, P. 68.*
९. *पाणिनीय अष्टाध्यायी*—४/२/७४, पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ३५-३८।

हुआ है। विपाश (व्यास) नदी परुष्णी (रावी के स्रोत के समीप रोहतंग दर्रे के निकट पीर पंजाल श्रेणियों से निकलती है तथा अनेक हिम नदों से आपूरित होती है। व्यास नदी चम्बा से दक्षिण-पश्चिम प्रवाहित होती हुई शुतुद्रि (सतलज) में गिरती है। प्राचीन काल में प्रतीत होता है कि यह परुष्णी के पूर्व तथा शुतुद्रि के पश्चिम में स्वतंत्र रूप से बह कर सारस्वत (राजस्थान का विलुप्त) समुद्र मे गिरती थीं।

शुतुद्रि—विपाश के साथ शुतुद्रि का समुल्लेख ऋग्वेद[1] के अतिरिक्त परवर्ती संस्कृत ग्रन्थो[2] मे भी हुआ है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से विपाश (व्यास) और शुतुद्रि का पर्वत से निकल कर समुद्र की ओर जाने का वर्णन[3] हुआ है। ज० कन्निंघम,[4] डॉ० ए० सी० दास[5] तथा डे[6], डॉ० पी० एल० भार्गव[7] इत्यादि विद्वानों के द्वारा निर्विवाद रूप से यह आधुनिक सतलज से समीकृत की गई है, जो सिन्धु की विशाल सहायक नदियों में सबसे पूर्वी है। इसे टॉलेमी द्वारा वर्णित जरड्रोस (zardros) तथा प्लिनी द्वारा उल्लिखित हेसीड्रस (Hesydrus) से अभिन्न कहा जा सकता है। एरियन के समय मे सतलज नदी स्वतंत्र रूप से कच्छ की खाड़ी में गिरती थी।[8] पार्जीटर[9] एवं एम० एल० भार्गव आदि विद्वानों[10] के मतानुसार भी सतलज सिन्धु के परिरोधा तक स्वतंत्र प्रवाहित थी, न कि किसी अन्य नदी की सहायक के रूप में।

यह हिमालय की उत्तरी द्रोणी मानसरोवर के समीप राक्षस ताल के पश्चिमी क्षेत्र मे हिमालय पार कर निकलती है। वहाँ से कामेत पर्वत के कुछ आगे तक, जहाँ सतलज थोड़ा दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ जाती है, पश्चिमाभिमुख प्रवाहित है।

---

1. ऋग्वेद, ३/३३/१,२,३,१२,१०/७५/५।
2. निरुक्त, ९/२६, भागवतपुराण—५/१९/१८, महाभारत, आदि पर्व, १९३/१०।
3. ऋग्वेद, ३,३३/२-३।
4. ऐंशियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, इन्ट्रोडक्शन, पे० ३९।
5. ऋग्वेदिक इंडिया, वा० १, पेज ६६।
6. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंशियंट एण्ड मेडिवल आफ इंडिया, पेज ८१।
7. India in the vedic Age, 1971, P. 64.
8. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, वा० २३, १७९।
9. मार्कण्डेय पुराण (पार्जीटर द्वारा सम्पादित) पृ० २९१ (टिप्पणी)।
10. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ५३।

इसके तथा व्यास के संयुक्त प्रवाह के लिये प्राचीन भूगोलवेत्ताओं[१] ने 'घग्घर' अभिधान प्रयोग किया है, क्योंकि ऐतिहासिक[२] तथ्यों के अनुसार सतलज सन् १२४५ ई० में घग्घर से हट कर और उत्तर को बहने लगी थी तथा कालान्तर में पुनः घग्घर की ओर लौट आयी। सन् १५९३ ई० में यह लगी थी तथा कालान्तर में पुनः घग्घर को छोड़ कर उत्तर को चली गयी और आगे फिर इससे मिल गयी थी। सन् १७७६ में अंतिम रूप से सतलज घग्घर को छोड़ कर कपूर्थला के द० प० कोण पर व्यास से मिल गयी थी।[३] तब से वैसी ही प्रवाहित हो रही है। इस दृष्टि से कन्निंघम द्वारा सतलज को मानचित्र सं० ५ तथा ६ में पंजाब की अन्य पाँच नदियों में उच (Ucha) के निकट मिला कर गलत अंकित किया गया है।[४] वस्तुतः व्यास-सतलज की सयुक्त धारा दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई अलीपुर और उच (Alipur & Ucha) के मध्य चेनाब से मिल जाती है। पुनः चेनाब चार-पाँच नदियों की संयुक्त धारा के रूप में दक्षिण-पश्चिम को प्रवाहित होकर पंचनद में सिन्धु से मिल जाती है।

मरुद्वृधा—इसका ऋग्वेद (१०/७५/५) में उल्लेख हुआ है। डॉ० स्टाइन प्रभृति विद्वानों ने इसे आधुनिक मरुवर्धन अथवा मरुवर्दवान[५] नदी से समीकृत किया है जो चिनाब (Chenab) (असिक्नी) की पश्चिमी सहायक नदी के रूप में जम्मू-कश्मीर राज्य की मरुघाटी से होकर उत्तर से प्रवाहित होकर किश्तवार के समीप चेनाब[६] में मिलती है। इस तथ्य का डॉ० पी० एल० भार्गव[७] ने भी समर्थन किया है।

कतिपय विद्वान्[८] वितस्ता (झेलम) तथा असिक्नी (चेनाब) की संयुक्त धारा

---

१. बी० सी० लाहा—प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, १९७२, लखनऊ, पृ० २०६। एन० एल० डे—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पे० ८१।
२. इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, वा० २३, पेज १७९।
३. वही।
४. ऐंशियंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, मैप ५ एवं ६।
एम० एल० भार्गव, ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वेदिक इंडिया, पे० १०४।
५. भंडारकर-मरुवर्द्वान् नाम ग्रहण करते हैं, भंडारकर का मेमोरेशन वा० १९१७, पृ० २३-२४।
६. कन्निंघम्स ऐंशियट ज्योग्राफी आफ इंडिया, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३९।
७. India in the vedic Age, 1971, P. 64-65.
८. लुडविग—ऋग्वेद का अनुवाद—३/२००—त्सिमर, अल्टेन इन्डिशेस लेबेन ११/१२, गिरीशचन्द्र अवस्थी, वेदधरातल, पृ० ५०९।

को मरुद्वृधा से अभिन्न स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से मरुद्वृधा (मरुवर्धन) ऋग्वैदिक काल में एक स्वतन्त्र (प्रधान) नदी रही होगी, कालान्तर में असिक्नी (चेनाब) सहायक के रूप में उससे मिल गयी होगी।

द्वितीय वर्ग की नदियाँ : सरस्वती नदी समूह—सरस्वती प्रवाह प्रणाली अर्थात इस द्वितीय वर्ग की नदियाँ द० पू० सप्तसैन्धव प्रदेश के उस भू-भाग से संबंधित है जिसका ढाल सामान्यतः उत्तर से दक्षिण के साथ ही द० पू० से द० प० को होने के कारण यहाँ की नदियों की प्रवाह दिशा भी तदनुसार ही है। इन नदियों का प्रतिनिधित्व सरस्वती करती है तथा उसे वैसा ही उस समय महत्त्व प्राप्त था जैसा पश्चिम की नदियों में सिन्धु को।

सरस्वती ऋग्वेद मे सरस्वती के सम्बन्ध में अनेक ऋचाएँ[1] उपलब्ध होती है, जिससे उस समय का इसका महत्त्व स्वतः ही व्यक्त होता है। आधुनिक काल में जो महत्त्व गंगा को प्राप्त है, वैदिक काल मे वही महत्त्व सरस्वती को प्राप्त था।[2] ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों[3] से यह प्रतीत होता है कि यह सात धाराओं अथवा सहायक नदियों के साथ प्रवाहित होकर समुद्र मे गिरती थी।[4] ऋग्वेद के अतिरिक्त सरस्वती अन्य वैदिक[5] साहित्य मे भी उल्लिखित है जिसमे ताण्ड्य ब्राह्मण[6] के अनुसार इसके विनशन (लुप्त होने के स्थान) तथा जैमिनि ब्राह्मण[7] में 'प्लक्ष-प्रास्रवण'

---

१. ऋग्वेद, २/४१/१६—अम्बितम नदीतमे देवि तमे सरस्वति। २/४१/१८—इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति। ३/२३/४—दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां ···। ऋग्वेद, ६/६१/२—इयं शुष्मेभिः···सानुगिरीणां, ७/९५/१—प्रबाध्यामाना रथ्येव याति, ७/३६/६—सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता। ८/२१/१७—सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु···८/२१/१८। १०/७५/५—इमे मे गंगे यमुने सरस्वति।

२. ऋग्वेद, २/४१/१६।

३. ऋग्वेद, ७/३६/६—सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता। ऋग्वेद, ६/६१/१२—त्रिषधस्था सप्तधातुः पंचजातावर्धयन्ती। ऋग्वेद, ६/६१/१०—उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा।

४. ऋग्वेद, ७/९५/२।

५. तैत्तिरीय संहिता—७/२/१/४, ताण्ड्य ब्राह्मण—२५/१०/१,६। जैमिनि ब्राह्मण—२/२९७, ऐतरेय ब्राह्मण—२/१९। मैक्समूलर, ऋग्वेद संहिता, पृ० ४६ (ओजवती सरस्वती समुद्र में गिरती थी।)

६. ताण्ड्य ब्राह्मण—२५/१०/१,१६। ७. जैमिनि ब्राह्मण—२/२९७।

(उन्मज्जन) का तथ्य व्यक्त हुआ। मूल ग्रन्थों[1] के अतिरिक्त अन्य संस्कृत साहित्य[2] में भी इसके तट पर किये गये यज्ञों का महत्त्व तथा इसके जल की पवित्रता बताई गयी है।

हिलेब्राण्ट इसे अराकोसिया की आरगन्दाब, ब्रन्होफर एवं मुद्गरशानस्काउडर आक्सस तथा मैक्डानेल एवं कीथ इनके मतों पर विचार करते हुये इससे भिन्न आधुनिक सरस्वती (घग्घर) से समीकृत करते हैं।[3] सरस्वती के समीकरण के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की भाँति भारतीय विद्वानों में भी वैमत्य विद्यमान है।

जनरल कनिंघम,[4] एन० एल० डे[5], एम० एल० भार्गव[6], ज० पी० एल० भार्गव[7] प्रभृति विद्वान् इसे आधुनिक सरस्वती (घग्घर से मिलने वाली) नदी से भिन्न नहीं मानते है, जबकि प्रो० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय[8] इस विचार से असहमति व्यक्त करते हुए इसे सिन्धु नद स्वीकारते हैं, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र की सरस्वती को पटियाला में विलुप्त मानते हैं।

सरस्वती नदी हिमालय (शिवालिक) पर्वत की सिरमूर श्रेणियों (अम्बाला जिले की सीमा के समीप) से निकल कर अपने उद्गम के दक्षिण उन्नत धरातल निर्मित करती हुई पूर्व में यमुना, पश्चिम में शुतुद्रि (सतलज) के मध्य प्रवाहित होती

---

१. कात्या० श्रौ० सू० —१२/३,२०, २४/६,२२, लाट्या० श्रौ० सू० १०/१५/१, १८/१३, १९/४, आश्व० श्रौ० सू० १२/६/२,३ सांख्या० श्रौ० सू० १३/२९।
२. महा० वनपर्व, अध्याय ८२, पू० मेघ० ५३—कृत्वा तामामभिगममपां सौम्य ...।
३. वैदिक इण्डेक्स, वा० २, पृ० ४८०। रामा० कि०, ४०/२१, मनु० २/७।
४. एँशियंट ज्योग्राफी आफ इंडिया (इन्ट्रोडक्शन), पेज ३९। आरकियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, वा० १४, पेज ८९-१०० (सरस्वती की सात सहायक—सप्त सारस्वत भी माना है)
५. ज्योग्राफिकल डिस्कवरी ऑफ ऐंशियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, पे० ८०।
६. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ७०।
७. India in the vedic Age, P. 61-62.
८. वैदिक भूगोल, शीर्षक लेख, भूगोल पत्रिका इलाहाबाद सं०, रा० ना० मिश्र, १९१३, पृ० २१ तथा "आइडेन्टीफिकेशन आफ द ऋग्वेद—रिवर्स सरस्वती ऐण्ड सम कनेक्टेड प्रोब्लेम" नामक लेख।

हुई अधबद्री (अदबरी) के निकट मैदान में उतरती है।[1] भवानीपुर और बालच्छर के पास तक इसका प्रवाह बालू में लुप्त हो जाता है, किन्तु आगे कुछ दूर बरखेड़ा के समीप यह पुनः प्रकट हो जाती है। बिहोआ (बेहोआ) के पास उरनई में मार्कण्ड (मारकण्डा) नदी इससे मिलती है।[2] इससे आगे ११० मील पटियाला में रसूल के पास संयुक्त धारा के रूप में यह घग्घर (घर्घर) से मिल जाती है जहाँ से यह नदी 'हकरा' अथवा 'सोतार' नाम धारण करती है हनुमानगढ़ (बीकानेर जिला के पास) यह पुनः बालू में विलुप्त हो जाती है।

इसका शुष्क प्राचीन प्रवाह क्षेत्र बीकानेर के पास एक सौ मीटर से भी अधिक लम्बा तथा ३ से ५ मील तक चौड़ा है जिसे उत्तर-पूर्व की ओर यमुना तक भी खींचे जाने की कल्पना कर सकते हैं। सम्भवतः कभी यमुना का प्रवाह अथवा उसकी कोई सहायक (शाखा) सरस्वती से मिली हो। ऐसी भी डॉ० एम० एन० कृष्णन् प्रभृति कुछ भौगोलिकों की अवधारणा है कि सतलज (शुतुद्रि) नदी ने सरस्वती (हकरा), (सोतार या वाहिन्द) का अधिकांश जल अपहरण कर लिया, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य सतलज को पंजाब की नदी होना १२०० ई० तक प्रमाणित नहीं करते।[3] अथवा इसके उद्गम प्रदेश में भी परिवर्तन संभव है, क्योंकि पहले मूलतः हिमालय से सरस्वती अपना जल ग्रहण करती थी जो हिमालय (Pliestocene) युग से उठ रहा है। अतः शिवालिक श्रेणियों में भौगर्भिक परिवर्त्तनों के कारण ऊपर उठ कर सरस्वती का मूल जल-स्रोत काट दिया होगा।

सरस्वती अपने प्राचीन प्रवाह से लगभग ७००० वर्गमील तक का क्षेत्र सिंचित करती रही होगी जो अब रेगिस्तान रह गया है तथा अन्ततोगत्वा यह सिन्धु के समान ही सारस्वत (पारावत के पूर्वी भाग के) समुद्र में गिरती होगी। कालान्तर में इसके विलुप्त होने के बाद तीन स्थलों (चमसोद्भेद, शिरोद्भेद तथा नागोद्भेद) मे पुनः प्रकट होने का उल्लेख संस्कृत काव्य-ग्रन्थों[4] में प्राप्त होता है। पटियाला की बोली

---

१. कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान डॉ० के० एन०— द्विवेदी, १९६९, पृ० १२५।

२. पंजाब गजेटियर, अम्बाला डिस्ट्रिक्ट, अध्याय १।

३. ज्योलोजी ऑफ इंडिया ऐण्ड बर्मा—डॉ० एम० एन० कृष्णन्, मद्रास, १९५५, पृ० २६।

४. महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२।

में आज भी इसे 'सुरसुति' कहा जाता है, किन्तु आगे घग्घर में मिलने के कारण कालान्तर में सरस्वती अपने मूल अभिधान के साथ अपने अस्तित्व को ही खो बैठी। अतः विद्वान्[१] इस पुरातन महती नदी को घग्घर के साथ ही समीकृत करने लगे हैं, किन्तु इसे मूलतः पटियाला की सिरमूर शृंखलाओं से निकलने वाली आधुनिक सरस्वती से अभिन्न स्वीकार करना चाहिये।

सरस्वती की सहायक नदियाँ—

दृषद्वती—सरस्वती और आपया के साथ इसका ऋग्वेद[२] में उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों[३] में इसके तट पर यज्ञों के दृश्यों को वर्णित किया गया है। लाट्यायन श्रौत सूत्र[४] में दृषद्वती का बरसाती सरिता होना व्यक्त होता है। मनु[५] के अनुसार सरस्वती तथा दृषद्वती देव नदी के रूप में ब्रह्मावर्त (सरस्वती एवं दृषद्वती के मध्य में मध्यदेश या आर्यावर्त का एक भाग) की पश्चिमी सीमा निर्धारित करती थी। महाभारत[६] के अनुसार यह कुरुक्षेत्र की दक्षिणी सीमा निर्धारित करती थी तथा इसके और कौशिकी नदी के संगम को अत्यन्त पुनीत[७] माना गया है।

मैक्डानेल एवं कीथ[८] तथा रैप्सन[९] आदि पाश्चात्य विद्वान् इसे चितंग चितंग (चौतङ्ग) से समीकृत करते है, जिसका समर्थन प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी[१०], पं० वि० ना० रेउ[११], डॉ० पी० एल० भार्गव[१२] आदि विद्वानों के अतिरिक्त अन्यत्र[१३] भी प्राप्त होता है।

---

१. जे० आर० ए० एस०, १८९३, पेज ५१।
२. ऋग्वेद, ३/२३/४—दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।
३. पचविंश ब्राह्मण, २५/१०/१३।
४. लाट्यायन श्रौतसूत्र—१०/१२।
५. मनु० २/१७।
६. महा० तृतीय, ५/२, ८३/६८।
७. वामनपुराण, अ० ३४, ३६।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४८०।
९. ऐंश० इंडिया, रैप्सन, पे० ५।
१०. द ज्यो० इन्सा० आफ ऐ० ऐण्ड मेडि० इंडिया, पार्ट १, पे० ११७।
११. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि—पृ० ११३।
१२. India in the vedic Age, P. 67.
१३. इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, पे० २६, जे० आर० ए० एस०, १८९३, पे० ५८।

जनरल कन्निंघम ने दृषद्वती का थानेश्वर के द० प० बहने वाली 'राक्षी' नदी से समीकरण किया है[1] तथा कतिपय[2] विद्वानों ने इसे 'घग्गर' जो अम्बाला और सरहिन्द से होकर बहती है, से अभिन्न माना है।

दृषद्वती निश्चित् रूप से यमुना के निकट पश्चिम मे सरस्वती की सहायक के रूप में बहने वाली चौतंग नदी है, जो ज० कन्निंघम एवं डॉ० ए० सी० दास द्वारा निर्दिष्ट राक्षी तथा घग्घर नदी से सर्वथा भिन्न है। वर्तमान पश्चिमी यमुना नहर के स्थान पर यह नदी ऋग्वैदिक कालोपरान्त प्रवाहित थी तथा सरस्वती के उद्गम स्थल (सिरमूर पर्वत शृंखलाओं) से निकल कर इसका प्रवाह पश्चिमाभिमुख था। यहाँ से दक्षिण की ओर अब अपना पथ परिवर्तित कर अम्बाला और शाहाबाद जिलों से होकर बहती है। सिरसा में यह सरस्वती से संयुक्त होती सी प्रतीत होती है। इसके आगे दोनों (सरस्वती एवं दृषद्वती) सरिताएँ विलुप्त हो जाती हैं। प्राचीन नगर पृथूदक (वर्तमान पेहोआ) इसी के तट पर स्थित है। ऋग्वेद में अन्यत्र[3] उल्लिखित अश्मन्वती' को अर्थसाम्य के आधार पर कतिपय लोगों ने भ्रमपूर्ण इसका समीकरण किया है।

आपया - ऋग्वेद[4] में सरस्वती और दृषद्वती के साथ आपया का भी उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार यह सरस्वती की सहायक नदी प्रतीत होती[5] है तथा इसके एवं दृषद्वती के बीच बहती थी[6]। लुडविग[7] इसे आपया से समीकृत करते है, जो गंगा का अन्य नाम है, जबकि जिमर इसे सरस्वती के समीप उसकी छोटी सी सहायक नदी बताते है जो थानेश्वर के पीछे अथवा वर्तमान इन्द्रमती नदी के कुछ दूर पश्चिम में प्रवाहित है।[8] पिशेल ने इसे कुरुक्षेत्र[9] की प्रसिद्ध नदी के रूप में निर्दिष्ट किया

१. आरकियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, वा० १, १४, पे० ८८।
२. एलफिन्स्टन ऐण्ड टाड, जे० ए० एस० बी०, ६, पे० १८१। ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पृ० ७१।
३. ऋग्वेद, १०/५३/८।
४. ऋग्वेद, ३/२३/४—दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां......।
५. डॉ० पी० एल० भार्गव भी अपया को सरस्वती की सहायक (सरस्वती दृषद्वती के बीच प्रवाहित) नदी मानते हैं (India in the Vedic Age, P. 67.)
६. ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐं० ऐण्ड मेडि० इंडि० पा० १, पे० ३०।
७. ऋग्वेद का अनुवाद—३/२००।
८. एल्टेन डिस्चेज लेबेन, १८।
९. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पं० बलदेव उपाध्याय—मानुष तीर्थ (कुरुक्षेत्र) से एक कास पूर्व की बरसाती नदी, जो अस्थिपुर महेश्वर देव के समीप बहती है।

है[1] जो महाभारत[2] में उल्लिखित है। थामस[3], एम० एल० भार्गव[4] तथा जनरल कॉन्निघम[5] द्वारा इसका समीकरण औघावती (Aughavati) के साथ किया गया है, जबकि श्री राहुल सांकृत्यायन[6] तथा डॉ० एस० सी० दास[7] आपया को मरकण्डा नदी से अभिन्न स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुये ऋग्वेद के उल्लेख एवं स्थानीय परम्पराओं के आधार पर 'औघावती' के साथ ही आपया का समीकरण किया जा सकता है। जो चौतंग (Chautang-चितंग) नदी के निम्न प्रवाह की सरस्वती दृषद्वती की मध्यवर्तिनी एक शाखा नदी है।

गुङ्गू—इसका सिनीवाली, राका तथा सरस्वती नदी के साथ उल्लेख हुआ है[8]। अतः यह प्रकारान्तर से सरस्वती की सहायक सरिता प्रतीत होती है। गुंगू जाति के लोगों, जिनकी करंज एवं पर्णय से दिवोदास भरत ने रक्षा की थी, से घनिष्ठ संबंधित होने के कारण इसका गुंगू नाम वैदिक काल में प्रचलित हो गया। लुडविग[9] इसे जन-जाति संभावित करते हैं, जबकि गिरीशचन्द्र अवस्थी[10] इसकी सम्भावना किसी देश के होने की करते हैं। श्री एम० एल० भार्गव[11] के मतानुसार यह निश्चित रूप से एक नदी है, जो लोहगध (Lohgadh) से समीकृत की जा सकती है। यह सिनीवाली (सोम) की सहायक रूप में उससे शेरगढ़ के नीचे मिलती है। अतः गुंगू को इसी को लोहगध नदी मानना चाहिये।

---

१. मैकिण्डल, ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ० १३६ तथा आगे।
२. महाभारत, ३/८३/६८।
३. जे० आर० ए० एस०, वा० १५, पेज ३६२, नोट ५।
४. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पेज ५८।
५. ऐन्शियंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, मैप नं० १० ऐण्ड आरकियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, वा० १५।
६. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २५५।
७. ऋग्वैदिक इंडिया, वाल्यूम १, पेज ६६।
८. ऋग्वेद, २/३२/८—या गुंगूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती।
९. ट्रान्सलेशन आफ द ऋग्वेद, ३/१६५।
१०. वेद धरातल, २०१० वि०, लखनऊ, पृ० २९६।
११. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पे० ५८।

सिनीवाली—उपर्युक्त सन्दर्भ[1] के अतिरिक्त अन्यत्र[2] भी सिनीवाली का सरस्वती के साथ ही समुल्लेख हुआ है। अतएव यह भी सरस्वती की ही सहायक नदी कही जा सकती है। ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[3] ने इसका समीकरण आधुनिक 'सोम अथवा सोम्भ (सोम्ब) के साथ किया है, जो बोली एवं पश्चिमी यमुना नहर से चचरेली (Chacharali) से तीन मील द० पू० मे मिलती है। दृषद्वती से भी इसके मिलने की सभावना की जा सकती है तथा अप्रत्यक्षरूप से इसको भी सरस्वती की सहायक नदी स्वीकार किया जाना चाहिये।

राका—यह सिनीवाली तथा सरस्वती के साथ ऋग्वेद (२/३२/८) में उल्लिखित होने के अतिरिक्त[4] अन्य स्थलो मे भी वर्णित हुई है। जनरल कन्निंघम[5] भ्रान्तिवश इसे चितंग (Chitang) की निचली धारा ग्रहण करते हैं, किन्तु उन्होंने कुरुक्षेत्र के मानचित्र[6] के अन्तर्गत इसे 'टोपरा' तथा 'लाछ' के आगे प्रवाहित कर तत्पश्चात् तिरावदी के पास निचली चेतंग मे मिलती हुई प्रदर्शित किया है। डॉ० पी० एल० भार्गव[7] तथा श्री एम० एल० भार्गव[8] इसका समीकरण आधुनिक रागा अथवा राक्सी (Raxi) से करते है, जो सामान्यत. स्वरूप के साथ ही सम्बन्धित क्षेत्र को दृष्टि मे रखते हुए स्वीकार्य होना चाहिये। डॉ० भार्गव ने राका (राक्सी) के अतिरिक्त 'बृहद्दिवा' को भी सरस्वती की सहायक नदी स्वीकारा है। यह धारणा भी तथ्ययुक्त प्रतीत होती है।

असुनीता—इसका समुल्लेख सारस्वत क्षेत्रीय सहायक नदी के रूप मे हुआ है।[9] प्रतीत होता है, प्रारम्भ मे यह यमुना की ओर पर्वतीय धारा मे प्रवाहित थी, किन्तु कालान्तर मे पानीपत के पास यमुना से पृथक् होकर सरस्वती-प्रवाह की ओर आकृष्ट हो गई। श्री एम० एल० भार्गव[10] इसे गोहाना के निकट अनुमति (निचली नई)

---

१. ऋग्वेद, २/३२/८। २ ऋग्वेद, १०/१८४/२।
३. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ५८।
४. ऋग्वेद, २/३२/४,५, ५/४२/१२।
५. ऐन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, मैप न० १०।
६. आरकियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, वा० १४।
७. India in the Vedic Age, 19/1, P, 68.
८. ए ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पे० ५८।
९. ऋग्वेद, १०/५९/५ तथा १०/५९/६—असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः…… ।
१०. ए ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ५२।

नदी से संयुक्त स्वीकार करते हैं। यह कुरुक्षेत्र की अन्य नदियों की अपेक्षा प्राचीनकाल में कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही होगी।

अक्षरा—यह भी सरस्वती की शाखा नदी के रूप में उल्लिखित[1] है तथा तीव्रगति से प्रवाहित होने वाली यह बरसाती नदी प्रतीत होती है। श्री एम० एल० भार्गव ने इसको वर्तमान लिन्धा (Lindha) से समीकृत किया है, जो तृतीय धारा के रूप में ग्रहण की जा सकती है।

उपर्युक्त सरस्वती प्रवाह-प्रणाली से संबंधित नदियों के अतिरिक्त श्री एम० एल० भार्गव प्रभृति विद्वानो ने ऋग्वेद (१/१०४/३-४) में उल्लिखित शिफा, अंजसी, कुलिशी तथा वीरपत्नी को भी इसी सरस्वती नदी-समूह के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उनके मतानुसार शिफा प्रधान नदी थी तथा शेष तीनों उसकी शाखा नदियाँ थीं। यह अवधारणा तथ्ययुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि एक साथ ही इनका उल्लेख हुआ है—"कुयवस्य योषे हते त स्यातां प्रवणे शिफायाः। अंजसी कुलिशी वीरपत्नी पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते"—ऋग्वेद १/१०५/३-४)। श्री भार्गव[2] ने शिफा को सुखना (Sukhna) (घग्घर में गिरने वाली नदी) से अजसी का तगौरा (तंगौरी अथवा तौग्री) से, कुलिशी को पटियाली से तथा वीरपत्नी को सिरिन्धी से समीकृत किया है, जो गिरीशचन्द्र अवस्थी के समीकरण (शिफा आदि नेपाल की नदियाँ हैं) से अधिक समीचीन ज्ञात होता है।

तृतीय वर्ग की नदियाँ—

यमुना-गंगा नदी समूह—इस वर्ग की गौण लघु सरिताएँ पूर्वी सप्तसैन्धव प्रदेश के भू-भाग से संबंधित हैं जिसका ढाल उ० प० से द० पू० को है। अतः इन नदियों का प्रवाह भी तदनुसार है जिसका प्रतिनिधित्व यमुना-गंगा करती है।

यमुना—ऋग्वेद[3] के अतिरिक्त अन्य वैदिक[4] ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में

१. ऋग्वेद, ७/१५/६ सहस्रिणी (अक्षरा), ७/३६/७—अक्षराचरन्ती······।

२. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वेद, पे० ६८, तथा वेद धरातल, पृ० ६५१, १८६।

३. ऋग्वेद, ५/१२/१७–यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे ......, (यमुना तट पर ऐश्वर्य प्राप्त करें), ७/१८/१९ आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च—(यमुना ने इन्द्र को सन्तुष्ट किया), १०/७५/५ इमं में गङ्गे यमुने सरस्वति·······।

४. अथर्व०, ४/६/१० (यमुना के आँजन का 'लिक कुद' के साथ उल्लेख), ऐतरेय ब्राह्मण-८/८३, शतपथब्राह्मण—१३/५/४/११ (भरतों को विजय एवं ख्याति यहीं यमुना पर मिली)। पंचविंश ब्राह्मण, ६/४/११, २५/१०/२४, १४/४। सांख्यायन श्रौत सूत्र, १३/२६/२५। आश्व० श्रौत सूत्र, १२/६/२२, ला० श्रौत सूत्र, १०/१६/६, १०।

भी इसका उल्लेख हुआ है। अतः सप्तसैन्धव प्रदेश की नदियों में निस्संदेह यह महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस सन्दर्भ में महापंडित राहुल सांकृत्यायन[1] की यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि ऋषि भारद्वाज ने जिस सीमान्त की नदी यमुना का नाम लिया है, उसकी ऋग्वेदकाल मे कोई प्रतिष्ठा नही थी, जबकि ऐसी बात नही है, क्योंकि सप्त-सैन्धव प्रदेश की प्रमुख नदियों के साथ यमुना उल्लिखित हुई हैं (ऋग्वेद १०/७५/५)। हॉपकिन्स[2] इसे भ्रान्तिवश परुष्णी (रावी) से अभिन्न मानते हैं, जो सर्वथा निराधार है, क्योकि तृत्सुओं का देश यमुना और सरस्वती के बीच (पूर्व से पश्चिम) था।

वस्तुतः यमुना वर्तमान यमुना से भिन्न नहीं है जिसे चीनी लोग 'येन-मौ-ना' (yen-Mou-na) अभिधान प्रयुक्त करते हैं। ऋग्वेदकाल में इसका स्वरूप अवश्य भिन्न था तथा आज की अपेक्षा अधिक पश्चिम की ओर यह प्रवाहित थी। इस तथ्य को प्राचीन भूगोलविदो[3] द्वारा भी समर्थित किया गया है। यमुना गगा के पश्चिम मे हिमालय पर्वत-माला (कामेत पर्वत के आगे) १३००० फीट की ऊँचाई पर जो बन्दरपुच्छ क पश्चिमी भाग मे स्थित है, यमुनोत्री से निकल कर उत्तर से दक्षिण-पूर्व को प्रवाहित होती हुई सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी (आरावत) समुद्र मे गिरती थी, किन्तु आधुनिक काल मे यह गगा के समानान्तर प्रवाहित होने के लिये उत्तरी भारत के मैदान मे प्रवेश करने के पूर्व शिवालिक श्रेणियो एवं गढ़वाल में एक घाटी निर्मित करती है, जहाँ (देहरादून जिले मे) पश्चिम की ओर से दो सहायक नदियाँ (जिनमे एक उत्तरी टोंस है) इसमे मिलती है। आगरा और प्रयाग के मध्य चार बड़ी सहायक (चम्बल, सिन्धु, सेगुर, बेतवा आदि) नदियों का जल लेकर इलाहाबाद मे गंगा को सौप देती है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे इसका प्रवाह स्वच्छन्द एव प्रमुख नदी जैसा था, कतिपय भूगर्भशास्त्री तथा भौगोलिकों की यह धारणा है कि यमुना बहुत पहले (वैदिक युग मे) द० तथा द० पश्चिम की ओर राजस्थान से होकर प्राचीन सरस्वती के समीप बहती होगी तथा बाद मे किसी प्रकार उसकी धारा से मिल कर जल-अपहरण कर (पूर्व दक्षिण पूर्व) को प्रवाहित होने लगी होगी।[4] सरस्वती अथवा

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ६।

२. इंडिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, पेज ५२, प्र० एडीशन।

३. ए ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ४१।

४. डॉ० एम० एस० कृष्णन्—ज्योलोजी ऑफ इंडिया ऐण्ड बर्मा, १९५६ मद्रास, पेज २८।

दृषद्वती के जल-प्रवाह की विलुप्तता को दृष्टि में रखते हुये इसे हम तथ्यात्मक रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

यमुना की सहायक-अश्मन्वती—इसका निश्चित रूप से दृषद्वती से भिन्न एक प्रवाहित नदी के रूप में उल्लेख हुआ है।[1] एन० एल० डे[2] इसे ऑक्सस (Oxus) से समीकृत करते हैं, जिसे डॉ० पी० वी० काणे[3] ने स्वीकृत नहीं किया है। प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी[4] इसकी सम्भावना अफगानिस्तान में करते हैं, जबकि ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[5] ने इसका समीकरण अश्मी अथवा औसन नदी से किया है।

वस्तुतः अश्मन्वती को अश्मी (जो शिमला श्रेणी महासू के पास से निकल कर गिरि गंगा से मिलती है) नदी की अपेक्षा आसन (Asan) से समीकृत करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यह यमुना की पर्वतीय सहायक नदी थी तथा इसका प्रवाह अत्यन्त तीव्र था (अश्मन्वती रीयते···). यह हिमालय (मंसूरी तथा देहरादून के पास) में निकल कर शिवालिक की दो श्रेणियों के मध्य पश्चिमाभिमुख प्रवाहित होती है।

अंशुमती—यह यमुना की समीपवर्तिनी शाखा नदी है जिसके तट पर दस सहस्र सैनिकों के साथ कृष्ण नामक असुर के निवास करने का उल्लेख हुआ है।[6] ऋग्वेद के अतिरिक्त परवर्ती संहिताओं[7] एवं अन्य संस्कृत ग्रन्थों[8] में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। बृहद्देवता (६/११०) के अनुसार इसकी अवस्थिति कुरु देश के अन्तर्गत निर्दिष्ट की गयी है। यह तथ्य रामायण (अयोध्याकांड ५५/६) से पुष्ट हो जाता है जिसमें अंशुमती को यमुना से अभिन्न अथवा उसके अत्यन्त निकट प्रवाहित वर्णित किया गया है।

---

१. ऋग्वेद, १०/५३/८—अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
२. द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पेज १३।
३. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ४, पे० ७३४।
४. द ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐंशि० ऐण्ड मेडि० इण्डिया, पार्ट १, पेज ३६।
५. ए ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ४१।
६. ऋग्वेद, ८/९६/१३—अवद्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः। ८/९६/१४···चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः, ८/९६/१५—अवद्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे धारयत्तन्वं।
७. अथर्व० २०/९/१३, सामवेद, सं० पूर्वार्चिक, ऐन्द्र पर्व, ३/१०/१।
८. बृहद्देवता, ६/११०, बाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, ५५/५, ६, १४।

इसे ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[1] भानुमती (बधूसरा—बुहान) से समीकृत करते हैं, जो उ० पारियात्र से निकल कर द० पश्चिम की ओर से प्रवाहित होती हुई झज्झर नामक स्थान के समीप ऋग्वैदिक काल में अर्वावत् या आरावत (पूर्वी) समुद्र से मिलती है।

श्री गिरीशचन्द्र[2] अवस्थी ने अंशुमती को यमुना से अभिन्न माना है।

श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी की अवधारणा वाल्मीकीय रामायण पर यद्यपि आधारित है, तथापि अंशुमती को यमुना के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता, इसके साथ ही श्री भार्गव का भी समीकरण मात्र अनुमान पर आधारित होने के कारण स्वीकार्य नही है। अंशुमती को यमुना की सहायक के रूप में ही मानना चाहिए, जो कुरुक्षेत्र की ओर से (पश्चिम से पूर्व को) प्रवाहित होकर यमुना में मिलती थी।

गंगा—यह सप्तसैन्धव प्रदेश की पूर्वी सीमान्त नदी थी, जिसका पूर्व से पश्चिम की प्रमुख नदियों के साथ[3] गंगा तटवासी—जन (गाङ्ग्य[4]) के रूप में उल्लेख हुआ है। गंगा के लिए इस समय प्रयुक्त अन्य अभिधान जाह्नवी[5] का भी ऋग्वेद मे तथा शतपथ ब्राह्मण १३/५/४/११ में गंगा का प्रयोग हुआ है, यद्यपि गंगा और यमुना का उल्लेख सिन्धु की सहायक तथा सरस्वती आदि नदियों के साथ हुआ है, तथापि वैदिक-कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रधान सात नदियों के समान इन्हें उतना महत्त्व नहीं मिला है, जितना सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी, विपाश, असिक्नी, वितस्ता, सिन्धु को। इससे प्रतीत होता है, ऋग्वैदिक गंगा (यमुना की अपेक्षा) एक गौण नदी थी। लुडविग[6] इसे आपगा से अभिन्न समझ कर आपया (सरस्वती की सहायक) से समीकृत करते हैं, यह समीकरण निराधार होने के कारण मान्य नहीं कहा जा सकता। यह (गंगा) वर्तमान गगा नदी से भिन्न नहीं है, किन्तु इसका आकार अवश्य परिवर्तित—परिवर्धित हो गया है। प्राचीन भूगोलवेत्ताओं[7] के मतानुसार यह हिमालय श्रेणियों से

१. द ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पेज ५०।

२. वेद धरातल, २०१० विक्रमी, लखनऊ, पृ० ४।

३. ऋग्वेद, १०/७५/५। इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमंसचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।

४. ऋग्वेद, ६/४५/११—अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः।

५. ऋग्वेद, ३/५८/६।

६. ट्रान्सलेशन आफ ऋग्वेद, ३/२००।

७. एम० एल० भार्गव, द ज्योग्राफी आफ ऋग्वेद इंडिया, पेज ४१।

निकल कर थोड़ी दूर ही प्रवाहित होकर (वर्तमान हस्तिनापुर के समीप) पूर्वी समुद्र (आरावत) में गिरती थी।

गंगा का उद्गम मध्य हिमालय की १२८०० फीट ऊंचाई पर केदारनाथ के उत्तर में (३०°—५६ फी० अ०, ७८°—४५ फी० दे०) अवस्थित गंगोत्री (गोमुख) नाम की १६ मील लम्बी हिम-कन्दरा से हुआ है। प्रारम्भ में २ गज चौड़ी १५ इंच गहरी भागीरथी नाम से अपनी सहायक जाह्नवी एवं भिल्लांगना को मिला कर प्रथम १८० मील पर्वतीय प्रबल प्रवाह के पश्चात् टेहरी के नीचे देवप्रयाग में अलकनन्दा को आत्मसात् करती है। देवप्रयाग से ही इस संयुक्त तीव्र प्रवाह को गंगा कहा जाता है। हरिद्वार (गंगा द्वार) में गंगा के वेगपूर्ण प्रवाह का अवतरण मैदानी भाग में होता है, जहाँ से यमुना-संगम प्रयाग तक यह दक्षिण-पूर्वाभिमुख बहती हुई उत्तर में सरयू (घाघरा), राप्ती, गण्डकी तथा दक्षिण से सोन (शोण) का जल लेती हुई, राजमहल पहाड़ियों के पास दक्षिण को मोड़ लेकर १५५० मील का लम्बा मार्ग तय कर भागीरथी एवं हुगली जैसी शाखाओं में बँट कर पूर्वी सागर (बंगाल) की खाड़ी में विश्राम करती हैं। ऋग्वेद के आधार पर ज्ञात होता है, पूर्वी समुद्र (आरावत) के पास गंगा तट पर आर्यों की बस्तियाँ कम बसी थीं, वृबु आदि पणियों का ही इसके कछारों में निवास था।

सप्तसैन्धव प्रदेश की तीन वर्गों में वर्गीकृत उपर्युक्त प्रवाह-प्रणाली के अन्तर्गत ऋग्वेद में उल्लिखित प्रायः सभी नदियों का प्रत्यभिज्ञानात्मक विवेचन किया गया है, तथापि कतिपय ऐसी नदियाँ हैं, जिनका सुनिश्चित समीकरण न हो सकने के कारण, उन्हें किसी विशिष्ट नदी की प्रवाह-प्रणाली से संबंधित करना असमीचीन प्रतीत होता है। इन अज्ञात नदियों में नदी सूक्त[1] में सिन्धु के साथ प्रयुक्त ऋजिती, एनी, चित्रा, हिरण्यमयी, वाजिनीवती के अतिरिक्त सूनृता,[2] अरमति,[3] अदीना,[4] पावीरवी, कन्या, चित्रायु[5] आदि नदियाँ उल्लेखनीय हैं, जिन्हें किसी निश्चित नदी के साथ

१. ऋग्वेद, १०/७५/७-८—ऋजीत्येनी रुशती महीत्वा···अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा···।
२. ऋग्वेद, १/४०/३, १०/१४१/२।
३. ऋग्वेद, ७/३६/८—प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वं, ५/४३/६ महीमरमतिं देवी, ७/३४/२१, ८/३१/१२, १०/६४/१५, १०/९२/५ सिन्धुवस्तिरो महीमरम।
४. ऋग्वेद, ७/१८/८।
५. ऋग्वेद, ६/४९/७ पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती।

समीकृत नहीं किया जा सकता है, तथापि इनमें से कुछ नदियों (ऋजिती, एनी, चित्रा. हिरण्यमयी, वाजिनीवती) को कतिपय[१] विद्वानों ने सिन्धु से पृथक् नदी के रूप में तथा कतिपय विद्वान्[२] इन्हें सिन्धु का विशेषण (स्थानीय विशेषताओं के कारण) स्वीकार करते हैं।

श्री एम० एल० भार्गव[३] सूनृता को अनुमति (नई) नदी की ऊपरी सबसे बड़ी सहायक नदी से तथा अरमति को वृहस्पति से मिलने वाली छोटी नदी बेतन (Beton) से परिचित कराते हैं। इसी प्रकार श्री गिरीश चन्द्र अवस्थी[४] ने पावीरवी, कन्या, चिरायु को नदी मानते हुए कन्या को क्वांरी (चम्बल-यमुना की सहायक) से समीकृत किया है।

समीक्षा—यद्यपि उपर्युक्त सन्दर्भों में इन नामों को निश्चित रूप से नदी वाचक कहा जा सकता है, तथापि श्री भार्गव एवं पं० अवस्थी द्वारा निर्दिष्ट समीकरण अनुमान पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं कहे जा सकते हैं। जनरल कन्निंघम ने ऋजिती, एनी, चित्रा, वाजिनीवती आदि नदियों की संभावना सिन्धु की सहायक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में की है, तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है।

प्रमुख सात नदियों का निर्धारण उपरि विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में अनेक नदियाँ प्रवाहित थीं, जिनकी संख्या उनके महत्त्व एवं स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए ७[५] से लेकर २१[६], २८[७] तथा ९९[८] निर्दिष्ट की गई है। इन

१. ग्रिफिथ, हिम्स ऑफ दी ऋग्वैदिक इंडिया, १०,७५-८। ज० कनिंघम—ऐन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, इन्ट्रोडक्शन, xL। इनके द्वारा इन नदियों को सिन्धु की सहायक मान कर उ० प० सीमान्त क्षेत्र में निर्दिष्ट किया गया है।
२. एम० एल० भार्गव—द ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज १२७। वि० ना० रेउ…ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ११८।
३. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ५२, ७४।
४. वेद धरातल, पृ० ७१, ४३५।
५. सप्तसिन्धून—ऋग्वेद, १/३२/१२, ३४/८, ३५/८, ७१/७, १०२/२, १४१/२, १६४/३, १९१/१४, २/१२/३, ३/१/४, ४/२८/१, ५/४३/१, ६/७/६, ७/१८/२४, ६७/८, ८/२४/२७, ४१/२, ९, ९/६६/६, ९२/४, १०/४३/३, १०/४९/९, ६७/१२, १०४/८।
६. ऋग्वेद, १/१९१/१४—त्रिसप्त मयूर्यः, १०/६४/८—त्रिसप्त सस्रा।
७. ऋग्वेद, १०/७५/१—प्रसप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति।
८. ऋग्वेद, १/३२/१४—नव च नवतिं स्रवन्तीः…।

नदियों में निःसन्देह सात ऐसी प्रमुख (महत्त्वपूर्ण) नदियाँ हैं, जिनकी प्रवाह-प्रणाली से प्रभूत मात्रा में प्रभावित होने के कारण ही सप्तसिन्धवः शब्द तत्सम्बन्धित प्रदेश की भूमि के अभिधान रूप में भी प्रयुक्त होने लगा। इन सात नदियों को निर्धारित करने में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, जिस पर यहाँ पुनर्विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

मैक्समूलर तथा मुइर पुराने पंजाब की पाँच नदियों के साथ सिन्धु एवं सरस्वती को प्रमुख सात नदियाँ मानते है[1], जबकि लुडविग[2], लासन[3] तथा ह्विटनी[4], थामस[5] आदि पाश्चात्य विद्वान् सरस्वती के स्थान पर कुभा (काबुल) अथवा आक्सस नदी को ग्रहण करते हैं, जिस पर हापकिन्स[6], त्सिमर[7] एवं मैकडानेल[8] तथा कीथ ने असहमति व्यक्त की है। भारतीय विद्वानों में डॉ० ए०सी० दास[9], डॉ०सम्पूर्णानन्द[10], प० विश्वेश्वरनाथ रेउ[11], पी० एल० भार्गव[12], राहुल सांकृत्यायन[13] आदि का मत उल्लेख्य है, जिसमें सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश्, शुतुद्रि तथा सरस्वती को सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रमुख सात नदियों के रूप में निर्धारित किया गया है।

समीक्षा—उपर्युक्त मतों में लुडविग, लासन, ह्विटनी तथा थामस का मत मान्य नही हो सकता, क्योंकि कुभा (काबुल) कभी प्रधान नदी नही रही—वह सिन्धु की ही सहायक थी और न ऋग्वेद में उसकी कोई स्तुति अथवा महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार आक्सस को भी 'सप्तसैन्धव प्रदेश' की प्रमुख नदी नहीं

---

१. चिप्स—१/६३, मूइर—संस्कृत टैक्ट्स, १२, ४६० (नोट)।
२. ट्रान्सलेशन ऑफ ऋग्वेद, ३,२ ००।
३. इण्डिशे आल्टर थम्बस कुण्डे, १२,३।
४. जनरल ऑफ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, ३, ३११।
५. जनरल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८८३, पृ० ३७१।
६. ज० अ० ओ० सो०, १६,२७८ तथा इंडिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, पृ० ३३।
७. आल्टिडिश्चे लेवेन, २१। ८. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, १९६२ पृ० ४६८।
९. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पेज ६६।
१०. आर्यों का आदि देश, पृ० ३३।
११. ऋग्वेद, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि १९६७/११५।
१२. इंडिया, इन द वैदिक एज, १९५६, पेज २२। सं० १९७१, पृ० ७०।
१३. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, पृ० ५८।

माना जा सकता है, क्योंकि न तो इसका निश्चित नाम किसी अभिधान से ऋग्वेद में समुल्लेख प्राप्त होता है और न यह सप्तसैन्धव प्रदेश की सीमा के अन्तर्गत मानी जाती है। इसी प्रकार कैप्टेन शूरसिंह पंवार[1], हरि राम धस्माना[2] का भी मत संकुचित होने के कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि उन्होंने सिन्धु-सरस्वती जैसी विशाल एवं महिमामयी नदियों को उपेक्षित कर मात्र गढ़वाल क्षेत्रीय गंगा की सात सहायक छोटी नदियों पर ही अपनी (संकुचित) दृष्टि केन्द्रित की है। अतएव ऋग्वेद के विविध-सन्दर्भों में व्यक्त स्वरूप, एवं भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश, शुतुद्रि तथा सरस्वती को सप्त-सैन्धव प्रदेश की प्रमुख सात नदियाँ मानना सर्वथा समीचीन है। इनके महत्त्व के सम्बन्ध में अनेक ऋचाएँ सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करती हैं, इनमें से कतिपय नदियों को तो ऋषियों ने पूर्ण अथवा कई सूक्तों में अंशतः गौरवमय स्थान दिया है। महत्त्वपूर्ण ऐसी नदियों में पश्चिम की प्रमुख सिन्धु[3] तथा पूर्व की प्रमुख नदी सरस्वती[4] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्हें नदियो में श्रेष्ठ होने के कारण मातृकल्पा देवी माना गया है, साथ ही सात[5] अथवा सात से अधिक सहायक नदियों को आत्मसात् करने के कारण इन्हें 'सिन्धु माता' भी कहा गया है।

सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रमुख सात नदियों में सिन्धु एवं सरस्वती के मध्य प्रवाहित होने वाली परुष्णी (रावी), वितस्ता, असिक्नी, विपाश एवं शुतुद्रि का भी कम महत्त्व नही वर्णित हुआ। इस दृष्टि से शुतुद्रि, विपाश (व्यास) जिसने ऋषि विश्वामित्र की सुन्दर[6] स्तुति को सुन कर सुदास की सेना को मार्ग दे दिया था तथा परुष्णी[7] (रावी), जिसके तट पर 'दाशराज्ञ' युद्ध हुआ था, आदि भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

सप्तसैन्धव प्रदेश पर नदियों का प्रभाव

समस्त सप्तसैन्धव-प्रदेश पर नदियों का भौगोलिक व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी भौतिक संरचना में सिन्धु-सरस्वती आदि सात प्रधान नदियों का

१. विश्वभारती पत्रिका, खण्ड १२, अंक २, १९७१, पृ० ११०।

२. ऋग्वैदिक इतिहास, १९५४, लखनऊ, भूमिका पृ० (ज)।

३ ऋग्वेद, ३/३३/३ अच्छा सिन्धु।

४. ऋग्वेद, २/४१/१६—अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।

५. ऋग्वेद, ७/३६/६···सरस्वति सप्तथी सिन्धुमाता।

६ ऋग्वेद, ३/३३/१, २, ३, १२, १८ आदि।

७. ऋग्वेद, ७/१८/५,८।

महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उत्तरी-पश्चिमी उत्तुंग मूञ्जवन्त एवं हिमवन्त पर्वतमाला मे प्रस्रवित समुद्रगामिनी नदियों द्वारा अपने साथ में बहा कर लाई हुई मिट्टी के निरन्तर जमा होने से ही हिमालय की बृहत् उपत्यका (भू द्रोणी) में ही सप्तसैन्धव प्रदेश के उर्वर विशाल मैदान का निर्माण हुआ।[१] नदियों की अजस्र जलधारायें सम्पूर्ण भू-भाग को अभिसिंचित कर धन-धान्य[२] को सम्बर्धित करती थीं तथा तथा अन्नोत्पादन के साथ जल-दान के द्वारा जन-जीवन का महान् कल्याण करती थीं।[३] यही कारण है, अधिकांश मानव-बस्तियाँ यहाँ की नदियों के तटों पर बसी हुई थीं तथा मानव हित के लिए ही नदियाँ परिकल्पित की गई हैं।[४]

मानवीय आजीविकाओं पर भी इन नदियों का भौगोलिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से कृषि, पशुपालन तथा वस्त्रनिर्माणादि उद्योग तो नदियों से सर्वथा प्रभावित रहते हैं। यही कारण है, अन्नोत्पादिनी नदियों को कहीं ऊर्णावती (तट पर भेड़ें अधिक होने से ऊनयुक्त) कही वाजिनीवती (तीव्रगतिमयी अथवा तट पर घोड़े अधिक होने से) तथा कहीं हिरण्यमयी (रेत में सोना होने से) इस अभिधान से वर्णित[५] किया गया है। सिन्धु-क्षेत्रीय निर्मित सूती कपड़ा (मलमल) तो प्राचीन समय मे बेबिलोनिया एवं असीरिया को निर्यात किया जाता था। अत: बेबिलोनिया के लोग सिन्धु-प्रदेशीय मलमल को 'सिन्धु' कहा करते थे।[६]

सप्तसैन्धव प्रदेश की नदियाँ मानव-स्वास्थ्य को भी प्रभावित करती थी। इस सम्बन्ध मे "इनका जल 'शिपद्' जैसे अनेक रोगों को शान्त करता था"—ऋषि की नदियों से की गई कामना उल्लेखनीय है।[७] अपने आस-पास तटों पर हरित वानस्पतिक वैभव संजोये अजस्र प्रवाह द्वारा सामान्य तापमान से सुखद जलवायु की सृष्टि कर स्वस्थ मानव जीवन करने में इन सभी नदियों का अपरिहार्य योगदान रहा है।

इन नदियों की भौगोलिक-अवस्थिति का सप्तसैन्धव प्रदेश के राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन पर भी प्रभूत प्रभाव पड़ा है। जहाँ आन्तरिक राज्यों

---

१. मेम्वायर्स ऑफ द ज्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, वा० xLii, २, ८६-८७।
२. ऋग्वेद, ४/१९/७ प्राग्रुवो नभन्वो न···।
३. ऋग्वेद, १०/१२४/८—क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवस्ता··· ।
४. ऋग्वेद, १०/१०४/८—सप्तापो देवी:···स्रवन्तीर्देवेभ्यो···।
५. ऋग्वेद, १०/७५/७-८ ।
६. रिगोजिन्स, वैदिक इंडिया, पे० ३०६ ।
७. ऋग्वेद, ७/५०/४ · ता अस्मयं पयसा पिन्वमाना शिवा देवीर-शिपदा भवन्तु ।

(जन अथवा कबीलों) की ये नदियाँ सीमाएँ निर्धारित करती थीं, वहीं बाह्य राज्यों के शत्रुओं के आक्रामक अभियानों में गतिरोध भी उपस्थित करती थीं। इस सम्बन्ध में 'दाशराज्ञ युद्ध' एक सुन्दर उदाहरण है, जिसमें सुदास की सेना को पार उतारने के लिए विश्वामित्र[1] को विपाश-शुतुद्रि की स्तुति करनी पड़ी थी तथा परुष्णी की विकट गहरी धारा को नाव से पार[2] करने योग्य बनाने के साथ ही शत्रुओं ने उसकी ऊँची कगारों को खोद कर ढहा दिया था।[3] सुदास के प्रतिपक्षी असंख्य शत्रु परुष्णी की गहरी धारा में डूब मरे थे।[4] इतिहास साक्षी है—कालान्तर में ग्रीकों (यवनों) के इस देश पर हुए आक्रमण में इन नदियों ने महान् प्राकृतिक अवरोध उपस्थित किया था।

सिन्धु एवं सरस्वती ने सप्तसैन्धव प्रदेश की संस्कृति को सभी अर्थों में प्रभावित ही नहीं किया, अपितु इसे प्रसूत एवं पोषित भी किया है। यही कारण है, वैदिक-कालीन सप्तसैन्धव प्रदेशीय सांस्कृतिक संभागों में सिन्धु-तटीय-कश्मीर क्षेत्रीय-इला (इडा), सरस्वती तटीय-सारस्वत (सरस्वती) तथा भारती (सरस्वती तट पर बसे भरत जनों की अधिष्ठात्री) अधिष्ठातृ देवियाँ परिकल्पित कर (प्रतिष्ठित) की गई हैं।[5] जहाँ सिन्धु जन-जीवन को कर्म एवं उद्योग की प्रेरणा देती थी, वहीं सरस्वती अपने तटवासियों को तप, यज्ञ, पवित्र आचार और धर्म की प्रेरणा प्रदान कर आध्यात्मिक उत्कर्ष तक पहुँचाती थी। सप्तसैन्धव प्रदेश में ही नहीं, अपितु समस्त विश्व में नदियों की संस्कृति ही चिरन्तन काल से जन्म लेकर पुष्पित एवं पल्लवित होकर विलसित है।

इस प्रकार हम देखते हैं, विविध रूपों में 'सप्तसैन्धव प्रदेश' को वहाँ की प्रमुख नदियों ने प्रभावित किया, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया गया है। मानवभूगोल के संबंधित सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए इन नदियों के महत्त्व का प्रतिपादन आगे यथास्थान किया जायेगा।

---

१. ऋग्वेद, ३/३३/१, २,३, १२,१८ आदि।
२. ऋग्वेद, ७/१८/५।
३. ऋग्वेद, ७/१८/८—दुराध्यो····विजगृभ्रे परुष्णीम्।
४. ऋग्वेद, ७/१८/१२—अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं····।
५. ऋग्वेद, ३/४,८—आ भारती भारतीभिः सजोषा इळादेवैर्मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सार- स्वतेभिर वाक् तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्तु।
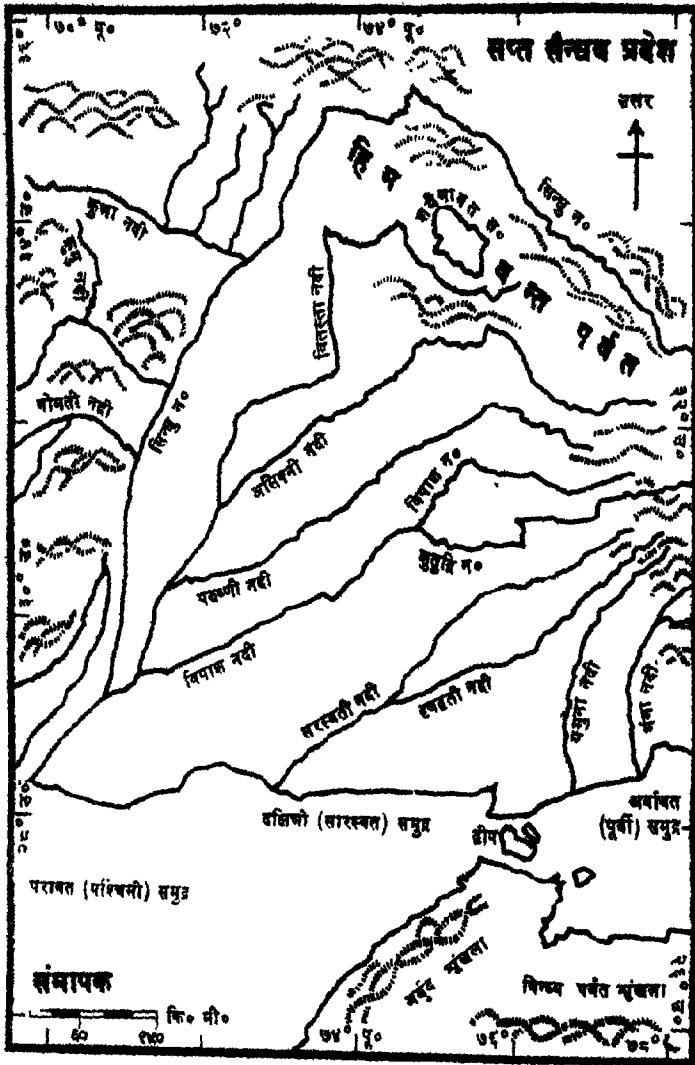
अलमण्डलीय स्वरूप

पंचम अध्याय

ऋग्वैदिक जल-मण्डलीय स्थिर रूप

सरोवर एवं सागर

यद्यपि पृथ्वी पर जल विविध रूपों (कूपों, स्रोतो, नदियो, झीलो एवं सागरों आदि) मे उपलब्ध होता है, तथापि भौगोलिक दृष्टि[1] से स्पष्टत: सरोवरो एवं सागरो के जल को ही जलमण्डल के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। यह जल, वेगनर (Wegner) के मतानुसार, धरातल के ७१·७ प्रतिशत भाग पर व्याप्त है। शेष २८·३ प्रतिशत भाग पर स्थल विस्तृत है, किन्तु क्रुमेल (Krummel) के विचार से धरातल के ७०·८ प्रतिशत भाग पर जल तथा २९·२ प्रतिशत भाग पर स्थल पाया जाता है।[2] सामान्यतया पृथ्वी के तीन चौथाई जलमग्न भाग को ही जल-मडल कहा जाता है।[3] इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'सप्तसैन्धव प्रदेश' के जलमण्डलीय स्थिर रूपों के अन्तर्गत यहाँ संक्षेप में सरोवर (झील) तथा सागरों का भौगोलिक विवेचन किया जा रहा है।

सरोवर (झील)

सप्तसैन्धव प्रदेश का स्थलीय भाग अनेक सरोवरो से सुशोभित था। इन सरोवरो का स्वरूप एक पोखर तथा तालाब से लेकर विशाल झाल तक विविध नामों के आधार पर ज्ञात होता है। आकार-प्रकार के अनुसार इन सरोवरो के ह्रद[4], पुष्करिणी[5], सर[6] अथवा सरसी आदि अनेक अभिधानो के अतिरिक्त 'शर्यणावत्'

---

१. भूगोल के भौतिक आधार, डॉ० आर० एन० दुबे, १९५४, इलाहाबाद, पृ० २९३।

२. पी० लेक—फिजिकल ज्याग्राफी, १९५२, पे० १४२।

३. भौतिक भूगोल के तत्त्व —सी० बी० मामोरिया, १९७२, आगरा, पृ० ५३३।

४. ऋग्वेद, ३/३६/८—ह्रदा इव कुक्षय: सोमधाना:। ३,४५/३—यथा ह्रदं कुल्या इवाशत। १०/७१/७—ह्रदा इव स्नात्वा··· ··। ७१/८—ह्रदा तष्टेषु।

५. ऋग्वेद, ५/७८/७—यथा वात: पुष्करिणी समिङ्गयति सर्वत:।

६. ऋग्वेद, ७/१०३/२- दिव्या आपो······न शुष्कं सरसी शयानम्, ८/४९/३—

नामक विशाल सरोवर का भी उल्लेख ऋग्वेद[1] में प्राप्त होता है, उस समय सप्त-सैन्धव प्रदेश में निम्नलिखित दो प्रकार के सरोवर विद्यमान थे :—

(१) कृत्रिम सरोवर तथा
(२) प्राकृतिक सरोवर।

(१) **कृत्रिम सरोवर**—ऋग्वेद (७/४६/२) तथा अथर्ववेद (१/६/४, १६/२/२) के सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है, मानवों द्वारा विस्तृत भूमि को खोद कर गहरे कृत्रिम जलाशय निर्मित किये जाते थे, जिन्हें 'खनित्रिम' कहा गया है। ये जलाशय (खनित्रिम) कृषि की सिंचाई में व्यवहृत होते थे। ऐसे कृत्रिम जलाशय (सरोवर) का ऋग्वेद के एक स्थल[2] पर स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार से हुआ है, जिसमें जल के लिए गहन जल से पूर्ण जलाशय बनाये जाने का वर्णन किया गया है। भूमि को गहरा खोदने के अतिरिक्त आधुनिक काल की भाँति प्रायः नीची भूमि अथवा नदियों के प्रवाह के विरुद्ध ऊँचा बाँध बाँधकर भी कृत्रिम जलाशय या झीलें निर्मित होती थीं।[3]

स्थायी प्राकृतिक जल-स्रोतों, वृष्टि आदि के सुलभ न होने से, खनिज मिट्टी आदि के निम्नतल में जमा होते रहने से कालान्तर में ये कृत्रिम सरोवर समाप्त हो जाते हैं।[4] प्राचीन सप्तसैन्धव में, प्रतीत होता है, ऐसे कृत्रिम सरोवर आवश्यकतानुसार समय-समय पर निर्मित होते रहते थे, जो प्राकृतिक शक्तियों से स्वयं ही विलुप्त हो गये।

(२) **प्राकृतिक सरोवर**—जो किसी प्राकृतिक भू-गर्त्त, अथवा भूगर्भिक हलचलों एवं धरातलों की बाह्य शक्तियों के अपरदन और निक्षेप[5] कार्यों से स्वयं

आपो न वज्रिन्नन्वोक्यं सरः पृणन्ति। ७/१०३/७—सोमे सरो न पूर्णमभितो भवन्तः। ८/७/१०—त्रीणि सरांसि पृश्नयो……। ८/४५/२४—सरो गौरी यथा पिब।

१. ऋग्वेद, ८/७/२६—सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति। ६/६५/२२—ये सोमास……शर्यणावति। ६/११३/१—शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
२. ऋग्वेद, ६/११०/५—अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम्।
३. भौतिक भूगोल के तत्त्व, सी० बी० मामोरिया, पृ० ३८४।
४. भूगोल के भौतिक आधार, १६५४, इलाहाबाद, पृ० ३१६।
५. २—वत्। १६७२, पृ० ३८४।

निर्मित होती हैं, उन्हें प्राकृतिक सरोवर (झीलें) कहा जाता है। इनकी रचना के साथ अस्तित्व हेतु धरातल पर विशाल प्राकृतिक गर्त के अतिरिक्त पर्याप्त जल-स्रोतों तथा जल-तल की समोच्चता का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। सप्तसैन्धव प्रदेश में नदियों के प्रवाहित होने के कारण ही प्राकृतिक सरोवरों (झीलों) का भी होना स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि नदियों से भी प्राकृतिक सरोवरों का निर्माण हो जाता है।[1] समुद्रों की अपेक्षा सरोवरों (झीलों) की गहराई बहुत कम होती है।

ह्रद—ऋग्वेद में ऐसे गम्भीर प्राकृतिक सरोवरों (झीलों) का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिनको स्थायी एवं नैसर्गिक जल-धारायें (कुल्याएँ) जल-द्वारा आपूरित रखती थीं।[2] ऐसे अत्यन्त गहरे सरोवरों को, जिन्हें प्राकृतिक झील कहा जा सकता है, ह्रद[3] की संज्ञा दी गई है। ह्रद के समान इन्द्र की कुक्षि(उदर) के निरंतर सोम से आपूरित होने के उल्लेख से ह्रदों में जल के स्थायित्व का स्पष्ट संकेत किया गया है।[4] इन ह्रदों (झीलों) का मानवीय जीवन की स्नानादि[5] नाना क्रियाओं में सदुपयोग किया जाता था। अतएव इनको नदियों तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों जैसा महत्त्व प्राप्त था।

पुष्करिणी—छोटी झीलों अथवा सरोवरों के समान स्वरूप की पुष्करिणी का भी स्थल से सम्बन्धित जलीय स्थिर रूपों के अन्तर्गत उल्लेख हुआ है, जिसमें वायु के चलने से इसके जल के भी चारों ओर से चलने (तरंगित होने) का तथ्य व्यक्त किया गया है।[6] इसमें नील-कमलों (पुष्करों) के अधिक होने के कारण पवन द्वारा पुष्कर-नालों के प्रकम्पित होने से इसके जल-तल का भी सर्वतः तरंगित होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। ऐसी पुष्करिणी, प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग के अन्तर्गत प्रायः पाई जाती होगी।

सर अथवा सरसी—अनेक स्थलों पर 'सर' अथवा सरसी का सम्मुल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार इनको छोटे तालाब (सरसी अथवा बावली) से लेकर बड़े सरोवर (प्राकृतिक झील) के रूप में वर्णित किया गया है। सामान्यतः बावली या तालाब गर्मी में सूख जाते हैं, वर्षा जल आने पर सुप्त मेढक (बछड़े वाली गाय) के समान इन

---

1. भूगोल के भौतिक आधार, १९५४, पृ० ३२०।
2. ऋग्वेद, १०/४३/७—आपो न·······कुल्या इव ह्रदम्।
3. ऋग्वेद, ३/४५/३—यथा ह्रदं कुल्या इवाशत।
4. ऋग्वेद, ३/३६/८— ह्रदा इव कुक्षयः सोमधानाः।
5. ऋग्वेद, १०/७१/७—ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे।
6. ऋग्वेद, ५/७८/७—यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः।

सरोवरों में शब्द करने लगते हैं ।[१] बड़े सरोवर (झील जैसे आकार के) आस-पास की ऊंची भू-भाग के बह कर आये जल से आपूरित[२] होते थे। चारों ओर जलपूर्ण ऐसे सरोवरों का सोम के सन्दर्भ में भी उल्लेख[३] हुआ है, जिससे प्रतीत होता है, पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक जल स्रोतों (कुल्याओं) से परिपूर्ण इन सरोवरों के आस-पास सोम भी पर्याप्त रूप से प्राप्य था। वन्य क्षेत्रों में भी ऐसे प्राकृतिक सरोवर पाये जाते थे, जिनमें गौर[४] मृगादि पशु तथा पक्षी पानी पिया करते थे। उत्स (इत्स), कवन्ध तथा उद्रि (अद्रि) नामक तीन विशाल[५] सरोवरों का भी उल्लेख हुआ है। इनके नाम के आधार पर प्रतीत होता है कि ये तीनों सरोवर उत्स (इत्स), कबन्ध तथा उद्रि (अद्रि) नामक दस्यु सरदारों के अधिकार क्षेत्र में थे, अथवा उनके द्वारा विनिर्मित होने से उनके नाम से ही अभिहित होने लगे। अतएव इन तीनों सरोवरों की अवस्थिति सप्तसिंधु प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय भाग (हिमवन्त शृंखलाओं) के अन्तर्गत निर्धारित की जा सकती है।

शर्यणावत् सप्तसैन्धव प्रदेश के विशालतम प्राकृतिक सरोवरों (झीलों) में शर्यणावत् सर्वप्रमुख था, जो प्राचीन उत्तरी समुद्र का अवशेष रूप प्रतीत होता है। इसका ऋग्वेद[६] के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक साहित्य[७] के अनेक स्थलों में पर्वत व स्थान के अतिरिक्त सरोवर रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। सायणाचार्य इसे सरोवर या सागर की अपेक्षा स्थान संभावित करते हैं, जिसका समर्थन पिशेल[८], मैक्समूलर[९] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, किन्तु डॉ० ए० सी० दास[१०], पं० गिरीशचन्द्र अवस्थी[११] (ऋग्वेद ९,११३/१ में उल्लिखित) शर्यणावत् को कुरुक्षेत्र (प्लक्षा) झील

---

१. ऋग्वद, ७/१०३,२—दिव्या आपो······न शुष्कं सरसी शयानम् ।
२. ऋग्वेद, ८/४९/३—आपो न वज्रिन् नन्वोक्यं सरः पूर्णन्ति ।
३. ऋग्वेद ७,१०३/७—सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।
४. ऋग्वेद, ८,४५/२४—सरो गौरो यथा पिब । -
५. ऋग्वेद, ८/७,१०—त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे ए उत्सकबन्ध, मुद्रिण······ ।
६. ऋग्वेद, १/८४/१४, ८/६/२९, ७/२९, ६४,११, ९/६५/२२, ११३/१, १०/३५/२ ।
७. जैमिनीय, ब्राह्मण -३/६४ शौनकीय बृहद्देवता --३/२३ ।
८. वेदिश्चे स्टुडियन—२/२१७ ।
९. सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट—३२/३९८, ९९ ।
१०. ऋग्वैदिक इंडिया, वाल्यूम १, पेज ५८ ।
११. वेद धरातल २०१०, वि० लखनऊ, पृ० ६५० ।

से समीकृत करते हैं। रॉथ[1] का अभिमत है कि दो स्थलों (ऋग्वेद 1/84/14 तथा 10/35/2) पर इसका अभिप्राय एक झील ही है। शर्यण का अर्थ "शर्यण (सरपत) के समूह से आच्छादित जल" ग्रहण कर हिलेब्राण्ड[2] इसकी सम्भावना कश्मीर के वुलर समुद्र के पुरातन नाम से करते हैं, जो ऋग्वेदकालीन मौलिक स्वरूप का स्मारक है। लुडविग[3] इसे (कुरुक्षेत्र के समीप) पूर्वी सरस्वती निर्दिष्ट करते है, जबकि ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[4] तथा डॉ० पी० एल० भार्गव[5] कुरुक्षेत्र में अथवा उसके समीपवर्तिनी झील की संभावना का निषेध करते हुये इसे सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर मे शर्यणावत् पर्वत को घेरने वाले (सुषोम एव आर्जीक) पर्वतीय क्षेत्र से सम्बन्धित समुद्र से ऋग्वेद[6] के आधार पर समीकृत करते है।

समीक्षा—शर्यणावत् विषयक उपर्युक्त मतों के तथ्य के सम्बन्ध में विचार करने पर ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भ (ऋग्वेद 9/113/1, 8/6/39 तथा 1/84/14) निश्चित् रूप में इसे उत्तरी सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्जीक और सुषोम (पर्वतीय) क्षेत्र से संबधित[7] प्राकृतिक महासरोवर के रूप में व्यक्त करते है, जिसके आस-पास और उसी क्षेत्र[8] मे सोम का भी पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न होने तथा वहीं इन्द्र द्वारा सोम पान करने का वर्णन किया गया है।[9] सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर में मूजवत सदृश हिमालय के सोमोत्पादक क्षेत्रों में शर्यणावत् के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती आर्जीक (आर्जीकीया नदी का उद्‌गम क्षेत्र) तथा सुषोम (सोहान नदी का उद्‌गम क्षेत्र) पर्वतीय भाग भी प्रमुख रहे होंगे।[10] अतएव शर्यणावत् पर्वत तथा सरोवर आर्जीक और

1. सेण्ट पीटर्स डिक्शनरी, व० स्था०।
2. वेदिश्चे माइथालोजी, 1/126 से प्रारम्भ।
3. ट्रान्सलेशन आफ ऋग्वेद 3/201। 4. द ज्या० आफ ऋक्० इं०, पे० 21।
5. India in the Vedic Age, 1971, Lucknow, P. 77.
6. ऋग्वेद, 1/84/14, 9/113/1, 8/6/39।
7. ऋग्वेद, 8/7/29—सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति।
8. ऋग्वेद, 9/65/22—ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे।
9. ऋग्वेद, 9/113/1—शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
10. आर्जीकीया (हारो) तथा सुषोमा (सोहान) नदियाँ क्रमशः ऋजीक और सुषोम से निकल कर सिन्धु नदी की उच्चघाटी मे प्रवाहित होती हुई सिन्धु की ही प्रकारान्तर से सहायक नदियाँ है। अतः इसी क्षेत्र (कश्मीर-घाटी) के समीप शर्यणावत पर्वत तथा सरोवर भी अवस्थित होना चाहिये।

सुषोम पर्वत के समीप अर्थात् सिन्धु की ऊपरी घाटी (कश्मीर-क्षेत्र) में अवस्थित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से रॉथ और ह्विलेब्राण्ट के अतिरिक्त डॉ० भार्गव प्रभृति मान्य विद्वानों की अवधारणा तथ्ययुक्त कही जा सकती है तथा पिशेल मैक्समूलर, लुडविग, डॉ० ए० सी० दास, श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी आदि विद्वानों की शर्यणावत् विषयक मान्यता को स्वीकारना सर्वथा असमीचीन है। उत्तर के आर्जीक, सुषोम जैसे पर्वतों की अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए इसे कुरुक्षेत्र की (प्लक्षा आदि) किसी अन्य झील की अपेक्षा कश्मीर की सतीसार अथवा वुलर आदि विशाल झील से समीकृत करना उचित प्रतीत होता है।

शर्यणावत् पर्वतीय घाटी में शर्यणावत् सरोवर (झील) की समुत्पत्ति, भूगर्भीय हलचलों (भूकम्प आदि प्राकृतिक घटनाओं) की भूस्खलन आदि क्रियाओं के फलस्वरूप प्रतीत होती है, क्योंकि उस समय इस क्षेत्र की पृथ्वी[1] भूकम्पों से अशान्त थी। पर्वतों सहित जिसे इन्द्र ने शान्त किया था। इस आन्तरिक हलचल (भूकम्प) से हिमालय श्रृंखलाओं से सम्बद्ध शर्यणावत् पर्वत तथा उससे संलग्न उत्तरी समुद्री (तटीय) भाग में भी भौतिक परिवर्तन (भू-स्खलन) जैसी क्रियाओं के परिणामस्वरूप प्राकृतिक झील, जिसे पूर्व प्रचलित अभिधान शर्यणावत् ही प्राप्त हुआ, की संरचना नैसर्गिक रूप से ही हो गई। प्रकार इस की समुद्रतटीय अथवा पर्वतीय भू-भाग में प्राकृतिक झीलों की संरचना का समर्थन अनेक भूगोलवेत्ताओं[2] ने भी किया है।

प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्य प्राकृतिक सरोवरों की भाँति इसमें भी पर्वतीय जलधारायें (कुल्याएँ) गिरती थीं, साथ ही सरपत या वेतस जैसी जलीय वनस्पति 'शर्पण' से भी समाच्छादित रहता था। कहा गया है, अथर्वण दध्यंग ऋषि (के घोड़े) का सिर इन्द्र द्वारा कट कर यहीं पर गिरा था।[3] अतः ऐतिहासिक रूप से अन्य सरोवरों की अपेक्षा इसका महत्त्व सर्वाधिक समझना चाहिये।

सागर (समुद्र)

सागर भूपटल की तीन-चौथाई विशाल जलराशि का प्रतिनिधित्व करने वाले जलीय रूप हैं, जिनका प्रादुर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ से ही हुआ

१. ऋग्वेद, २/१२/२—यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्, यः पर्वतान् प्रकुपितानरम्णात्...।
२. डॉ० आर० एन० दुबे—भूगोल के भौतिक सिद्धान्त, १९५४, इलाहाबाद, पृ० ३१९। डॉ० सी० बी० मामोरिया, भौतिक भूगोल के सिद्धान्त, १९७२, मेरठ, ३८५।
३. ऋग्वेद १०/४८/२, १/८४/१४, शौनकीय बृहद्देवता, ३/२३।

है।[1] सागरों की संरचना के सम्बन्ध में भौगोलिकों का विचार है[2] कि आरम्भ में दृश्यमान जल गैस (वाष्प) रूप में वातावरण में व्याप्त था। शीतल होने पर इस वाष्पीय जल से मेघ बने और जलवृष्टि होने से तरलता तथा आकर्षणशक्ति के प्रभाव से यह जल पृथ्वी के निचले भागों मे भर गया, जिन्हें हम आज सागर के रूप में देखते हैं। इस तथ्य को ही ऋग्वैदिक ऋषियों ने दूसरे शब्दों मे व्यक्त किया है कि सूर्य के समान वरुण ने समुद्र की रचना की।[3] सागर अथवा समुद्र[4] ऋग्वेद में अर्णव[5], उदधि[6], सिन्धु[7] आदि अनेक अभिधानों से उल्लिखित हुआ है, जिससे इसके भौतिक स्वरूप तथा अन्य विशेषताओं का भी परिचय प्राप्त होता है।

सागर अपार जलराशि धारण करता है, जिसे वह नदियों के द्वारा प्राप्त करता है। अनेक स्थलों मे[8] समुद्र में नदियों का मिलना एवं उसे जल से आपूरित करने की सुन्दर वर्णना हुई है। इसके साथ यह तथ्य भी व्यक्त हुआ है कि मात्र जल सींचने वाली नदियाँ ही समुद्र[9] को नही भर सकती हैं, वरन् इसे भरने में उसके जल-तल पर वृष्टि का होना भी अत्यन्त आवश्यक है।[10] समस्त जलीय रूपों में सागर ही सबसे बडा एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है। (ऋग्वेद ७/४६/१) समुद्र ज्येष्ठा सलिलस्य मध्यात्...।

समुद्र की गहराई भी अथाह है, जिसके कारण वह दुस्तर कहा गया है। अनेक

---

१. ऋग्वेद, १०/१६०/१।
२ भूगोल के भौतिक सिद्धान्त, पृ० २६३।
३. ऋग्वेद, ७/८७/६—अव सिन्धु वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो...।
४ ऋग्वेद, समुद्र – १/१६०/७, २/१६/३, ४/५८/६, ३/३३/६, ५/७८/८, ६/६२/६, ७/४६/१, ८/६/३५, १२/५, १०२/५, ६/३३/६, १०/६८/६, १०/५८/५।
५. ऋग्वेद, ३/२२/२—भानुरर्णवो नृचक्षा, ३/५३/६—अस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवम्।
६. ऋग्वेद, ३/४५/३—गम्भीरां उदधींरिव क्रतुंपुष्यसि गा इव।
७. ऋग्वेद, ५/११/५—त्वां गिरः सिन्धुमवावनीमदीरा पृणंति, ७/८७/६—अवसिन्धुं वरुणो...।
८. ऋग्वेद, १/१७४/६, १०६/७, २/१३/२, १६/२, ३, ३/३६/६, ७, ४५/३, ५/११/५, ६/१७/१२, ६/१६/५, २०/१२, ८/६२/२२, १०/६७/१२, १११/१०।
६. ऋग्वेद, ३/४५/३।
१०. ऋग्वेद, ५/८५/६—एकं यद्रुद्ना न पृणन्त्येनीरा सिंचन्तीरवनयः समुद्रम्।

ऋचाओं[1] में उसकी गहराई अभिव्यक्त हुई है। सागर तट (स्थल) से दूर होने पर जल की गहराई धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। वस्तुतः सागर की पेंदी प्रारंभ मे जल का ही एक भाग था, जिस पर निम्नता होने के कारण सागर-जल समारूढ़ होने से यह भी उसका एक अविच्छिन्न अंग है। इस समुद्री पेंदी को भौगोलिक महाद्वीपीय स्तर (Continental-Self) के नाम से सम्बोधित[2] करते हैं। जहाँ पर इस महाद्वीपीय स्तर (कन्टीनेन्टल शेल्फ) की समाप्ति होती है, वहाँ सागर जल की गहराई अकस्मात् बढ़ जाती है तथा यही सागर के बाद से अन्य गहरे समुद्र (महासागर) का प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् भीतर मुख्य समुद्र के साथ ही तटीय भाग की ओर उप-समुद्र भी विद्यमान रहता है। इस तथ्य (समुद्र के चारों ओर उपसमुद्र होने) का भी उद्घाटन एक ऋचा[3] के द्वारा हुआ है। सागर तल में कही-कही अगाध, गहरे गर्त्त (डीप) पाये जाते हैं, जिन्हे 'सागर-गर्त' (ओशन डीप्स) भी कहा जाता है, इनका क्षेत्र-विस्तार सैकड़ो वर्ग मील तथा गहराई भी सहस्रों फैदम से कम नही होती है, जिनका विवरण भौगोलिक एवं समुद्र-शास्त्रियों[4] द्वारा विस्तारपूर्वक दिया गया है। ऐसे अगाध समुद्र (कूप) से अश्विनो ने भुज्यु[5] को निकाल कर जीवन रक्षा की थी।

समुद्र की गतियाँ—सामान्यतः सागर-जल कभी शान्त नही रहता। पवनादि प्राकृतिक उपकरणों से समुद्र-तल मे बहुत शीघ्र ही उद्वेलन हो उठता है। अतएव उसकी प्रायः तीन गतियाँ दृष्टिगोचर होती है—

(१) लहरें या तरगे (Waves)
(२) धाराये (Currents) तथा
(३) ज्वार-भाटा (Tides)

ऋग्वेद मे ज्वार के अतिरिक्त सागर जल की तरंगों[6] (लहरों) तथा

---

१. ऋग्वेद, ३/२२/२, ३२/१६—न त्वा गम्भीर पुरुहूत सिन्धुः, ३/४५/३—गम्भीरां उदधीरिव···।
२. भूगोल के भौतिक आधार— डॉ० आर० एन० दुबे, पृष्ठ २८५।
३. ऋग्वेद, ३/३२/१६—न त्वा गंभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परिषन्तो वरन्तः।
४. आर० सी० शर्मा ऐण्ड एम० वाटल—(Oceanography for Geographors) ओशियनोग्रैफी फार ज्योग्राफर्स, पे० ४४।
५. ऋग्वेद, ६/६२/६—ता भुज्यु विभिरद्भ्य. समुद्रात्। १/११६/२।
६. ऋग्वेद, ६/१७/१२···परिष्ठितमसृजं ऊर्मिमपाम्। प्रार्दयो नीचीरपसः समुद्रम्।

धाराओं[1] का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया गया है। प्रायः समुद्र की सतह पर जल का पवन के सम्पर्क से प्रकम्पित होकर आगे बढने तथा पीछे हटने की क्रिया को ही लहर अथवा तरंग (वेव) कहा जाता है, जो जल के आन्तरिक भाग (गहराई) की अपेक्षा ऊपरी जल-तल पर ही अधिक सीमित रहती है। प्राय. ६०० फीट की गहराई[2] पर समुद्र का जल लहरो से सर्वथा अप्रभावित होकर पूर्ण शान्त रहता है। लहरें वायु की गति तथा उसके दाब (प्रेसर) से भी अधिक प्रभावित होती हैं जिस प्रकार तीव्र वायु के चलने से लहरे तीव्रता से तथा अधिक शब्द (गर्जना) करती हुई पायी जाती है, उसी प्रकार कम वायु दाब वाले समुद्री क्षेत्रो मे जल की सतह ऊँची तथा अधिक दाब वाले समुद्री क्षेत्रो मे जल की सतह नीची होती है।[3] इससे जल ऊँची सतह से नीची सतह की ओर तरंगों अथवा धाराओ के रूप मे प्रवाहित होता है।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय समुद्र-जल-तल को भी वायु[4] अपने वेग से संक्षुब्ध करती थी, जिससे लहरे[5] सागर तल पर उठने लगती थी तथा इनसे गर्जन-ध्वनि[6] भी उत्पन्न होती थी। ये लहरें (सांयात्रिक आदि को) अत्यन्त भयंकर[7] होती थी, क्योंकि इनमे पडी समुद्री-नौकाओ की गति लहरो के द्वारा[8] अवरुद्ध हो ही जाती थी, इसके साथ ही कभी-कभी उनमे पड कर[9] वायु से प्रकपित होती हुई नौकाएँ विनष्ट भी हो जाती

४/५८/६—एते अर्जन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव, ८/१४/१०, ६/४१/१ अस्थुरपां नोर्मयो···। ८/७५/६, ८/१०४/११, ९/५०/१ सिन्धो रूर्मिरिवस्वतः, ९/८०/५ सिन्धुरिवोर्मि ··।

१. ऋग्वेद, ५/७८/८ यथा वातो यथा वन यथा समुद्र एजति। ६, ३०/४,५—त्वमपो वि दूरो, ४,१६/७—अपो वृत्र····प्राणासि समुद्रियाण्ये।

२ भौतिक भूगोल के तत्व, डॉ० सी० बी० मामोरिया, १९७२, पृ० ५७७।

३. जे० प्राउड मैन, डाइनामिकल ओसियोग्रफी (Dynamical Oceanography), पेज ३८।

४. ऋग्वेद, ४/१९/४ - अक्षोदयच्छवसा क्षाम बुध्नं वार्णवातस्तवसीभिरन्द्रः।

५. ऋग्वेद, ९/८०/५ – सिन्धोरिवोर्मिः····।

६ ऋग्वेद, ९/५०/१—सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः।

७. ऋग्वेद, ८/१०४/११ दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो ···।

८ ऋग्वेद, ८/७५/९—ऊर्मिर्न नावमां वधीत्।

९. ऋग्वेद, ५/५९/२—नौर्न पूर्णा क्षरति व्यथिर्यती, ५/५४/४।

थीं। अतएव ऐसी विनाशकारिणी तरंगों के अधिक ऊँचे[1] न उठने की ऋषि ने एक स्थल पर बड़ी मार्मिक प्रार्थना की है।

समुद्री-लहरों के अतिरिक्त समुद्री धाराएँ भी सागरजल की महत्त्वपूर्ण गति हैं। लहरें वायु के झोंकों से अनिश्चित दिशा और स्वरूप में उठा करती हैं, किन्तु धारायें, एफ० जे० मॉन्कहाउस[2] के मतानुसार, समुद्री सतहों की विशाल जलराशि की एक निश्चित दिशा में होने वाली सामान्य गति है। धाराओं के रूप में समुद्र जल चलता[3] है। इस प्रवाहमय समुद्रीजल के साथ तटीय भाग के निकट काष्ठ-खण्ड[4] भी बहता आ जाता है। अतएव लहरों[5] की भाँति समुद्री धाराओं की भी गति में तीव्रता स्वाभाविक ही है, क्योंकि जल को सब ओर बहने के लिए ही प्रकृति द्वारा छोड़ा गया है।[6]

सप्तसैन्धव प्रदेश के समुद्र—सामान्यतः सप्तसैन्धव प्रदेश पृथ्वी की प्रकृति के समान द्वीप न होते हुए भी अपनी सभी सीमाओं को समुद्र से संयोजित किये था। अतएव उसके चार[7] समुद्रों का सामान्य रूप से उल्लेख किया गया है, किन्तु इसमें से दो समुद्र ही विशेष विश्रुत एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं, जिनमें एक पश्चिमी तथा दूसरा पूर्वी सीमा से संबंधित वर्णित हुआ है।[8] उषा[9] और सूर्य[10] का प्रातः (पूर्वी) समुद्र से प्रकट होने तथा सायंकाल पश्चिमी समुद्र में अस्त होने का भी उल्लेख हुआ है। परवर्ती वैदिक-साहित्य के ग्रन्थों[11] में समुद्र सागर का ही आशय लिए हुए वर्णित

१. ऋग्वेद, ३/३३/१३—उद्व ऊर्मिः शम्या...।
२ प्रिन्सिपिल्स आफ फिजिकल ज्योग्राफी, एफ० जे० मोन्कहाउस, पेज ३०२।
३. ऋग्वेद, ५/७८/८—यथा समुद्र एजति।
४. ऋग्वेद, १०/१५३/३—अदो यद् दारु प्लवते सिन्धोः पारेआपूरुषम्।
५. ऋग्वेद, ८/१४/१०—अपामूर्मिर्मदन्निव।
६. ऋग्वेद, ६/३०/५—त्वमपो विदूरो विषूचीरिन्द्र।
७. ऋग्वेद, ९/३३/६—रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं। ७/३३/६, १०/४७/२।
८. ऋग्वेद, १०/१३६/५... उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।
९. ऋग्वेद—४/८०/५।
१०. ऋग्वेद, ३/५५/१, ५/४५/१०, ७/५५/७, १०/१३६/५।
११. तैत्तिरीय संहिता—२/४/८, २/७/५, ऐतरेय ब्रा० ५/१६/७, शतपथ ब्रा० १/६/३/११।

हुआ है, जिससे प्रमुख रूप से पश्चिमी एवं पूर्वी समुद्र के अस्तित्व का पता चलता है।[१] सप्तसैन्धव-प्रदेश के पूर्वीय तट से वर्तमान आसाम तक इस पूर्वी समुद्र का विस्तार था,[२] जिसमें गंगा और यमुना जैसी नदियाँ अपने उद्गम से आगे द० पू० को बहती हुई गिरती थीं।

इसी प्रकार सप्तसैन्धव प्रदेश का पश्चिमी समुद्र सिन्धु नदी की नीची घाटी तक अरब सागर की एक शाखा के रूप में विस्तृत था। इन समुद्रों का ऋग्वेद के आधार पर संक्षेप में भौगोलिक विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

पूर्वी समुद्र (अर्वावत्)—ऋग्वेद (१०/१३६/५) में स्पष्ट रूप से उन प्रमुख दो समुद्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें प्रथम पूर्व समुद्र तथा द्वितीय अपर (पश्चिमी) समुद्र कहा जाता था।[३] पूर्वी समुद्र आधुनिक बंगाल की खाड़ी को ही संकेतित नहीं करता, अपितु यह सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी भाग (अर्वावत्) से लेकर वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, आसाम[४] तक के भू-भाग में लगभग ८०°-८५°पूर्वी देशान्तर तक तथा हिमालय की दक्षिणी लम्बी शृंखलाओं को छूता हुआ विन्ध्य पर्वत तक (२८ या ३०° उ० अक्षांश से २४° उ० अक्षांश के मध्य में) विस्तृत था। सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्व में होने से 'पूर्वी-समुद्र' अभिधान सामान्यतः प्रयुक्त होने के अतिरिक्त अर्वावत् (पूर्वी भू-भाग) के समीप अवस्थित होने के कारण इसे 'अर्वावत्' की भी संज्ञा प्रदान की जा सकती है, क्योंकि अर्वावत् का परावत् के साथ तथा पृथक् भी समुद्र के रूप में समुल्लेख हुआ है।[५] इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्री एम० एल० भार्गव[६] ने पूर्वी समुद्र को 'अर्वावत्' के साथ पूर्वोक्त क्षेत्र मे समीकृत किया है। मध्य जबकि डॉ० पी० एल० भार्गव[७] ने इसके इस स्वरूप एव अवस्थिति से भिन्न दृष्टिकोण व्यक्त किया है, जो तथ्यपूर्ण न होने के कारण असमीचीन प्रतीत होता है।

---

१. शतपथ, ब्राह्मण—१०/६/४/४।

२. डॉ० पी० एल० भार्गव अर्वावत् (पूर्वी) समुद्र के इस स्वरूप एवं अवस्थिति से असहमति व्यक्त करते हैं (द्रष्टव्य—India in the vedic Age, P. 74-76), यह धारणा भौगो० भौगर्भिक तत्त्वों के अनुकूल न होने के कारण असमीचीन है।

३. ऋग्वेद, १०/१३६/५—उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।

४. ऋग्वेद, १/१८२/५–६—परावति अर्वावति समुद्रे......।

५. ऋग्वेद, ८/१२/१७—परावति समुद्रे।

६. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पेज ३।

७. India in Vedic Age, 1971, Lucknow. P. 74-76 (डॉ० भार्गव

मध्य एवं पूर्वी हिमालय से विन्ध्य श्रेणियों के मध्य (गंगेटिक प्लेन में) इस समुद्र के विद्यमान होने से भौगोलिकों[१] एवं भूगर्भशास्त्रियों[२] के मतानुसार सप्तसैन्धव प्रदेश का दक्षिणापथ का मार्ग अवरुद्ध मानना सर्वथा समीचीन है। एच० जी० वेल्स[३] जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् दो मानचित्रों में इस पूर्वी समुद्र की अवस्थिति को पुष्ट करते हुए इसे २५,००० से ५०,००० वर्षों के बीच (पूर्व) विद्यमान स्वीकार करते हैं।

यद्यपि इस समुद्र के पूर्वी सप्तसैन्धव प्रदेश से मिले होने के कारण गंगा-यमुना नदियों का प्रवाह मार्ग (उद्गम से निचली घाटी तक का अंतर) अत्यन्त संकुचित था, तथापि इनके द्वारा बहाई हुई मिट्टी-बालू के निरंतर जमा करते रहने से इस अथाह समुद्र की गहराई कम होती जा रही थी। डॉ० अविनाश चन्द्र दास[४] ने कहीं-कहीं हिमालय के पाद प्रदेश में इसकी गहराई को तीन मील तक अनुमानित किया है। प्रतीत होता है, इसी समुद्र की अतल गहराई में निमज्जित भुज्यु[५] को अश्विनों ने समुद्र पार किया था क्योंकि उषःकाल के पूर्व उदय होने वाले अश्विनों को भी 'समुद्रमातरः'[६] कहकर उनका पूर्वी समुद्र से आविर्भूत होना प्रकट किया गया है[७]। इसी प्रकार उषा[८] के अतिरिक्त पूर्वी समुद्र से छिपे सूर्य[९] के भी उदित होने का वर्णन प्राप्त होता है।

इस पूर्वी समुद्र (अर्बावत्) को राजस्थान समुद्र का पश्चिमी भाग प्रतिपादित करते हैं, जो सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्व में ही नहीं आता। अतएव उनका यह समीकरण समीचीन नहीं है। 'द्रष्टव्य-मानचित्र, पृ० २२०)

१. डॉ० जे० पी० सिंहल, फॉरगौटन ऐन्शियंट नेशन्स ऐण्ड दियर ज्योग्राफी (ऋग्वैदिक ज्यालाजी ऐण्ड द लैण्ड आफ द सप्तसिन्धु, १९६८, न्यू देलही, पेज ८।

२. एच० एफ० ब्लैनफोर्ड, क्वार्टरली जर्नल ऑफ ज्योलोजिकल सोसाइटी, वा० ३१, १८७५, पेज ५३४-५४० —ऑन द एज ऐण्ड कोरलेशन्श ऑफ प्लान्ट बियरिंग सेरीज ऑफ इंडिया ऐण्ड फॉर्मर इक्जिस्टेन्स इण्डो ओशियानिक कन्टीनेन्ट।

३. आऊटलाइन्स ऑफ हिस्ट्री, पेज ३८ ऐण्ड ४५।

४. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पेज ६३।

५. ऋग्वेद, ६/६२/६—ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्······। ऋग्वेद, १/११७/१४—युवं भुज्युमर्णसो निः समुद्रात्।

६. ऋग्वेद, १/४६/२। ७. ऋग्वेद, १/४६/८, ४/८०/५।

८. ऋग्वेद, ४/८०/५।

९. ऋग्वेद, ३/५५/१, ५/५६/१०, ७/५५/७, १०/१३६/५, १०/७२/७।

पूर्वी समुद्र (अर्वावत्) पूर्वी पवन के प्रचलित होने से तरंगित होकर ध्वनियुक्त[1] हो उठता था, साथ ही मानसून (वाष्प भरी हवाओं) की समुत्पत्ति कर सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्य-पूर्व भाग में पर्याप्त वृष्टि[2] करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता था। वाणिज्यिक दृष्टि से आर्यों के अतिरिक्त पणि जैसे कुशल व्यापारी भी इस समुद्र का नौ परिवहन द्वारा उपयोग करते थे।[3]

कालान्तर में प्रबल भौतिक परिवर्तन (गंगा-यमुना आदि नदियों की निरन्तर लाई मिट्टी (Alluvial) रेत से भरने तथा आन्तरिक सतह का Seismic (प्रभाव से उठने) के कारण अर्वावत् (पूर्वी) समुद्र विलीन हो गया तथा उसके स्थान पर अब गंगा का विशाल समतल मैदान (Gangetic-plain) दृष्टिगत होता है।

पश्चिमी (अपर) समुद्र—पूर्वी समुद्र (अर्वावत्) के साथ अपर (पश्चिमी) समुद्र का भी ऋग्वेद (१०/१३६/५) में उल्लेख हुआ है, जिसे श्री एम० एल० भार्गव[4] परावत समुद्र से अभिन्न स्वीकार करते हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश के (द०) पश्चिमी क्षेत्र (परावत) के पार्श्व मे लहराने के कारण इसे पश्चिमी अथवा परावत्[5] (अपर) समुद्र के रूप में भी अनेक स्थलों में अभिहित किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों में इसके प्रत्यभिज्ञान के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद व्यक्त हुआ है। रॉथ[6] अनेक स्थलों में परावत का अर्थ दूर से आता हुआ करते है, जबकि हॉपकिन्स[7], हिलेब्राण्ट[8], गेल्डनर[9] तथा मैक्समूलर[10] इसे पहाड़ी के अतिरिक्त जाति के रूप में ग्रहण करते हैं। यह समीकरण उक्त सन्दर्भ से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण तथ्ययुक्त नही कहा जा सकता है, किन्तु श्री गिरीश चन्द्र अवस्थी जैसे कतिपय भारतीय विद्वान् इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा को

---

१. ऋग्वेद, १/४४/१२ सिन्धोरिव प्रस्वनिता।

२. ऋग्वेद, १०/९८/६ समुद्रमयो। ३. ऋग्वेद, १/४८/३, ५६/२, ११६/३,।

४. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पेज ५।

५. ऋग्वेद, १/१८२/५-६, पारावति अर्वावति समुद्रे। ८/१२/१७—परावति समुद्रे, ८/१३/१५ – यच्छक्रासि परावति……।

६. सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश, (व० स्था०)।

७. जनरल ऑफ दि अमेरिकन सोसाइटी, १७/९१, तुलनीय—ट्रांजेक्शन्स ऑफ दि कनेक्टेड एकेडेमी ऑफ आर्ट्स् सायंस, १५/५३।

८. वेदिश्चे माइथोलाजी—१/९७ से प्रारंभ।

९. ऋग्वेद ग्लासार—१.९।

१०. सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, ३२/३१६।

ग्रहण करते हुए परावत को दूर स्थित देश[1] स्वीकार करते हैं, किन्तु यह सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण-पश्चिमी भाग की ओर का समुद्र था, जिसका संकीर्ण विस्तार उत्तर में वर्तमान सिन्धु प्रदेश (सिन्धु की निचली घाटी में) नमक की पहाड़ियों एवं सुलेमान श्रृंखलाओं—जहाँ गोमती-गोमल, सिन्धु इससे मिलती थीं) तक था तथा दक्षिण में यह अरब सागर से मिला हुआ होने से उसी का ही (खाड़ी के रूप में) एक अंग कहा जा सकता है। डॉ० ए० सी० दास[2] की भी पश्चिमी समुद्र (परावत) के विस्तार के सम्बन्ध में यही धारणा है कि यह अरब सागर का ही एक (उत्तरी) भाग था।

डॉ० पी० एल० भार्गव[3] इसे अरब सागर से सम्बद्ध सिन्ध का दक्षिणी-पश्चिमी भाग (सिन्धु मुहाने का पश्चिमी भाग) से भिन्न नहीं मानते हैं।

डॉ० जे० पी० सिंघल के मतानुसार कालान्तर में (ऋग्वेद की १०/१३६/५ की रचना के पश्चात्) यह पश्चिमी समुद्र (परावत) सिन्धु और गोमती (गोमल) के संगमस्थल से और नीचे दक्षिण को खिसक गया था।[4]

प्रतीत होता है, सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा बहा कर लाई गई मिट्टी एवं रेत से पश्चिमी समुद्र (परावत) पट गया और उसके स्थान पर सुलेमान पर्वत श्रेणियों तक सिन्ध प्रान्त का एक भाग विद्यमान है।

दक्षिणी समुद्र (सारस्वत समुद्र)—सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण में पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के मध्य में विस्तृत समुद्र, जिसमे अपनी सहायक नदियों के साथ सरस्वती नदी गिरती थी, दक्षिणी (सारस्वत) समुद्र के रूप में ऋग्वेद[5] के अनेक स्थलों के अन्तर्गत उल्लिखित हुआ है। सप्तसैन्धव प्रदेश के इस पुरातन समुद्र की अवस्थित को समर्थिति करते हुए ले० कर्नल एल० एल० भार्गव[6] वर्तमान उज्जा (२७° उ० अक्षांश के आस-पास तथा ७४° पू० दे० ७६° पू० देशान्तर की

---

१. वेद धरातल—२०१० वि०, लखनऊ, पृ० ४३५।
२. ऋग्वैदिक इंडिया—वाल्यूम १, पेज ६३।
३. इण्डिया इन द वैदिक एज, १९७१, लखनऊ, पृ० ७४।
४. फॉरगौटन ऐन्शियंट नेशन्स ऐण्ड देयर ज्योग्राफी (ऋग्वैदिक ज्यालाजी ऐण्ड द लैण्ड ऑफ सप्तसिन्धु), १९६८ नयी दिल्ली, पेज ८।
५. ऋग्वेद, १/१६४/५२, ७/९५/३, ९६/४-६, १०/६६/५।
६. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, लखनऊ, पेज ५।

मध्यवर्तिनी) के अतिरिक्त सांभर, सारगीत रिवासा, कुचावन एवं डिडवाना झील को सारस्वत (दक्षिणी) समुद्र के भी अवशेष स्वीकार करते हैं। इस तथ्य की पुष्टि अन्य प्रामाणिक आधारों द्वारा भी प्राप्त होती है।[1] डॉ० पी० एल० भार्गव[2] राजस्थान के अधिकांश भाग (जोधपुर, बीकानेर तथा अजमेर डिवीजन) को दक्षिणी समुद्र तथा इसके उत्तरी भाग को सारस्वत समुद्र मानते हैं।

इस पुरातन दक्षिणी (सारस्वत) समुद्र की अवशिष्ट सांभर आदि झीलों एवं आस-पास के भू-भाग की रेत में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान लवणता के आधार पर भी ऋग्वैदिक काल मे यहाँ इस समुद्र का होना सिद्ध होता है, क्योंकि स्थल से घिरे सागर जल की औसत लवणता सामान्यतया[3] ३५ प्रतिशत से कम नहीं होती है। आज भी इस स्थल से संबंधित सांभर आदि झीलों से नमक निकाला जाता है, अतएव इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे पश्चिम मे वर्तमान कच्छ की खाड़ी से अरब सागर की एक शाखा पूर्व मे अर्वली पर्वत-श्रेणियो तक सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण मे सारस्वत समुद्र के रूप मे लहराती थी। डॉ० ए० सी० दास[4] भी इसे इसे सप्तसैन्धव प्रदेश के ठीक दक्षिण में राजपूताना समुद्र के रूप में ग्रहण करते हुए कच्छ की खाड़ी से लेकर पूर्वी समुद्र तक विस्तृत मानते हैं।

इस समुद्र के स्वरूप-परिवर्तन के सम्बन्ध में सम्प्रति भौगोलिकों एवं भू-तत्व वेत्ताओं द्वारा अन्वेषित यह तथ्य भी विचारणीय है कि ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी भाग मे पूर्व-पश्चिम अनुर्वर मरुस्थलीय[5] पट्टी भी फैली थी जो इसी राजपूताना (सारस्वत) अथवा दक्षिणी समुद्र की उत्तरी सीमा निर्धारित करती थी तथा दक्षिणी पश्चिमी तेज हवाओ से अपने साथ रेत (बालू) उड़ाउड़ा कर सप्त-

---

१. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, वा० १, पेज ३८।

२. India in the Vedic Age, 1971, P. 75. 76. "This sea, thus covered parts of Jodhpur, Bikaner and Ajmer division of present Rajasthan state......probably the Northern portion of Rajasthan sea was known as the Saraswat Samudra."

३. ए० विलमोर, ए ग्राउण्ड वर्क ऑफ मौडर्न ज्याग्राफी, पेज १८८। सी० बी० मैमोरिया, भौतिक भूगोल के तत्त्व, १९७२, पृ० ५७१।

४. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० १, पेज, ६३।

५. ऋग्वेद, १०/६३/१५, १/३५/१८ (तीन मरुस्थल)।

सैन्धव प्रदेश के शेष दक्षिणी भू-भाग को भी और अनुर्वर बना रही थी, साथ ही सरस्वती जैसी विशाल नदी के मुहाने को बालू से अवरुद्ध भी कर रही थी, किन्तु सरस्वती की तेज धारा इस मुहाने की रेत को बहा कर पुनः समुद्र में पहुँचा देती।

पं० वि० ना० रेउ के मतानुसार समुद्रतटीय संकेत-राशि तथा सरस्वती की धारा में इस निरन्तर संघर्ष के फलस्वरूप कालान्तर में यह दक्षिणी (सारस्वत या राजपूताना) समुद्र सूख गया[1], क्योंकि सरस्वती का जल उद्गम-प्रदेश के भौतिक परिवर्तन के कारण कम हो गया तथा मुहाना भी हवा से लाई गयी बालुका-राशि से दब गया। परिणामतः वह समुद्री भाग आज राजपूताना क्षेत्र में जल-शून्य मरुस्थल दृष्टिगत हो रहा है। सारस्वत (राजपूताना) समुद्र में ये भौतिक परिवर्तन ऋग्वेद-काल के पश्चात् ब्राह्मण-काल में हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों[2] में सरस्वती को बालुका में विलुप्त और प्रकट होने का संकेत मिलता है। अतएव इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुये भारतीय विद्वानों[3] का यह अनुमान निराधार नहीं कि यह राजस्थान (सारस्वत) समुद्र ईसा से ७५०० या ८००० वर्ष पूर्व राजस्थान के स्थलीय रूप में परिवर्तित हो गया होगा।

उत्तरी समुद्र—सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर में हिमवन्त शृंखलाओं के दूर परे उत्तरी समुद्र विद्यमान था, जिसका अवशेष (सरोवर) रूप में शर्यणावत्[4] नाम से विवेचनात्मक उल्लेख हो चुका है। डॉ० ए० सी० दास[5] तथा पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[6] आदि विद्वानो की इस सम्बन्ध मे भौगर्भिक तथ्यों के आधार पर अवधारणा है कि एशिया का भूमध्यसागर (Medeterranean Sea) ही हिमालय के उत्तर तक में बल्ख (बाह्लीक) और ईरान (पारसीक) के उत्तर में कैस्पियन

---

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि १९६७, दिल्ली पृ० १०३।
२. ताण्ड्य ब्राह्मण, २५/१०/१६ (बालू में लुप्त होने के स्थान का नाम विनशन)। जैमिनीय ब्राह्मण, ४/२६/१२ (बालुका से बाहर आने को स्थान का नाम प्लक्ष), आश्व० श्रौ० सू० १२/६/१ (बालू से प्रकट होने का स्थान प्राक्षवण)।
३. वी० बी० केटकर द्वारा ७,५०० ई० पू० राजस्थान का समुद्र गर्भ से बाहर आना प्रमाणित किया गया है। फर्स्ट ओरियंटल कान्फ्रेन्स, पूना, १९१९।
४. ऋग्वेद, ९/११३/१, ९/६५/२२, ८/६/३९, १/८४/१४।
५. ऋग्वैदिक इंडिया, वॉ० १, पेज ६३।
६. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १०१।

(कश्यप) सागर तथा कृष्ण (काला) सागर के आस-पास प० तुर्किस्तान मे फैला हुआ था, जिसके अवशेष अरल सागर और बाल्कश झील आदि रूपों में आज भी विद्यमान है, इसी प्रकार पूर्वी तुर्किस्तान क्षेत्र की सीमा से संबधित प्राचीन समुद्र का अवशेष लोबनार (Lobnor-Lake) झील है। इन सभी अवशेषों को दृष्टि मे रखते हुए प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर मे विशाल समुद्र की संभावना करना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

इस विशाल उत्तरी समुद्र को ले० कर्नल एम० एल० भार्गव[1] तथा डॉ० पी० एल० भार्गव[2] ने सुषोम और आर्जीक पर्वतीय क्षेत्र के समीप शर्यणावत् पर्वत से इसके तटीय भाग से संबधित होने के कारण 'शर्यणावत्' अभिधान प्रदान किया है तथा इसे सप्त-सैन्धव प्रदेश के उत्तर मे कश्मीर घाटी से सम्बन्धित सतीसार *अथवा* कश्मीर की विशाल झील अथवा सागर के रूप मे स्वीकार किया है। डॉ० भार्गव की यह अवधारणा भौगर्भिक तथ्यो से पुष्ट होने के कारण सर्वथा समीचीन है।

आचार्य श्री राम शर्मा[3] इसे सरोवर मानते है, डॉ० जे० पी० सिंघल[4] ने भी पुरातनकालीन कश्मीर राज्य मे एक विशाल (कश्मीर) झील की ही संभावना की है, जबकि इन्द्र द्वारा वृत्र के वध के साथ ही पर्वतो की चोटियाँ विदीर्ण की जा रही थी।

समीक्षा—जिस समय हिमालय पर्वत के आस-पास के भूभाग मे आन्तरिक (भूकम्प जैसी) हलचले[5] होना प्रारंभ हुआ, हिमालय के पश्चिमी एवं मध्य भाग मे भी परिवर्तन (उत्थान)[6] हो गया था तथा इस तथ्य की भूगर्भ-वेत्ताओं द्वारा की गई पुष्टि भी अन्यत्र प्राप्त होती है।[7] हिमालय पर्वत मे हुए इस परिवर्तन (पर्वतीय

१. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, १९६४, पे० ३।
२. India in the Vedic Age, 1971. P. 77.
३. ऋग्वेद खण्ड ३, पृ० १४२६।
४. फॉरगौटन ऐन्शियंट नेशन्स ऐण्ड देअर ज्योग्राफी (ऋग्वैदिक ज्योलोजी ऐण्ड द लैण्ड ऑफ सप्तसिन्धु), १९६८, न्यू देलही, पेज ७।
५. ऋग्वेद, २/१२/२—यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
६. मेम्वायर्स ऑफ ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वा० xLii, पार्ट २, पेज १३७।
७. वाडियाज ज्योलोजी ऑफ इंडिया, पेज १०९, ११० एण्ड २४८। सर्वे ऑफ इंडिया, पेपर नं० १२, कलकत्ता १९१२।

शृंगों के उत्थान) के परिणामस्वरूप सप्तसैन्धव प्रदेश का उत्तरी समुद्र भी प्रकृत्या परिवर्तित हो गया। उसका तब विशाल स्वरूप था, किन्तु इस परिवर्तन के पश्चात् वर्तमान कश्मीर राज्य के अन्तर्गत 'शर्यणावत्' सरोवर (झील) के अवशेष रूप में उत्तरी समुद्र का स्वरूप संकुचित रह गया। सतीसार, डल आदि कश्मीर क्षेत्र की विशाल झीलें उसी उत्तरी (शर्यणावत्) समुद्र की अवशेष रूप प्रतीत होती हैं तथा इस परिवर्तन के पूर्व यह संभव है कि ऋग्वैदिक सुषोमा तथा आर्जीकीया जैसी नदियाँ सिन्धु में न गिर कर इसी उत्तरी समुद्र (शर्यणावत्) में गिरती हों, क्योंकि स्वयं सिन्धु की ऊपरी घाटी के प्रवाह-मार्ग में परिवर्तन के स्पष्ट संकेत ऋग्वेद[1] में प्राप्त होते हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश पर समुद्रों का प्रभाव - सप्तसैन्धव प्रदेश अपने आस-पास के समुद्रों से समकालीन सामान्य भौगोलिक परिदशाओं की दृष्टि से प्रभूत मात्रा में प्रभावित-परिलक्षित होता है। इसका प्राकृतिक भूगोल, नदियों एवं समुद्रों द्वारा ही निर्धारित और विवेचित किया जा सकता है, यह कहना असंगत नहीं है। इन समुद्रों का सर्वाधिक प्रभाव सप्तसैन्धव-प्रदेश की जलवायु पर दृष्टिगत होता है। पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्री यान से चलने वाली हवाएँ सप्तसिन्धु के स्थलीय तापमान को सम (Moderate) बनाने में सहायक थीं, क्योंकि यह तथ्य आज भी बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली के जुलाई एवं जनवरी के तापमानों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।[2]

स्थलीय ताप को सम बनाने के अतिरिक्त समुद्र अपनी ऊपरी सतह पर सूर्य की किरणों को आत्मसात् करते हुए वाष्पीकरण क्रिया से बादल (Clouds) बना कर मूसलाधार वृष्टि करने में[3] महान् योगदान करते थे, क्योंकि सूर्य की किरणें १०० फैदम (६०० फीट) गहराई तक प्रभावी होती हैं तथा कुल जल-राशि के ५/६ का तापमान कम से कम ३५° से ४०° फा० (१-१°C) से नीचे[4] नहीं रहता है। स्थलीय जलराशि (सरोवर, सरिताओं आदि) से वाष्पीकरण क्रिया नगण्य होती है तथा इससे कुल वार्षिक वर्षा की १५ प्रतिशत से अधिक वृष्टि[5] नहीं हो सकती है, अतएव

---

१. ऋग्वेद, २/१५/६—सोदंच सिन्धुमरिणान्महित्वा·······।
२. केलावे—ए बैक ग्राउण्ड ऑफ फिजिकल ज्योग्राफी, पेज २०४।
३. ऋग्वेद, १०/९८/६—समुद्रमयो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि·········। ऋग्वेद, ४/१६/७—अपो वृत·······प्राणांसि समुद्रियाण्यैनोः। १०/९८/५, १२।
४. एफ० जे० मॉन्क हाउस—प्रिन्सिपिल्स ऑफ फिजिकल ज्योग्राफी, पेज २९९।
५. भूगोल के भौतिक तत्त्व—सी० बी० मामोरिया, पृ० ५५०।

पूर्वी तथा पश्चिमी सागर ही सप्तसैन्धव प्रदेश की वृष्टि के मूल कारण थे। यह तथ्य इन समुद्रों के विलुप्त हो जाने से पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अब यह भू-भाग (विशेष रूप से थार मरुस्थलीय क्षेत्र) शुष्क तथा विषम जलवायु से युक्त दृष्टिगत होता है।

समुद्र अक्षय्य सम्पत्ति के अनुपम आगार थे। मोती[1] आदि रत्नों के अतिरिक्त शंख[2] आदि जलीय सामग्री के एक समुद्र को सम्पत्ति (धनों) का धारणकर्त्ता कहा गया है[3] तथा आर्य इससे समृद्धि पाकर पर्याप्त लाभान्वित होते थे। वाणिज्यिक दृष्टि से भी सप्तसैन्धव प्रदेश के लोग समुद्रों से आजीविका और धन अर्जित करते थे। आर्य व्यापारियों के पास समुद्र में चलने वाली विशाल नौकाएँ (जहाज जैसी)[4] थीं, जिनसे वे समुद्र द्वारा व्यापार करते थे।[5] इन समुद्री जहाजों (नौकाओं) का पतवारों (डांडों) अथवा पाल से चलाये जाने का भी उल्लेख हुआ है।[6] इससे प्रतीत होता है, उस समय दुर्गम होते हुये भी समुद्र-यात्रा निषिद्ध नहीं थी, क्योंकि भुज्यु के अतिरिक्त[7] एक स्थल पर वसिष्ठ[8] का वरुण के साथ समुद्र यात्रा करने का उल्लेख हुआ है। एक अन्य ऋचा में जल से परिपूर्ण सागर वेग को विश्वामित्र द्वारा भी बाँधने का वर्णन किया गया है।[9]

समुद्री लहरों द्वारा भी सप्तसैन्धव प्रदेशीय दक्षिणी-पश्चिमी तथा पूर्वी तट-भाग अपरदन-क्रिया[10] से प्रभावित रहता था, क्योंकि वायुजनित समुद्री लहरें[11] शब्द करती हुई सदैव तट-भूमि से टकराया करती है और तटीय आकार निर्माण पर गहरा प्रभाव

---

१. ऋग्वेद, १/४७/६।
२. ऋग्वेद, १/१८०/८—युवां चिद्धि ·······काराधुनीव चिरयत् सहस्रैः।
३. ऋग्वेद, १०/५/१—एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम्·······।
४. ऋग्वेद, १/४८/३।
५. ऋग्वेद, १/५६/२—विल्सन महोदय भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद का अनुवाद, सेकण्ड एडीशन, १८६० भूमिका, पृ० xLi।
६. ऋग्वेद, १/११६/५ (डांडों से चलने वाली नौका), १०/१४३/५ (पाल से चलने वाला जलयान)।
७. ऋग्वेद, १/११६/४।   ८. ऋग्वेद, ७/८८/३।
९. ऋग्वेद, ३/५३/९।
१०. इरोजियन (Erosian) मिट्टी का कटाव।
११. ऋग्वेद, ९/५०/१—सिन्धोरूर्मेरिवस्वनः।

डालती हैं। समुद्र जल अन्य क्षयकारी साधनों के समान तट-भूमि को काट कर कटे पदार्थों को अन्यत्र बहा ले जाता है, साथ ही अपने साथ बालू-रेत-कंकड़ बहा कर तट पर निक्षिप्त भी कर देता है।[1] प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश का दक्षिणी तटीय भाग जो रेतीला होकर मरुस्थल (धन्व)[2] के रूप में परिणत हो गया था, दक्षिणी (सारस्वत)[3] समुद्र की लहरों के निक्षेपण का ही परिणाम था। इसके अतिरिक्त लहरों की सामुद्रिक परिवहन-क्रिया द्वारा कभी-कभी विशाल काष्ठ-खण्ड[4] भी बहते हुए तट के समीप आ जाते थे।

सप्तसैधन्व प्रदेश के समुद्र-तटीय भाग के (धीवर आदि)[5] लोग समुद्र से मछलियाँ प्राप्त करते थे, क्योंकि अल्पजल में मछलियों के दुःखी[6] रहने तथा भृगुओं और द्रुह्यु जनों के सन्दर्भ में उनके जाल में बँधे रहने का संकेतात्मक उल्लेख हुआ है।[7]

समुद्र जल में अग्नि[8] का निवास है तथा विद्वानों के मतानुसार[9] जलों के मंथन रूप विद्युत्[10] में इस अग्नि का बल है—सप्तसैन्धव प्रदेश के प्रबुद्ध आर्य इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे समुद्रों द्वारा जल-राशि (विद्युत्) सामान्यतः प्राप्त करते थे। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की मान्यता है कि संसार के भिन्न-भिन्न समुद्रों में उनकी गति (ज्वार) से लगभग २० अरब अश्वशक्ति विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है तथा अमरीका, हालैण्ड, फ्रांस आदि देशों में तो इस शक्ति का प्रयोग भी किया जाने लगा है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व उ० अमेरिका के केलीफोर्निया प्रान्त में बर्कले नामक नगर मे समुद्री लहरों की शक्ति संचित कर

---

१. भौतिक भूगोल के तत्त्व—सी० बी० मामोरिया, पृ० २८२।
२. ऋग्वेद, ४/१७/२, १८/७, ५/८३/१०, ६/६२/२, १०/६३/१५, ८६/२०।
३. ऋग्वेद, १०/११५/३—अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे-अपूरुषम्।
४. ऋग्वेद, १०/११५/३।
५. वाजसनेयि सं०, ३०।
६. ऋग्वेद, १०/६८/८—मत्स्यं दीन उदनि क्षियन्तम्।
७. वही, ७/१८/६।
८. वही, ८/१०२/५—अग्निं समुद्रवाससम्।
९. पं० श्रीराम शर्मा, ऋग्वेद, द्वितीय खंड, बरेली, पृ० ६८६।
१०. वही, ४/५८/११—मामन्ते-अन्यः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।

लगभग दो करोड़ अश्वशक्ति विद्युत् उत्पन्न की गयी थी।[1] यदि ऋग्वेदकालीन सप्त-सैन्धव प्रदेश में सामयिक परिस्थितियों में भी समुद्र से विद्युत् (अग्नि) शक्ति प्राप्त की जाती रही हो तो निःसन्देह ऋषियों ने चरम वैज्ञानिक उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश पर उसके आस-पास के समुद्रों का प्रभाव विभिन्न प्राकृतिक रूपों (तापमान, वर्षा, जलवायु) के अतिरिक्त मानवीय जीवन की विविध प्रक्रियाओं पर परिलक्षित होता है तथा इनके, भौतिक (आन्तरिक) शक्तियों के कारण, कालान्तर में विलुप्त हो जाने पर यह तथ्य स्वतः ही पूर्ण सिद्ध हो जाता है।

---

१. भौतिक भूगोल के तत्त्व—डा० सी० बी० मामोरिया, पृ० ५५३।

द्वितीय खण्ड
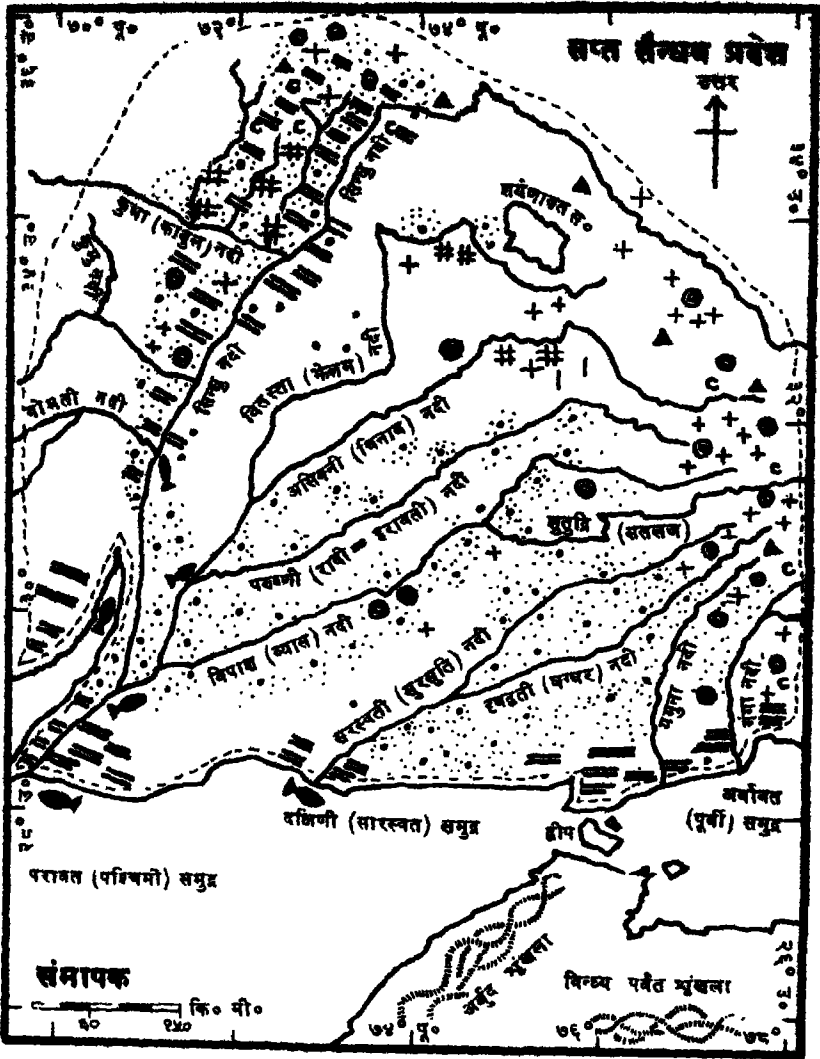
मानव भूगोल

॥ ६ ॥

आर्थिक भूगोल

आर्थिक भूगोल (आजीविका के साधन धन्धे)

षष्ठ अध्याय

ऋग्वैदिक आर्थिक भूगोल (मानवीय खान-पान, वेशभूषा तथा आजीविका आदि)

किसी भी प्रदेश की स्थलीय संरचना, वनस्पति, जलाशय, जलवायु आदि प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव वहाँ के मानवां के आर्थिक-जीवन पर पड़ता है। दूसरे शब्दों में, सभी भौगोलिक दशाएँ ही मानवीय (आर्थिक) प्रक्रियाओं को नियंत्रित एवं निर्धारित करती हैं, जिसका समर्थन जी० चिशोल्म[1], जे० मैफरलेन[2], जी० टी० रैनर[3], एन० जे० जी० पोउण्ड्स[4] प्रभृति आर्थिक भूगोलवेत्ताओं ने भी किया है। मनुष्य की आर्थिक प्रक्रियाएँ भी उसकी प्राथमिक अथवा आधारिक (प्राइमरी अथवा फण्डामेन्टल) तथा गौण (सेकेण्डरी) आवश्यकताओं पर निर्भर रहती हैं। भोजन (खान-पान), वस्त्र (वेशभूषा) तथा निवास (रहन-सहन) मानव की महत्त्वपूर्ण आधारिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत आती हैं। मानव-भूगोल के विशेषज्ञ ई० हण्टिंगटन[5] तथा फ्रेड्रिक रैटजल[6] ने इन्हें महत्त्वपूर्ण भौतिक नितान्त आवश्यकताएँ (इम्पौर्टैण्ट मैटीरियल नीड्स) माना है, जबकि जॉन ब्रूंश ने इनको मूलभूत शरीर क्रियात्मक आवश्यकताओं के अन्तर्गत ग्रहण किया है।[7]

---

१. "इट इम्ब्रेसेज आल ज्योग्राफिकल कण्डीशन्स ऐफेक्टिंग द प्रोडक्शन, ट्रान्सपोर्ट ऐण्ड इक्सचेन्ज आफ कौमोडिटीज।" (हैण्डबुक ऑफ कॉमर्शियल ज्योग्राफी, जी० चिशोल्म, पेज २३)।

२. इकोनोमिक ज्योग्राफी, जे० मैफरलेन, १९३७, पेज १।

३. वर्ल्ड इकोनोमिक ज्योग्राफी, जी० टी० रैनर ऐण्ड अदर्स, १९५७, पेज ४।

४. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु इकोनोमिक ज्योग्राफी, एन० जे० जी० पोउण्ड्स, १९५१, पेज १।

५. ह्यूमैन ज्योग्राफी, ई० हंटिंग्टन, डब्लू० कशिंग, ऐण्ड ई० बी० शा, १९५६, पेज ६।

६ ऐन्थ्रोपो—ज्योग्राफिया, फ्रेड्रिच रेटजेल स्टल्टगर्ट, १८८२, पेज ९१।

७. ह्यूमैन ज्योग्राफी, जे० ब्रूंस, ऐब्रिज्ड, १९५७, पेज ३०-३२।

इस उपर्युक्त भौगोलिक तथ्य को दृष्टि में रखते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव-जीवन के अन्तर्गत प्रारंभिक (आधारिक) तथा गौण आर्थिक प्रक्रियाओं (आवश्यकताओं) की विवेचना की जा रही है ।

खान-पान—

खाद्य (भोजन)—मानवीय आवश्यक आवश्यकताओं के अन्तर्गत खाद्य (भोजन) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि इससे स्थल से संबंधित आर्थिक विकास की प्रत्येक दशा नियंत्रित रहती है । अतः इस सम्बन्ध में ई० सी० सैम्पुल का यह विचार तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है ।

"फूड इज दी अर्जेन्ट ऐण्ड रि-करेन्ट नीड आफ इण्डिवीजुअल । इट डिक्टेट्स दिअर ऐक्टिविटीज इन रिलेशन टु दियर लैण्ड ऐट एवरी स्टेज ऑफ इकोनोमिक डेवलपमेन्ट ।"[1]

चूँकि भोज्य पदार्थों का उत्पादन भौगोलिक वातावरण के अनुकूल होता है, अतएव भोज्य पदार्थों की सम्पूर्ति का मानव तथा उससे संबंधित वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा कि मानव भूगोलवेत्ता ब्लॉश ने कहा है—"फूड सप्लाई इज वन ऑफ द क्लोजेस्ट टाइज बेट्वीन मैन ऐण्ड हिज एन्वायरेनमेण्ट ।"[2] इस दृष्टि से 'सप्तसैन्धव प्रदेश' के मनुष्यों की खाद्य सामग्री ऋग्वेद के आधार पर निम्नलिखित प्रकार की निर्धारित की जा सकती है—

अन्न—खाद्य पदार्थों मे अन्न अत्यन्त प्रमुख अंग था तथा भोजन के अर्थ में प्रयुक्त होकर आज भी भोजन में धान्य की प्रचुरता के कारण अनाज के अर्थ में प्रयुक्त होता है । ऋग्वेद के अनेक स्थलों में अन्न[3], पके हुये अन्न[4], अन्न कोष्ठ[5] तथा अन्न प्राप्ति से पुष्ट होने का उल्लेख हुआ है ।[6]

---

१. इम्फ्लूएन्सेज ऑफ ज्योग्राफिक इन्वायरेनमेन्ट, ई० सी० सैम्पुल, १९११, पेज ६० ।

२. प्रिन्सिपिल्स ऑफ ह्यूमैन ज्योग्राफी, ब्लाश, (Vidal de la Blache) १९११, पेज २११ । ३. ऋग्वेद, १/१७५/५,६, १/२५/१५, ६९/२ ।

४. ऋग्वेद, ६/६३/९—सुमीलहे शतं पेरुके च पक्वा । १/१२७/४ स्थिरा चिदन्ना···· (अन्न पाक)

५. ऋग्वेद, २/३८/५—नानौकांसो दुर्यो विश्वमायुर्वितिष्ठते—शभव: शोको अग्ने: । ऋग्वेद, द्वितीय खंड, बरेली, पृ० ४३६ ।

६. ऋग्वेद, ३/५९/३—अनमोवास इलया मन्दतो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः । ऋग्वेद, द्वितीय खंड, बरेली, चतुर्थ सं०, पृ० ५६१ ।

श्रेष्ठ भोज्यान्नों में यव का ही सर्वाधिक उल्लेख हुआ है, जिससे प्रतीत होता है, भौगोलिक दशाएँ अनुकूल होने के कारण यव (जौ) की उपज कृषि में प्रधानतया होती थी। यव (जौ) की उपज से[1] बर्तन भरने तथा निम्नलिखित विधियों से उसे खाकर[2] भूख मिटाने[3] का तथ्ययुक्त वर्णन प्राप्त होता है। यथा :—

(१) **धाना**—पके अथवा भूने हुए भूसी रहित यव के दाने को धाना[4] कहा गया है, जिसे (चबेना के रूप में) चबा कर खाया जाता है अथवा खाया जाता था। सामान्यतः भड़भूंजे 'यव' आदि धान्य को भूंजा करते थे (ऋग्वेद १/११२/१)।

(२) **करम्भ**—भूने हुए यव को पीस कर सत्तू (सक्तु) के रूप में खाद्य को 'करम्भ'[5] कहा गया है। करम्भ के अतिरिक्त इसका 'सक्तु'[6] रूप मे भी उल्लेख हुआ है, जिसे सूप अथवा चलनी (तितउ)[7] से परिमार्जित कर प्रयोग किया जाता था।

(३) **अपूप (मोटी रोटी या पुआ)**—कच्चे यव को पीस कर एक प्रकार की पुआ जैसी (घृतयुक्त मोटी)[8] रोटी को अपूप[9] संज्ञा प्रदान की गयी है, जो आधुनिक पुआ (मालपूआ) की तरह स्वादिष्ट होती होगी, किन्तु सामान्यतया मिट्टी के तवे अथवा कण्डे की अग्नि पर तन्दूरी रोटी के समान पकाई जाती प्रतीत होती है। अपूप के अतिरिक्त सामान्य रोटी[10] बनाने में भी यव का उपयोग होता था।

(४) **यवाशिर (सोम रस, दुग्ध अथवा दधि-मिश्रित यव पेय रूप में)**—यह यव को सोम रस के अतिरिक्त दूध, मधु अथवा दही के साथ मिला कर पेय रूप मे

---

१. ऋग्वेद, २/१४/११—तमूर्दरं न पृपाता यवेनेन्द्रं·····।
२. वही, १०/२७/८—संयद्वयं यवसादो····।
३. वही, १०/४२/१०—यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्राम···।
४. वही, ४/२४/७—य इन्द्राय····पचात्पक्तीसत भृजाति धानाः।
वही, ३/५२/१—धानान्वत करम्भिणमपूपवन्तम्····। ८/७०/१२—धानानां न···।
५. वही, ३/५२/१,७, ६/५७/२, १/१८७/१०—करंभ ओषधे भव पीवा वृक्क उदारथिः, ३/५२/७।
६-७. वही, १०/७१/२—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो।
८. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ८४। अपूप = सामान्यतः पुआ या मालपुआ के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु ऋग्वैदिक काल में यह घृतयुक्त तन्दूरी (मोटी) रोटी ही प्रतीत होता है (ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ४५)।
९. ऋग्वेद, ३/५२/१—धानन्वत करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। ३/५२/७, १०/४५/९।
१०. ऋग्वेद, ४/२४/५।

प्रयुक्त किया जाता था। यव (जौ) मिले सोम रस को यवाशिर[1] कहा गया है। प्रतीत होता है, ग्रीष्म ऋतु में इसका सेवन लाभदायक रहता होगा।

इन विविध रूपों (धाना, करम्भ, अपूप[2] तथा यवाशिर) में यव (जौ) के उपयोग को दृष्टि में रखते हुए इसे मध्यवर्ती सप्तसैन्धव प्रदेश के (मैदानी भाग) का प्रमुख खाद्यान्न कहा जा सकता है, क्योंकि इस क्षेत्र में कृषि के अन्तर्गत जौ की खेती की ही प्रधानता थी (बैलों से जौ के खेत को जोतने का उल्लेख हुआ है[3]। इसके साथ ही खाद्यान्न को परिष्कृत-परिमार्जित तथा पकाने वाले अनेक उपकरणों के अन्तर्गत उलूखल[4] (ऊखल), तितउ[5] (छलनी या सूप), उखा[6] (हंडिया), चषाल[7] आदि का भी उल्लेख किया गया है।

फल—कृषि द्वारा प्राप्त कतिपय यवादि अन्न के अतिरिक्त वन्य स्वादिष्ट फल भी सप्तसैन्धव प्रदेश के सामान्य निवासियों के आहार में प्रयुक्त होते थे, क्योंकि उस समय पर्याप्त वर्षा, अनुकूल जलवायु के कारण प्राकृतिक वनस्पति (विविध वृक्षों से युक्त वन्य-भूमि) अत्यन्त समृद्ध थी। अतएव सुस्वादु फलों का सुलभ होना भी स्वाभाविक है तथा इनके खाने का भी[8] उल्लेख हुआ है। पके फल वाले वृक्ष[9], प्रतीत होता है, प्रत्येक ऋतु में पाये जाते थे जिनसे पके हुए फलों को अंकुशाकार टेढ़े बांस से गिराया जाता था।[10] ऐसे स्वादिष्ट फलों में पिप्पल[11], उर्वारुक[12] (बेर, ककड़ी) आदि उल्लेख-

---

१. ऋग्वेद, १/१८७,८ यत्त सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे।
२. India in the Vedic Age, 1971, P 248 (Dr. P. L. Bhargava) (अपूप = दुग्ध या मक्खन मिश्रित आटे से निर्मित केक अथवा रोटी)।
३. ऋग्वेद, १/२३/१५— गोभिर्यवं न चर्कृषत्।
४. वही, १/२८/१ (ऊखल)।
५. वही, १०/७१/२—छलनी या सूप (तितउ)।
६. वही, १/१६२/१३ (उखा = हांडी)
७. वही, १/१६२/६ हांडी (चषाल)
८. वही, १०/१४६/५—स्वादो फलस्य जग्ध्वाय।
९. वही, ४/२०/५—वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता।
१०. वही, ३/४५/४ – वृक्षं पक्वं फलमंकीव धूनुहीन्द्रसंपारणंवसु।
११. वही, १/१६४/२० तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्...१/१६४/२२...तस्येदाहुः पिप्पलं...न वेद। १२. वही, ७/५९/१२।

नीय हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन[1] ने सप्तसैन्धव प्रदेश में फलद वृक्षों में आम, जामुन कुन्दरू, बेर आदि के होने की संभावना की है जिनका आर्य भोजन में उपयोग करते थे। डॉ० एस० एम० अली के मतानुसार उदम्बर (गूलर) यद्यपि ऋग्वेद में उल्लिखित हुआ है, तथापि इसने उत्तर-वैदिक काल में विशेष महत्त्व प्राप्त किया था।

मांस—अन्न और फलों के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश के निवासियों को अन्य क्षेत्रों में पशु-पक्षियों के शिकार के अतिरिक्त समृद्ध पशु-पालन में भक्षणार्थ प्रचुरमात्रा में मांस भी उपलब्ध हो जाता था[2]। अत: अज, अवि, अश्व आदि का मांस भी सामान्यतया भोजन में प्रयुक्त होता था, यद्यपि ऋग्वेद में गो-घातक स्थान 'सूना'[3] के साथ ही तलवार से गाय को काटने[4] का भी उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि गाय का मारना सामान्यत: निन्द्य माना जाता था[5] तथा उसके प्रति पूज्य-भावना सर्व-सामान्य में उत्पन्न हो गयी थी।[6] अतएव प्राय: अनिन्द्य पशुओं का ही मांस खाया जाता था, जिनमें अज (बकरा), अवि या मेष (भेड़) तथा अश्व आदि पशुओं का मांस उल्लेखनीय है। मोटे मेढ़े (मेष) का मांस[7] वीरों (सैनिकों) द्वारा रुचिकर समझ कर स्वयं पकाया जाता था तथा दीर्घतमा ऋषि के अनुसार पके हुए सुगंधित घोड़े के मांस[8] का भी सामान्यतया सेवन किया जाता था।

प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी-पश्चिमी शीत-प्रधान तथा मध्य एवं द० पू० भाग की सम-शीतोष्ण प्रधान जलवायु में अवि (भेड़ों), अज (बकरी) तथा अश्व (घोड़ों) का मांस-भोजन स्वास्थ्य एवं पुष्टिकारी होने के कारण सामान्यत: प्रचलित था, क्योंकि परवर्ती वैदिक (सूत्र) ग्रन्थों में प्राप्त मधुपर्क[9] (अतिथि सत्कार के लिए खाद्य) के अतिरिक्त ओदन[10] के साथ भोजन में मास प्रयोग के उल्लेख इस तथ्य को सर्वथा पुष्ट करते हैं। सिन्धु की ऊपरी घाटी के आस-पास उ० प० सप्त-सैन्धव प्रदेश में अवि (भेड़ों) तथा अज (बकरों) की पशुपालन में प्रधानता होने के

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ४६।
२. द ज्योग्राफी ऑफ दी पुराणाज १९६६, न्यू देलही, पेज १६।
३. ऋग्वेद, १/१६१/१०।
४. ऋग्वेद, १०/७९/६, १/६१/१२।
५. वही, ८/९/१५-१६।
६. वही, ६/२८, १०/१६९।
७. वही, १०/२७/१७।
८. वही, १/१६२/१२।
९. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/२४, नामांसो मधुपर्को भवति।
१०. वृहदारण्यक, ६/४/१८—य इच्छेद् पुत्रो मे पण्डितो·······
मांसोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तं अश्ननीयताम्।

कारण इनका मांस-भोजन स्वाभाविक है, क्योंकि पशुपालक मानव प्रायः पशुओं के दुग्ध-घृत आदि के साथ उनका मांस भी आहार में सेवन करते हैं[1] किन्तु वामदेव की ऋचा से ऐसा प्रतीत होता है कि विषम भौगोलिक दशाओं (अकाल जैसी आपत्तिकालीन स्थिति) में दरिद्रतावश कुत्ते की अंतड़ियों को भी पका कर भोग खा लेते थे।[2]

पेय (पान)—पेय विषयों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जल है, जो मानवीय क्रिया-कलापों को नियंत्रित रखता है, अतएव ब्रूंज[3] ने भी इसे सर्वत्र मानव की गतिविधियों का शासित करने वाला बताया है। अपरिहार्य पेय जल के अतिरिक्त अन्य पशु-धन से प्राप्य पौष्टिक पेयों के अन्तर्गत दुग्ध[4] (पय), दधि[5] (दही), घृत[6] (घी), पनीर[7] (छांछ या छेनी) अथवा आमिक्षा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि सप्त-सैन्धव प्रदेश के मैदानी तथा पर्वतीय भाग में पशु-पालन प्रचुरता से होने के कारण वहाँ के पशुचारक आर्य गाय, बकरी आदि पशुओं से दूध तथा दूध से बनी सामग्री (दधि, घृत, छांछ आदि) भोजन के साथ पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त करते थे। मानव-भूगोलवेत्ताओं द्वारा भी पशुचारकों के भोजन मे दूध-दही, घी का पर्याप्त प्रयोग समर्थित किया गया है।[8]

पालतू पशुधन से प्राप्त पेय पदार्थों को विशुद्ध रूप से सेवन के साथ ही उन्हें मिश्रित रूप मे भी प्रयुक्त करते थे। ऐसे मिश्रणकारी पेयों के अन्तर्गत मधु[9], सुरा[10] तथा सोम[11] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनमें से पेय को मधुर तथा स्वादिष्ट बनाने के लिए मधु (शहद) तथा सोम का प्रयोग सर्वाधिक होता था। मधुपेय[12] तो सप्त-

---

१. मानव भूगोल—डॉ० एस० डी० कौशिक, मेरठ १९७०, पृ० ४४६।
२. ऋग्वेद, ४/१८/१३, ४/१८/१८।
३. ह्यूमैन ज्योग्राफी—जान ब्रूंज, १९५७, पेज ३१।
४. ऋग्वेद, २/१४/१०—अध्वर्यवः पयसो धर्मथा गोः, ९/१०७/९, १/२३/१६।
५. ऋग्वेद ८/२/९।
६. ऋग्वेद, ३/२१/१ ३/२१/२, ३/२१/४, १०/१०६/८।
७. ऋग्वेद, ६/४८/१८।
८. मानव भूगोल—डॉ० एस० डी० कौशिक, पृ० ४४४।
९. ऋग्वेद, ८/४/८, १/३४/२, ३, ११।
१०. ऋक्०, ८/२१/१४।
११. ऋग्वेद, २/४०/३।
१२. ऋग्वेद, १/३४/११—मधुपेयमश्विनाम्।

सैन्धव प्रदेश के मानवों को श्रेष्ठ था ही, किन्तु इसके साथ ही सोम का दूध, घी, दही से विविध प्रकार से तैयार किया हुआ मिश्रण 'अशिर'[1] (आशिर) कम प्रिय नहीं समझा जाता था। दूध, दही, यव आदि से सोम का मिश्रण 'अशिर' अथवा 'आशिर' निम्नलिखित रूपों में अभिहित किया गया है—

(१) गवाशिर—गाय के दूध में सोम को मिश्रित कर 'गवाशिर' तैयार किया जाता था, जिसका उल्लेख अनेक स्थलों[2] में होने के कारण यह प्रिय तथा पौष्टिक पेय के रूप में प्रचलित प्रतीत होता है।

(२) दध्याशिर—दही में सोम को मिलाने से 'दध्याशिर' नाम के स्वादिष्ट पेय को तैयार किया जाता था। यह भी सप्तसैन्धव प्रदेश के निवासियों के प्रिय पेय के रूप में उल्लिखित हुआ है।[3]

(३) यवाशिर— यव (जौ) के रस अथवा उसके घुले आटे में मिले हुए सोम को 'यवाशिर' कहा गया है। पानी में काफी समय से पड़े (भीगे) यव को दबा कर अथवा पीस कर उससे सोम मिश्रित पेय 'यवाशिर' तैयार किया जाता था, जो पौष्टिकता की अपेक्षा मादकता अधिक लाने वाला प्रतीत होता है। अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख हुआ है[4], अतः सामान्यतः इसका उपयोग अधिक होता था।

दूध, दही तथा यव (सत्तू) में ही सोम का तीन प्रकार का मिश्रित पेय प्रमुख रूप में प्रचलित होने के कारण इसे 'त्र्याशिर'[5] कहा गया है।

त्र्याशिर के अतिरिक्त अन्य मिश्रणों में भी खाद्य एवं पेय पदार्थ नित्यप्रति प्रयुक्त होते थे, जिनमें जौ अथवा सत्तू से मिश्रित दही[6], मधु (शहद) से मिश्रित अन्न[7], जौ (यव) मिश्रित सोम अथवा दूध मिश्रित यव[8] (अथवा व्रीहि धान्य), जिसे

---

१ ऋग्वेद, १/१३४/६/, ३/५३/१४, ८/२/११, १९, ९/७५/५।

२. वही, २/४०/३—शुक्रस्याद्य गवाशिर ……३/५०/३, १/१८७/९, १/१३७/१, ३/४१/१, ७ आदि।

३. वही, १/१३७/२, ५/५१/७।

४. वही,—१/१८७/९, यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। ३/४२/७, इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नःपिब। ८/९४/४, २/२२/१।

५. वही, ५/२७/५।

६. वही, ३/५२/१, ७, ३/५८/९, ९/१०७/२।

७. वही, ३/४०/१—मध्वो अन्धसः………।

८. वही, ३/३०/१४, ८/७७/१०, (क्षीर-पाक=क्षीर)।

क्षीरपाक (खीर) कह सकते हैं, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्षीरपाक (ऋग्वेद—८/७७/१०) अथवा खीरपाक दूध में पके यव अथवा चावल का ही अपर अभिधान है। श्री राहुल सांकृत्यायन[1] ने ऋग्वैदिक काल में क्षीर (दूध) के साथ चावल के स्थान पर यव (जौ) द्वारा क्षीर-पाक तैयार होने की पूर्ण संभावना की है, क्योंकि उस समय कृषि आदि सन्दर्भों के अन्तर्गत चावल का ऋग्वेद में उल्लेख नहीं मिलता है।

इस क्षीर-पाक से मिलता-जुलता घृत अथवा दुग्ध से किसी खाद्यान्न को मिला कर देवताओं के लिए तैयार किया हुआ पुरोडाश[2] भी ऋग्वेद में उल्लिखित हुआ है, जो सप्तसैन्धव प्रदेश के देवताओं का प्रिय खाद्य था, किन्तु प्रतीत होता है देव-आहुति (पूजा) से अवशिष्ट प्रसाद रूप में आर्य इसे आदरपूर्वक ग्रहण करते थे। यह दूध में पके जौ की दलिया से अभिन्न कहा जा सकता है, यह तथ्य श्री राहुल सांकृत्यायन[3] द्वारा भी प्रतिपादित किया गया है।

ऋग्वेद की परवर्ती[4] संहिताओं में इक्षु (ईख या गन्ने) का उल्लेख होने से यह कहा जा सकता है, कि सप्तसैन्धव प्रदेश के लोग 'गन्ने का रस पान' करते थे। म० म० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[5] ने भी आर्यों का गन्ना खाना स्वीकार किया है।

सुरापान—ऋग्वेद मे सुरा के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि सामान्य (यव आदि) धान्य से निर्मित सुरा का सेवन सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्येतर जाति के (अयाज्ञिक)[6] लोग सामान्यतः करते थे, किंतु आर्यजनों के लिए वैलासिक पेय होने के कारण इसका प्रयोग प्रायः निन्द्य एवं निषिद्ध समझा जाता था[7], क्योंकि इससे सभा में कलह उत्पन्न हो जाती थी।[8]

सोमपान—सोम सप्तसैन्धव प्रदेश का सर्वाधिक प्रिय पेय था तथा मूजवत्[9]

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, १६५७, इलाहाबाद, पृ० ४४।
२. ऋग्वेद, ३/५२/६ ....पुरोडाशमाहुतं भामहस्वतः। ४/२४/५, ३/२८/२।
३. ऋग्वैदिक आर्य, १६५७, इलाहाबाद, पृ० ४३।
४ अथर्ववेद, /३४/५, मैत्रायणी सं०, ३/७/६, ४/२/६ (इक्षुकाण्ड), वाजसनेयि सं०, २५/१, तैत्ति० सं०, ७/३/१६।
५. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १६६७, पृ० २०२।
६. ऋग्वेद, ८/२१/१४—पीयन्ति ये सुराश्वः...... ।
७. वही, ७/८./६।   ८. वही, ८/२/१२।
६. वही, १/६३/६।

आदि पर्वतीय भागों में अधिक होने के कारण यह ऋग्वेद में सर्वाधिक उल्लिखित भी हुआ है। नवम मण्डल के अतिरिक्त अन्य सूक्तों में यह ऋषियों द्वारा अत्यधिक प्रशसित भी हुआ है। पौधे अथवा लता के रूप में यह हरे[1], लाल तथा पीले[2] रंग का होता था, जिसे रसमय पेय बनाने के लिये गो-चर्मयुक्त वेदी[3] पर रख पत्थर (मूसल) से कूटा जाता था। कूटने के पश्चात् इसका रस मेष-लोमों से निर्मित छन्ने से छान[4] कर कलशो अथवा गो-चर्म निर्मित पात्रों (चमुओ) मे भर लिया जाता था।[5] सैकड़ों घडे (चमू) सोम या तो विशुद्ध रूप[6] मे अथवा दूध दही, मधु, यव (सत्तू) का मिश्रण कर पिया जाता था, क्योकि यह मादक[7], हर्षकारी, स्वादिष्ट[8] होने के साथ ही पौष्टिक पेय समझा जाता था। उत्साहवर्द्धक होने के कारण योद्धागण युद्धस्थल में जाने के समय इसका उपयोग करते थे।[9]

समीक्षा—ऋग्वेद मे अनेक स्थलो मे सोम के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि सोमयाग जैसे सामयिक अवसरो मे ही नही, अपितु नित्यप्रति का यह एक अत्यन्त प्रिय पेय के रूप मे प्रचलित था। इसी प्रकार खाद्यान्नो मे यव तथा उससे बने खाद्य-पदार्थ करम्भ (सत्तू) और अपूप के अतिरिक्त मेष और अश्व आदि का मास भी आर्यों का प्रिय आहार था।

वेश-भूषा—

वस्त्र[10]—किसी भी प्रदेश की ग्रीष्म, शीत, वर्षा, लू जैसे जलवायु के प्रभावों

---

१. ऋग्वेद, ६/८/६—पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुणो हरिः।
२. वही, ४/१/२३—सरो न प्रस्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरुस्फिरम्।
३. वही, ६/७६/४, ३/१/१—सोमस्य चमा तवसं······।
४. वही, ६/६८/७।
५. वही, ६/२०/६।
६. वही, १/१६/८, १६/६, ८४/४, ५, ८६/४, १०८/१ आदि।
७. वही, १/१७५/१—मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येवहरितोमत्सरोमदः ८/६५/३—पिवा सोम मदाय, ८/२१/५।
८. वही, ८/४८/१, ६/१/१ स्वादिष्टया मदिष्टया पवस्व सोम धारया।
६ ऋग्वेद, ६/१०६/२।
१० 'ऋग्वेदे वर्णित वस्त्र निर्माणम्'—पंचम विश्व संस्कृत सम्मेलन, १६८१ (पंचम वर्ग) मे प्रस्तुत शोधपत्र एव आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र से प्रसारित संस्कृत वार्ता-द्रष्टव्य—सागरिका २१/१, १६८२ सागर, अजसा, लखनऊ ४/४, १६८२।

से मानव-शरीर का संत्राण करना अनिवार्य होने के कारण वस्त्र, भोजन एवं जल के पश्चात् द्वितीय आवश्यक आवश्यकता के अन्तर्गत ग्रहण किये जाते हैं। चूंकि वस्त्रों के द्वारा जलवायु के प्रत्यक्ष प्रभावों (शीत, ग्रीष्म, लू, पाला आदि) से मानव अपने शरीर की रक्षा करता है, अतएव वस्त्रों की संरचना कुछ सीमा तक प्राकृतिक वातावरण पर आधारित रहती है। जे० ब्रूंश प्रभृति भूगोलवेत्ताओं द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[1] इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों के पुरातन मानवों द्वारा वस्त्रों के प्रयोग करने के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हुए है। भूगोल-शास्त्रियों[2] द्वारा (उत्तरी-पश्चिमी) भारत में अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व रुई के वस्त्रों का निर्माण एवं उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार सन (फ्लेक्स) अथवा अलसी के पौधों की छाल से निर्मित नकली रेशम (लिनेन) के वस्त्र, कहा जाता है। प्राचीन मिस्र मे आज से १४,००० वर्ष पूर्व की ममी (Mummy) के लिए प्रयुक्त होते थे।[3]

ऋग्वैदिक[4] सन्दर्भों के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश के मानवों द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१. **पशुओं की खाल अथवा बाल से निर्मित वस्त्र**—सामान्यतः सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय भाग (सिन्धु उपत्यका क्षेत्र) में अत्यन्त शीत जलवायु होने के कारण तपस्वी आर्य, अज, मृग आदि पशुओं की खाल से निर्मित वस्त्र धारण

---

१. "इन मेनी पार्ट्स ऑफ द अर्थ, क्लोदिंग नीड्स ए विट्ल नीड...ज्योग्राफिकली दिस नीड इज ऑफ ग्रेट इम्पौर्टेन्स......ऐण्ड इज स्टिल डिपेन्डेन्ट टु सम इक्सटेन्ट औन दिस नेचुरल इनवायरमेन्ट।"
(ह्यूमैन ज्योग्राफी, जे० ब्रूंशेज, १९५७, पेज ३२)

२. डब्ल्यू० एस० ऐण्ड ई० एस० वोटिन्सकीज—पापुलेशन ऐण्ड वर्ल्ड प्रोडक्शन, १९५३, पेज ५७७।

३. जे० आर० स्मिथ, एम० ओ० फिलिप्स ऐण्ड टी० आर० स्मिथ-इंडस्ट्रियल ऐण्ड कामर्शियल ज्योग्राफी, १९५९, पेज ५३०।

४. ऋग्वेद, ३/८/४ (सुवासा=अच्छे वस्त्र), १/१२४/७ (सुवासा स्त्री), १०/७१/४ (सुवासा जाया), १/११३/७ (शुक्रवासा=शुक्ल वस्त्र), ३/३९/२ (अर्जुन वासा=सफेद वस्त्र), ऋग्वेद, १०/२६/६ (अविवास=भेड़ों के वस्त्र), ७/१/१९ (दुर्वासि=बुरे वस्त्रों वाला), १/१४०/९, १०/१०२/२ (अधिवास=ऊर्ध्ववस्त्र)।

करते थे, जिन्हें अजिन[1] अथवा मल[2] (वल्कल) कहा गया है। प्रतीत होता है, मृग-चर्म के पूर्व अज (बकरे) के चर्म से वस्त्र तैयार होते थे, अतएव इन्हें अजिन अभिधान प्राप्त हुआ है, जो मृग-चर्म के समान ही पवित्र समझे जाते होंगे। इसी प्रकार अवि (भेड़) की खाल अथवा उसके बालों (ऊन) से निर्मित वस्त्रों को विपद ऋषि द्वारा 'अविवास'[3] कहा गया है।

सामान्यतः गान्धार (कन्धार) क्षेत्र भेड़ों के लिए[4] तथा सिन्धु और परुष्णी (रावी) क्षेत्र ऊन[5] की उपज के लिए प्रसिद्ध होने से यहाँ प्रायः भेड़ की ऊन के ही वस्त्र निर्मित होते थे[6] जिसमें मेष लोम से निर्मित कंबल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आज भी वस्तुतः पशुओं से प्राप्त होने वाले रेशों (बालों) में सबसे मुख्य भेड (मेष) है जो हिमालय पर्वतीय क्षेत्र के अतिरिक्त अफगानिस्तान-सिन्ध में उत्तम प्रकार की ऊन उत्पन्न करने वाली[7] होती है। अतएव यहाँ ऊन के वस्त्र स्वाभाविक रूप से अधिक निर्मित होते थे, जो प्रायः जाड़े की ऋतु में (गर्म कपड़े के रूप में)[8] प्रयोग किये जाते थे।

२. **वृक्षों अथवा पौधों की छाल या रेशों से निर्मित वस्त्र**—सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रचण्ड शीत ऋतु में ऊनी वस्त्रों का प्रयोग होता था, अतएव स्वाभाविक है, ग्रीष्म ऋतु में इससे भिन्न कपास आदि पौधों के रेशों से सूतो अथवा वृक्षों की छाल के (वल्कल) वस्त्रों का उपयोग होता था जिन्हें बुनने का कार्य स्त्रियों[9] के अतिरिक्त पुरुष[10] भी किया करते थे।

---

१. ऋग्वेद, १/६६/१० (अजिन), ८/१/३२ सह-त्वचा हिरण्यया (चर्मास्तरण)।
२. ऋग्वेद, १०/१३६/२।
३. ऋग्वेद १०/२६/६ (अविवास = भेड़ की खाल अथवा बाल से बने वस्त्र)।
४. ऋग्वेद, १/२६/७, सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ...।
५. ऋग्वेद, ४/२२/२, ५/५२/९।
६. ऋग्वेद, १०/२६/६। ७. मानव भूगोल डॉ० एस० डी० कौशिक, पृ० ४६६।
८. ऋग्वेद, १/३४/१ युवोर्हि यंत्र हिम्येव वाससो भ्यायं सेन्याभवतं।
९. ऋग्वेद, ५/४७/६, २/३/६ साध्वपांसि ... वय्येव रण्विते। तन्तुं ततं संवयन्ती ...
१०. वही, १०/१०६/१ वितन्वाथे धियो वस्त्रापसेव, १०/२६/६ वासो वायोऽवीनामा वासांसि।

भूगोलवेत्ताओं[1] के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य एवं इतिहास[2] के अध्येताओं द्वारा सप्तसैन्धव प्रदेश में पाँच हजार वर्ष पूर्व रुई के वस्त्र निर्मित होने की अवधारणा की गई है जो ऋग्वेद के सम्बन्धित सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए तथ्ययुक्त कही जा सकती है।

३. शारीरिक (अंगों के) आकार के अनुसार निर्मित वस्त्र—मानव शरीर के अंगों के आकार अथवा शारीरिक गठन के आधार पर भी विविध प्रकार के वस्त्र को निर्मित किया जाता था, जिनमें दो प्रकार के वस्त्र महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय हैं—

(१) अधो वस्त्र (नीवि),

(२) ऊर्ध्व वस्त्र (अधिवास)।

इनमें अधोवस्त्र (नीवि) धोती के समान साधारण होता था जबकि अधिवास उसकी अपेक्षा छोटा तथा कुर्ते अथवा अँगरखे की भाँति प्रायः सिला हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद में—"अधिवस्त्र"[3] (अधिवास) वस्त्र का उल्लेख[4] ऊपरी परिधान के रूप में प्राप्त होता है, जिसे डॉ० पी० एल० भार्गव[5] प्रभृति विद्वानों ने भी इसी रूप में प्रतिपादित किया है।

४. निर्माण के अनुसार वस्त्र—ऋतु-प्रभाव, शारीरिक गठन एवं अंगों के आकार के अतिरिक्त निर्माण-विधि को भी दृष्टि में रखते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के मानवों के वस्त्रों को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) व्युत (बुने हुये वस्त्र),

(२.) स्यूत (सिले हुए वस्त्र)।

स्त्रियों या तन्तुवायों द्वारा अनेक स्थलों पर वस्त्रों के बुनने[6] के अतिरिक्त

१. डब्लू० एस० ऐण्ड ई० एस० वोटिन्सकीज—पापुलेशन ऐण्ड वर्ल्ड प्रोडक्शन १९५३, पेज ५८७। जे० आर० स्मिथ, एम० ओ० फिलिप्स ऐण्ड टी० आर० स्मिथ, इंडस्ट्रियल ऐण्ड कॉमर्शियल ज्याग्राफी, १९५९, पेज ५३०।

२. पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७ दिल्ली पृ० १९९। राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ४०।

३. ऋग्वेद, (अधीवासं परिमानू रिहन्नह), अधिवासा वधूरिव ८/२६/१३, १/१४०/९ १०/१०२/२।

४. वै० इ० (डॉ० मै० व कीथ) १/२४, १/१६२/१६, १०/५/४।

५. India in the Vedic Age, 1971. P 247.

६. ऋग्वेद, २/३८/४, २/३/६, २/२८/५, ५/४७/६।

व्युत[1] (बुने हुए) वस्त्र, एवं स्यूत (सिले हुए) वस्त्रो का उल्लेख हुआ है। सुई द्वारा दर्जी वस्त्रों को सिला करते थे।

५ स्वरुचि अथवा विविध वर्णों के अनुसार वस्त्र—अनेक स्थलो पर स्वरुचि के अनुरूप निर्मित सुन्दर वस्त्रों सुवास[2] के साथ ही विविध वर्णों के वस्त्रों का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें काले, लाल, पीले वर्णों की अपेक्षा सफेद रंग केवल विशेष रूप से पसन्द किये जाते थे। इन सफेद (भूरे) रंग के वस्त्रों को शुक्रवासा अथवा अर्जुनवासा कहा गया है।[3]

६. उपयोगिता के आधार पर प्रचलित विशेष वस्त्र—प्रतीत होता है, सामान्य उपयोगिता के आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश में निम्नलिखित विशेष वस्त्र अधिक प्रचलित थे, जिनसे ग्रीष्म-शीत आदि से शारीरिक संत्राण होने के साथ अन्य अभिप्रायो की पूर्ति होती थी।

द्रापि—ऋग्वेद[4] के अतिरिक्त परवर्ती संहिताओ[5] के अनेक स्थलो में यह पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार प्रावारक (उत्तरीय वस्त्र) के आशय में प्रयुक्त हुआ है[6], किन्तु सायणाचार्य ने इसे 'कवच' अर्थ मे ग्रहण किया है, जिसका मैक्समूलर[7] द्वारा समर्थन किया गया है। मैक्डानेल एवं कीथ[8] ने 'कवच' अर्थ पर अपनी असहमति व्यक्त की है। श्री राहुल सांकृत्यायन[9] ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्रयुक्त कतिपय विशेषणो (पिशंग, हिरण्य—पीलो अथवा सुनहली) के आधार पर इसे उत्तरीय

---

१. ऋग्वेद, १/१२२/२, २/३२/४, ।
२. वही, ३/८/४, १/१२४/७, १०/७१/४ ।
३ ऋग्वेद, एषा····युवतिः शुक्रवासा । १/११३/७, ३/३९/२ भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना ···। ऋग्वेद, प्रथम खण्ड, पृ० २१९ । ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ४२४ ।
४. ऋग्वेद, १/२५/१३, बिभ्रद् द्रापिं हिरण्मयं···· । १/११६/१०, प्रामुंचत द्रापिमिवच्यवाताद् । ४/५३/२, ९/८६/१४, १००/९ ।
५. अथर्व०, ३/१३/१ ।
६. राथ, सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०, मुइर, संस्कृत टैक्स्ट्स, ५/४३२ । श्रेडर, प्रिहिस्टॉरिक ऐण्टिक्विटीज, ३३३ ।
७. ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५३६ ।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ४६७ ।
९. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १५६ ।

जैसा वस्त्र मानते हैं, जो हिमालय के अनेक स्थानों की दोहू (चादर) के समान प्रयुक्त होता था। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[1] भी इसे पहनने का कपड़ा मानते हैं। प्रतीत होता है, यह मोटा (स्वर्णादि धातुओं के तारों से कलात्मक रूप में जड़ाऊ) उत्तरीय जैसा ओढ़ने का वस्त्र (प्रावारक) था।

अत्क—ऋग्वेद[2] के अनेक स्थलों के अतिरिक्त सामवेद (२/११८/३) में इसका परिधान रूप में उल्लेख हुआ है, जिसको रॉथ, ग्रासमैन, लुडविग, आदि पाश्चात्य विद्वानों ने व्यक्तिवाचक वस्त्र के रूप मे प्रतिपादित[3] किया है, क्योंकि इसका पहिनने (प्रतिमुंच) के अर्थ में प्रयोग हुआ है। त्सिमर[4] किन्हीं स्थलों पर अत्क का आशय—'योद्धा का सम्पूर्ण कवच' मानते है। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[5] तथा डॉ० भार्गव[6] 'हिरण्य-अत्क' के आधार पर इसे बेल-बूटे तथा जरी के वस्त्र से भिन्न नहीं स्वीकार करते हैं। प्रतीत होता है, द्रापि की भाँति यह सम्पूर्ण शरीर के लिए प्रयुक्त होने वाला एक मोटा परिधान था।

शिप्र—वामदेव[7] की ऋचा के अनुसार यह 'शिरस्त्राण' तथा वशिष्ठ[8] की ऋचा को दृष्टि मे रखते हुये सामान्य उष्णीष (पगड़ी) से अभिन्न कहा जा सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन शिप्र को मूलतः उष्णीष (पगड़ी) आर्यों के शिर के परिधान के रूप में मानते हुए उसके कालान्तर मे विकसित रूप 'शिरस्त्राण' होने की संभावना करते हैं।

समीक्षा—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के विविध भागों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र प्रयुक्त होते थे। उत्तरी-पश्चिमी भाग के अतिरिक्त अधिकांश क्षेत्रों में चर्म को तथा ऊनी वस्त्र ही वर्ष के अधिकांश दिनों मे पहने जाते थे, क्योंकि

---

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० १९९।
२. ऋग्वेद, १/९५/७, २/३५/१४, ४/१८/५, ५/५५/६, ७४/५, ६/२९/३, ८/४१/७, ९/१०१/१४, १०७/१३, १०/१२३/७।
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १९।
४. आल्टिण्डिशे लेबेन, २६२, २९७।
५. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० १९९।
६. India in the Vedic Age, 1971, p. 247।
७. ऋग्वेद, ४/३७/४, ताम्र (अयः) शिप्र।
८. ऋग्वेद, ७/३५/३, शिप्रयुक्त इन्द्र।

शीत के स्थायी प्रभाव से इससे बचने के साथ ही पवित्रता की भावना की भी तुष्टि करते थे। मैदानी तथा समुद्रतटीय क्षेत्रों में सूती उत्तम वस्त्र (सुवास) अधिक तैयार होने के कारण अधिकता से प्रयुक्त होते थे।

आभूषण—मानव अपनी आवश्यक एवं गौण आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ अपनी स्वाभाविक अलंकरणप्रियता के कारण अपने शरीर के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धित (वस्त्रादि) वस्तुओं मे अलंकारों (आभूषणों) का प्रयोग करता है। अलंकारो (आभूषणो) के प्रयोग से किसी भी देश अथवा समाज के मनुष्यों की आर्थिक सम्पन्नता प्रकट होती है किन्तु इसके साथ ही उसकी भौतिक समृद्धि के साथ सांस्कृतिक सुरुचि का भी स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। यहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश के स्त्री-पुरुषो के प्रमुख आभूषणो की विवेचना की जा रही है।

शिरोभूषण - मस्तक के आभूषणों में ओपश[1] तथा कुरीर का उल्लेख हुआ है, जो स्त्रियो के सुहाग का टीका प्रतीत होता है। प्रायः विद्वानो ने[2] इसे शिरोभूषण के रूप में ग्रहण किया है। सन्दर्भ की दृष्टि से यह दृष्टिकोण समीचीन।

कर्णाभूषण (कर्णशोभन)—सप्तसैन्धव प्रदेश के प्रायः सभी सम्पन्न स्त्री-पुरुष कुंडल जैसे कर्णाभरण धारण करते थे, जिन्हे कुरुसुति आदि ऋषियों के द्वारा कर्णशोभन[3] की संज्ञा प्रदान की गई है।

हिरण्य—इसका (हिरण्य कर्ण रूप मे) उल्लेख कक्षीवान् ऋषि की एक ऋचा[4] के अन्तर्गत पुत्र के विशेषण रूप मे मणिग्रीव के साथ में हुआ है। इसके इस विशेषण से यह प्रतीत होता है कि हिरण्य कानो मे पहिना जाने वाला एक सोने का आभूषण है, जो कुंडल अथवा बाली से अभिन्न कहा जा सकता है।

कण्ठाभूषण— शरीर का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण कण्ठ में अनेक बहुमूल्य धातुओं एवं रत्नों को आभूषण रूप में धारण किया जाता था जिनमें मणि[5] (मणि जड़ित कण्ठा), निष्क[6]। (स्वर्णहार अथवा सोने का कण्ठा)

---

१. ऋग्वेद, १०/८५/८, कुरीरं छन्द ओपशः।

२. राहुल सांकृत्यायन— ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २६०। डा० पी० एल० भार्गव, India in the Vedic Age, p. 247, पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १५२।

३. वही, ८/६७/३ उत नः कर्ण शोभना।···

४. वही, १/१२२/१४—हिरण्यकर्णं मणिग्रीव मर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः।

५. ऋग्वेद, १/१२२/१४। ६. ऋग्वेद, ५/१९/३, ७/५६/११।

रुक्म[1] (स्वर्णाभरण) आदि बहुमूल्य वस्तु एवं रात्न भूषण के रूप में उल्लेखनीय हैं। प्रतीत होता है, ऋग्वैदिक काल में अधिकांश आभूषण सामान्यतः स्वर्ण जैसी मूल्यवान् धातु से ही निर्मित होते थे, क्योंकि इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि आर्यों के आयुध भी स्वर्ण[2] के होते थे।

हस्तपादाभूषण—हाथ और पैरों में भी सुन्दर आभूषण धारण किये जाते थे, जो कंकण, कड़ों (पायजेब) से भिन्न नहीं कहे जा सकते हैं। ऐसे आभूषणों में हाथ के कंगन के लिए खादि[3] नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रतीत होता है, खादि सप्त-सैन्धव का सर्वाधिक प्रचलित आभूषण था, जो विविध आकारों में शरीर के अंगों में धारण किया जाता था। यथा—कन्धों[4] (गले) में खादि हँसुली या सुतिया के समरूप, पैरों में कड़ों[5] के समान तथा हाथों में कंगन[6] के रूप में स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त शिशुओं द्वारा भी धारण किया जाता था।[7] श्री राहुल सांकृत्यायन की इस आभूषण के सम्बन्ध में अवधारणा है कि यदि ऋग्वैदिक आर्यायें (आर्य ललनायें-महिलायें) सारे हाथ को सोने की खादि से नहीं ढकती होंगी तो एक-दो (खादि) तो अवश्य ही पहनती होंगी।

अंगुलि-आभूषण—अँगुलियों में भी अँगूठी, छल्ले तथा नूपुर[8] (खादि) आभूषण प्रायः धारण किये जाते थे।

समीक्षा—उपर्युक्त आभूषणों के विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की आर्थिक स्थिति तथा मानवीय (सांस्कृतिक) सुरुचि समृद्ध होने के कारण चाँदी तथा स्वर्ण आदि धातुएँ एवं मणियों के आभूषण निर्मित करा कर स्त्री-पुरुष तथा बच्चों द्वारा धारण किये जाते थे। प्रायः सभी आभूषण स्वर्णकार (सुनार[9]) द्वारा बनाये जाते थे, अतएव पं० रेउ[10] जैसे विद्वानों द्वारा उसे "निष्कं-कृण्वान्"[11] ठीक ही

---

१. ऋग्वेद, ७/५६/१३"""यो वक्षः सुरुक्मा०"""। ४/१०/५।
२. ऋग्वेद ७/५७/३— रुक्मैरायुधैः।
३. ऋग्वेद, १/१६८/३—एषामंसेषु हस्तेषु खादिश्च"""। ५/५४/११, ५८/२, ६/१६/४०।
४. ऋग्वेद, ७/५६/१३। ५. वही, ५/५४/११।
६. वही, ५/५८/२। ७. वही, ६/१६/४०।
८. ऋग्वेद, ५/५४/११—अंसेषु वा ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा"""।
९. सुनार के लिए यजुर्वेद मे 'हिरण्यकार' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
१०. पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० २००।
११. ऋग्वेद, ८/४७/१५—निष्कं वाघा कृणवते स्रजवा दुहितर्दिवः।

कहा गया है। आर्थिक (भौतिक) समृद्धि के कारण ऋग्वैदिक युग से इन आभूषणों का प्रयोग इतना बढ़ गया था कि घोड़ों को भी वस्त्र एवं स्वर्णालंकारों से अलंकृत करते थे।[1]

केश-सज्जा—उपर्युक्त वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेशीय स्त्री-पुरुष अपनी केश-सज्जा द्वारा अपनी कलात्मक सुरुचि का परिचय देते थे। केशों को स्निग्ध करके कंघी से सँवारा जाता था तथा स्त्रियाँ चोटी (वेणी) रखती थीं, इसकी पुष्टि एक सुवासा युवती की चार वेणियों (कपर्दा) के उल्लेख[2] से होती है। इसके अतिरिक्त पुरुष भी जटाजूट (कपर्द) धारण करते थे। पूषन्[3] तथा वशिष्ठ पुत्रों के दाहिनी ओर के कपर्दों का उल्लेख हुआ है।[4] सिर के केश बढ़ाकर रखने के साथ ही दाढ़ी-मूँछ (श्मश्रु) को रखने[5] तथा नाई द्वारा इन्‍हें मुड़वाने की भी रीति प्रचलित थी।[6] कुछ विद्वानों[7] ने एक प्रकार की गोल केश-रचना को 'ओपश'[8] कहा है, जबकि कुछ विद्वानों[9] ने इसे सोहाग-टीका (शिरो-आभूषण) माना है।

आवास—भोजन और वस्त्र के बाद आवास (घर) मानव की तृतीय आवश्यक आवश्यकता के अन्तर्गत आता है, क्योंकि ग्रीष्म, शीत तथा वर्षा जैसे तीन प्रकार के ऋतु-प्रभावों (प्राकृतिक वातावरण) से आवास के भीतर रह कर भी वह संत्राण प्राप्त कर सकता है। इस तथ्य को ही दृष्टि मे रखते हुए ऋषि ने एक ऋचा[10] मे (शीत, ताप, वर्षा) तीनो से सुरक्षित रखने वाले (कल्याणकारी) आवास को प्रदान करने की इन्द्र से प्रार्थना की है। प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के मध्यवर्ती मैदानी भाग मे सामान्य शीत, ग्रीष्म तथा वर्षा युक्त जलवायु मानवों को गृह-रचना के लिये विशेष रूप से प्रोत्साहित करती रही होगी, जबकि उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भाग मे शीतप्रधान जलवायु होने के कारण लोग केवल शीत से बचाने वाले घर को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे।[11] निवास-गृह के इसी भौगोलिक महत्त्व को हृदयंगम करते हुए

---

१. ऋग्वेद, १/१६२/१६। २. वही, १०/११४/३।
३. ऋग्वेद, ६/५५/२—रथीतमं कपर्दिनमीशानं।
४. वही, ७/३३/१। ५. वही, २/११/१७।
६. वही, १०/१४२/४—शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्रभूम।
७. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २०१।
८. ऋग्वेद, १०/१५/८। ९. ऋग्वैदिक आर्य पृ० १४८।
१०. ऋग्वेद, ६/४६/९—इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
११. ऋग्वेद, ६/६७/२—छर्दिर्यन्द वरूथ्यं सुदानु।

ऐल्सवर्थ हंटिंगटन ने आश्रय अथवा मकान को भोजन और वस्त्र के पश्चात् तृतीय स्थान[1] तथा जीन ब्रूंश ने 'द्वितीय स्थान (द्वितीय नितान्त आवश्यकता) के अन्तर्गत रखता है।[2] इसके अतिरिक्त मानव भूगोल के (भौगोलिक) तथ्यों को तीन वर्गों एवं छः प्रकारों में विभाजित करते हुए श्री ब्रूंश महोदय ने मानवीय घरों और मार्गों को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत निर्धारित किया है।[3] मानव गृह-निर्माण से संबंधित भौगोलिक तथ्यों तथा उद्देश्यों[4] (आराम, आश्रय एवं निवास) हेतु स्थान, शत्रुओं तथा जंगली पशुओं से सुरक्षा, सामान्य जीवनोपयोगी वस्तुओं एवं सम्पत्ति एकत्रित करने का स्थान, आर्थिक स्रोत स्वरूप व्यवसायों, सांस्कृतिक, राजनैतिक (प्रशासनिक) भवनों आदि को दृष्टि में रखते हुए सप्तसैन्धव प्रदेश के मानवीय आवास के स्वरूप की यहाँ विवेचना की जा रही है।

ऋग्वेद[5] तथा परवर्ती वैदिक साहित्य[6] में 'गृह' शब्द आवास अथवा घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें आर्यों के संयुक्त परिवार के अतिरिक्त पालतू पशु[7] भी रहते थे। विशाल भवन को हर्म्य[8] कहा जाता था जिसमें अनेक प्रकोष्ठ (कमरे) भी होते थे।[9] इन घरों को सुरक्षा हेतु बन्द भी किया जा सकता था।[10]

छतों से बन्द (पटे ए) सुरक्षित आवासों को छर्दिस (ऋग्वेद ६/१५/३) अथवा छदिस् (ऋग्वेद १०/८५/१०) कहा गया है। घरों में द्वार भी होते थे, अतः गृहों को 'दुरोण' तथा 'दुर्यसु' की संज्ञा प्राप्त हुई है। वरुण के सहस्र द्वारों वाले भवन में प्रवेश करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है, (ऋग्वेद ७/८८/५) "सहस्र द्वार जगमा गृहंते" शर्म शब्द का ऋग्वेद में गृह के अर्थ में प्रयोग हुआ है, जो ३ पर्वों (तलों) वाले बने होते थे (ऋग्वेद, ८/४०/१२ त्रिधातुना शर्मणापातु।)

---

१. मानव भूगोल, डॉ० कौशिक, मेरठ, पृ० ४७४।

२. ह्यूमैन ज्योग्राफी, १९५२, पे० ३०।

३. "ह्वेरेवर देअर आर मेन वी फाइण्ड" सरपेम फेनोमेना आफ ए कन्क्रीट फर्स्ट कम्स वन आफ द मोस्ट औब्वियस''''द हाउस, शेल्टर, हैबीटेशन आर ह्यूमैन कन्स्ट्रक्शन।" जीन ब्रूंशेज, ह्यूमैन ज्योग्राफी १९५२, पेज ३०।

४. मानव भूगोल, डॉ० कौशिक, मेरठ, पेज ४७६।

५. ऋग्वेद, ३/५३/६, ४/४९/६, ८/१०/१, १०/१८/१२।

६. अथर्व०, ७/८३/१, १०/६/४, ऐत० ब्रा०, ८/२१।

७. ऋग्वेद, ७/५६/१३। ८. वही, ७/५५/६, १०/७३/१०, ८/५/२३।

९. वही, १/१६६/८, ७/१५/१४, ८/४०/१२।

१०. द वैदिक एज, पृ० ३९८। ऋग्वेद, ७/८५/६।

इसके अतिरिक्त दीवारों वाले "पुरों" (दुर्गों) का भी[1] ऋग्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है, जो प्रारंभ में मिट्टी[2] के तथा कालांतर मे पत्थर के (अश्ममयी)[3] अथवा लोहे के (आयसी)[4] बनाये जाने लगे थे। एक स्थल पर हजार खम्भों वाले विशाल भवन[5] का भी उल्लेख श्रुतविद्व आत्रेय द्वारा किया गया है।

ऋग्वेद ६/४६/६ की ऋचा (इन्द्र लिधातु लिरूयं स्वस्तिमत्। छर्दिर्यच्छ"।) मे लिधातु शब्द का अर्थ सायणाचार्य ने लिभूमि किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिककालीन घर "तीन आँगन" अथवा तीन मजिलो वाले होते थे। इस तथ्य को, कि वैदिक गृह कई तलो के होते थे, भारतीय वास्तुकला[6] के मर्मज्ञों द्वारा भी प्रतिपादित किया गया ह। राजाओ के विशाल गृहो (हर्म्यों) का भी उल्लेख ऋग्वेद (१०/७६/५-७) मे हुआ है।

पशुशाला को 'गोल' कहा जाता था तथा ऐसा प्रतीत होता है कि जिन परिवारो की गाये एक बाडे मे रहती थी, वे घर अथवा परिवार एकगोष्ठी कहलाते थे।

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी[7] आदि भारतीय वास्तुकलाविदो की अवधारणा है कि वैदिक भवनों के प्रमुख ३ अग थे :—

१. गृह द्वार—जिसके सामने का अजिर (आँगन) भी सम्मिलित था।

२. बैठक (सदस्)—सभा अथवा आस्थान मण्डप, जहाँ आगन्तुको का स्वागत किया जाता था।

३. पत्नी सदन—जिसे अन्तःपुर कहा जाता था।

इसके अतिरिक्त गार्हपत्य अग्नि-आधान हेतु भवन मे एक कक्ष (आच्छादित

---

१. ऋग्वेद, १/१६६/८, ७/१५/१४।

२. दि वैदिक एज, पृ० ३८८।

३. ऋग्वेद, २/१४/६···पुरो विभेदाश्मनेवपूर्वीः, ४/३०/२०···शतमश्मन्मयीना पुरा-मिन्द्रो···।

४. ऋग्वेद, २/२०/८—दस्यून्पुर आयसीर्नि तारित, ८/१००/८—अयमान् आयीम-स्त्पुरम्।

५. ऋग्वेद, ५/६२/६—सहस्रस्थूणं विभृथः सह द्वौ।

६. तारापद भट्टाचार्य—ए स्टडी आन वास्तुविद्या, पृ० १७-१८। कृष्णदत्त वाजपेयी —भारतीय वास्तुकला इतिहास १९७२, पृ० ३४, लखनऊ।

७. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, १९७२, लखनऊ, पृ० ३०।

स्थान) को हविर्धान अथवा अग्निशाला के रूप में भी रखा जाता था, जो कालान्तर में देवगृह के रूप में पूजा के लिये उपयोग में आता था। परवर्ती वैदिक[1] साहित्य में प्राप्त धनधानी शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि भवनों में कोषागार भी निर्मित होते थे।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय भवनों के निर्माण में प्रायः घास-फूस से लेकर मिट्टी, लकड़ी, बाँस तथा पत्थरों का प्रयोग होता था। मैदानी भागों के घरों की रचना मिट्टी[2] तथा लकड़ी[3] से होती थी, जिसमें घास-फूस के छप्पर, प्रतीत होता है, खम्भों[4] के सहारे रखे रहते थे। इसके अतिरिक्त लता-गुल्म से युक्त वेश्मों (कुटीरों) को भी बना लिया जाता था।[5] उत्तरी-पश्चिमी सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय भागों में गृत्समद जैसे ऋषियों एवं साधनहीन जनों का निवास पर्वतों की गुहाओं[6] में होता था तथा आर्येतर शम्बरादि दस्युजन पत्थरों के सुदृढ़ दुर्गों (पुरो)[7] को बना कर रहते थे। सामान्यतः वैदिक युग में और उसके बाद लकड़ी ही भवन-निर्माण कार्य के लिये प्रयुक्त होती थी, यद्यपि अन्य पदार्थों (मिट्टी, पत्थर आदि) का प्रयोग भी कुछ सीमा तक होता था।[8] प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के पशु-चारक लोग ग्रीष्म काल में हल्की लकड़ी के ऊँचे डाडों पर अपने अस्थायी निवास (पर्वतीय भागों में) बना लेते थे, जबकि शीतकाल मे पर्वतीय घाटियों अथवा मैदानो में फूस, छप्पर, मिट्टी के सामान्य गृहों में स्थानान्तरित हो जाते थे। इसका रूप हिमालय[9] के आन्तरिक भागों मे आज भी भौगोलिकों ने निरूपित किया है।

ऋग्वेद में भवन-निर्माण के स्वरूप का भी संकेतात्मक उल्लेख हुआ है। त्वष्टा

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक, १०/६७।
२. ऋग्वेद, ७/८८/१--मोषु वरुण मृन्मयं गृह राजन्नहं गमम्।
३. ऋग्वेद, ४/५ १—अनूनेन बृहता वक्षथेनोपस्तभायदुपमिन्नरोधः।
४. ऋग्वेद, १०/१४६/३—उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
५. वही,
६. ऋग्वेद, २/४/९—त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपरां अभिस्युः।
७. ऋग्वेद, २/१४/६—यत शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः। ४/३०/२०—शतमश्मन्मयीना पुरामिन्द्रो, ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ९७।
८. दि वैदिक एज, पृ० ४६२।
९. एस० डी० कौशिक, ह्यूमैन मिग्रेशन इन हिमालय (इंडियन साइंस काँग्रेस १९६१, सेक्शन ५, पेपर ८५।

तथा ऋभु को (गृह निर्माण करने वाला) कुशल कारीगर कहा गया है, जिन्होंने इन्द्र के लिये कई वस्तुओं का निर्माण किया था। वैदिक तक्ष शब्द से तक्षक बना, जो ऐसे व्यक्ति के लिये प्रयोग किया गया जो लकड़ी, पत्थर अथवा ईंटों को भवन-निर्माण हेतु मोटे या पतले आकार में काटता था। पर्सी ब्राउन[1] तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों[2] ने वैदिक गृहों की अनुमानित रूपरेखा वैदिक साहित्य के आधार पर प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार घरों की नीवें अत्यन्त दृढ़ (ध्रुव) बनाई जाती थीं, जिनमें बनी दीवारों के ऊपर पहले आड़े-तिरछे कोरे बाँस बिछा कर उनके ऊपर चीरे बाँसों को बाँध कर रखा जाता था। बाँसों की यह बिछावन आयाम कही जाती थी, जिसके ऊपर तृण तथा पत्तों की तहें बिछाई जाती थीं जिन्हें बर्हण कहते थे। इसके ऊपर भी बाँस को खपच्चियों को बाँध कर छत तैयार की जाती थी जिसे छरवी अथवा छर्दिस[3] (छदिस्) कहा गया है। इन छप्परनुमा छतों को सम्हालने के लिये नीचे थूनियाँ (बल्लियाँ अथवा खम्भे) लगायी जाती थी। (ऋग्वेद, ४/५/१) प्रारंभिक अवस्था के पर्णशाला अथवा कुटीरनुमा के ये वैदिक गृह कालान्तर में कलात्मक रूप ग्रहण करते हुए विशाल पक्के हर्म्यों अथवा लोहे जैसे[4] सुदृढ़ दुर्गों के रूप मे विकसित हो गये।

समीक्षा—संक्षेप मे कह सकते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश के विविध प्रकार के मानवीय आवास अपने मूल निवासियो के अनेक उद्देश्यों की पूर्ति करते थे। जहाँ कृषि-पशुपालन हेतु मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि से निर्मित ये विशाल भवन पशुओं को आश्रय देते थे, वही इनके असंख्य गृहोपकरणों के साथ ही अतुल सम्पत्ति का धारण करते हुये शीत, ग्रीष्म, वर्षा (बाढ जैसी प्राकृतिक शक्तियों) के अतिरिक्त आक्रमणकारी शक्तिशाली शत्रुओं से भी रक्षा करते थे। इस दृष्टि से उस समय शारदी[5] दुर्गों (पुरों) को विशेष महत्व प्राप्त था, क्योंकि शरद ऋतु में बाहरी आक्रमणों से बस्तियो की रक्षा हेतु इनका विशेष उपयोग होता था। इस ऋग्वैदिक-भवन-विन्यास का जो स्वरूप हमें ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्राप्त होता है, उसकी परम्परा प्राकृतिक जलवायु अथवा

---

१. पर्सी ब्राउन इंडियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिष्ट ऐण्ड हिन्दू, पेज ३-४।)
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २५५।
३. ऋग्वेद, ८/१८/२०, २१—त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छदिः, ६/४६/९।
४. ऋग्वेद, २/२०/८, ८/१००/८।
५. ऋग्वेद, १/१७४/२, ६/२०/१०—सप्त यत्पुरः शर्म शारदीः।

भौगोलिक वातावरण को दृष्टि में रखते हुये परवर्ती काल में भी निरन्तर यहाँ जारी रही। इसको अन्य विद्वानों ने भी समर्थित किया है।[1]

आजीविका

आजीविका मानवीय आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड है, जिसे यावज्जीवन व्यक्ति यथाशक्ति प्राकृतिक परिस्थितयों तथा भौतिक साधनों की सीमा में रह कर विविध आर्थिक क्रियाओं (कृषि, पशुपालन, आखेट, वाणिज्य, शिल्प आदि) के द्वारा उपार्जित करता है। आर्थिक भूगोलवेत्ताओं द्वारा भी भौगोलिक परिस्थितियों[2] (भूमि की प्रकृति, जलवायु) को दृष्टि में रखते हुये ही मानव आजीविका की आधारभूत आर्थिक प्रक्रियाओं (उत्पादक उद्योगों[3] अथवा पृथ्वी का आर्थिक शोषण[4] आदि) का अध्ययन किया गया है। इसी आधार पर यहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश की आजीविका के साधनों तथा उनके स्वरूप की विवेचना की जा रही है।

पशुपालन मानव-जीवन में पालतू पशुओं का भी विशेष महत्त्व आदि काल से रहा है, क्योंकि ये उसकी आजीविका के आद्य-साधन रहे हैं। पशुओं को प्रायः तीन लाभपूर्ण दृष्टियों के कारण पाला जाता है—

१. पौष्टिक आहार (दूध, घी, दही के अतिरिक्त मांस) प्राप्ति हेतु।
२. यातायात में (वाहन में सवारी हेतु, कृषि में हल) जोतने के लिये।
३. व्यापारिक (कच्चे माल—चमड़ा, हड्डी, ऊन आदि) की प्राप्ति हेतु।
४. सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से (मानव के सहायक रूप में)।

पशुपालन के उपर्युक्त उद्देश्यों में से हंटिंगटन तथा विलियम वाल्केन्वर्ग ने प्रथम तथा तृतीय को मूल उद्देश्यों के रूप मे समर्थित किया है।[5] सप्तसैन्धव प्रदेश

---

१. के० डी० बाजपेयी, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, १९७२, पृ० ३०।
२. जे० मेफरलेन, इकोनोमिक ज्योग्राफी, १९३७, पेज १।
३. सी० एफ० जोन्स ऐण्ड जी० सी० डार्केनवाल्ड, इकोनोमिक ज्याग्राफी, १९५९, पेज ७।
४. ए० एच० मेयर ऐण्ड जे० एच० स्ट्राइटेलमियर, ज्याग्राफी इन वर्ल्ड सोसाइटी, १९६०, पेज ४।
५. हंटिंगटन, विलियम, वाल्केनवर्ग-इकोनोमिक ऐण्ड सोशल ज्यॉग्राफी, १९३३, पेज ४०७।

के लोगों ने इन सभी उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर पशुपालन अत्यन्त तत्परतापूर्वक किया था तथा पशुधन प्राप्ति के साथ रक्षा करने की वह सदैव प्रार्थना किया करता था।[1]

गौ आदि पशुओं के विशाल समूह को व्रज[2] तथा उनके बाँधने (रखने) के स्थान को ऋग्वेद मे गोष्ठ[3] कहा गया है। ये व्रज तथा गोष्ठ गाय आदि पशुओं[4] से परिपूर्ण रहते थे, जिनकी मंगल-कामना आर्य सदैव किया करते थे।[5]

पौष्टिक आहार में दूध, दही तथा घी देने वाले पालतू पशुओं में गाय[6], भैंस[7], बकरी[8] (अजा), भेंड़[9] (अविका) आदि पशु प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनमें गाय सप्तसैन्धव प्रदेश का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पशु है, क्योंकि प्रत्येक कृषक गृहस्थ का गोशाला गायों से पूर्ण[10] रहता था तथा पर्वतीय एवं मैदानी भागों मे अधिकता से सहस्रों की संख्या में पाई जाती थीं। पर्वतीय प्रदेश में गायों के भू-गर्तों में गिरने की आशंका[11] सदैव बनी रहती थी, अतएव आर्य गायों के गर्त में गिर कर

---

१. ऋग्वेद, २/४०/४—तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षं रायस्पोषं वि ष्यतां नाभिमस्मे। ३/५४/१५—न आ भरा भूरि पश्वः। ४/३२/१८—सहस्रं ते शतावयं गवामा। ६/५८/२—अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो। ८/१८/६—पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः।

२. ऋग्वेद, ८/४१/६—व्रजे गावो न संयुजे। ४/३१/१३—व्रजां अस्तेव गोमतः। ८/२४/६, ५/३३/१०, व्रजं न गावः···, १०/२६/३।

३. ऋग्वेद, १/१९१/४—नि गावो गोष्ठे······। ६/२८/१—सीदन्तु गोष्ठे, ६/४१/१।

४. ऋग्वेद, ४/१६/६—व्रजं गोमन्तमुशिसो वि वव्रुः। ८/६/२५—अभिव्रजन तत्निषे०······।

५. ऋग्वेद, ६/५४/७—मा किर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं स शारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि। ८/१८/६—पशुमदितिर्नक्तम द्वयाः, १/४३/६।

६. ऋग्वेद, ८/४/२—(६० सहस्र गायें), ४/३२/१८ सहस्रं ते। १/१२६/३—शता वय गवामा व्यावधामसि।

७. ऋग्वेद, ८/३५/७, महिषेवाव गच्छथः। ८/३५/८, ९/८७/७।

८. ऋग्वेद, ८/७०/१५—अजां सूरिर्नधातवे।

९. ऋग्वेद, १/१२६/७ (गान्धारी अविका)।

१०. ऋग्वेद, ५/३३/१० सर्वं न गावः प्रयता०······। ८/२७/६, ४/१/१५।

११. वही, ४/३२/१८, ८/४/२।

विनष्ट न होने की सदैव प्रार्थना किया करते थे।[1] कभी-कभी पर्वतीय गुफाओं पयस्विनी गायें खो जाती थीं[2] । जिनकी खोज पर्वतों पर किये जाने का उल्लेख है ।[3] प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर के पर्वतीय भाग में प्रचुर वनस्पति (वनों) के पाये जाने के कारण गायों को चराने में पर्याप्त खाद्य-सामग्री सुलभ थी ।

सामान्यतया मैदानी भाग में भी ग्वाले गो-चारण में घास आदि तृणों के अति-रिक्त जौ आदि खाद्य पदार्थों[4] पर निर्भर रहकर एक स्थान पर गायों को पालते थे असंख्य गायों को झुण्ड के रूप में बाहर निकाल कर चारण हेतु गोपाल उन्हें शीघ्र से चलाता था, जिसमें उन्हें गायों की रक्षा का पर्याप्त ध्यान रहता था।[5] निम्न लिखित ऋचा के अन्तर्गत गोचारण का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है—

"गावो यवं प्रयुता आर्यो अक्षन्ता अपश्यं सह गोपाश्चरन्तीः ।
हवर्यो अभितः समायन्कियदासु स्वपतिश्छन्दयाते ।।"

(ऋग्वेद, १०/२७/

आधुनिक विश्व[6] की भाँति प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में भी प्र होने वाले दूध का ८५ प्रतिशत से अधिक भाग गायों द्वारा प्राप्त होता था जो प्र वर्ष सामान्य रूप से ३००० से ४००० पौण्ड से कम नहीं उपलब्ध होता रहा होग इसी दूध देने के विशेष गुण के कारण गाय को विशेष महत्त्वशालिनी माना गया[7] कि दान-दक्षिणा[8] अथवा सामान्य लेन-देन में मुद्रा के रूप में भी गाय का उपय होता था । उसके दूध से दधि तथा घृत बनाया जाता था, जिस घृत[9] को खाने अतिरिक्त यज्ञ की आहुति में प्रयुक्त किया जाता था । गाय की अनेक आर्थिक उ योगिताओं को दृष्टि में रखकर ही उसे अघ्न्या[10] (अवध्या) कहा गया है । यह

---

१. ऋग्वेद, ६/५४/७ ।
२. वही, ४/१/१३—अश्मव्रजा सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा······ ।
३. वही, ३/३९/५······नवग्वैरभित्वा सत्वभिर्गा अनु ग्मन् ।
४. वही, ३/४५/३······प्र सुगोपा यवसं धेनवो······ । ५/८/४, ५३/१ ७/१८/१०, ८/९२/१२ ।
५ वही, ६/४९/१२, यूथेव पशुरक्षिरस्तव ।
६. आर्थिक भूगोल एन० पी० पंवार, १९७२, पृ० २९ ।
७. ऋग्वेद, ८/१०१/१५—माता रुद्राणां······अमृतस्य नाभिः ।
८ वही, ६/४५/३२, ३३, २/४०/४ ।
९. वही, ३/२१/१, २, १०/१०६/८ । १०. वही, ८/६९/२, ९/१/९ ।

उसके दूध के अतिरिक्त मांस-भक्षण का उल्लेख[1] हुआ है, तथापि दूध देने वाली गायों की बलि देने के स्थान पर दूध न देने वाली[2] बांझ (वेहत) अथवा जिसका गर्भपात हो गया हो या जिसके मृत वत्स होता हो, गाय की बलि[3] का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु कालान्तर में पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[4] के अनुसार, ऋतु परिवर्तन (शीत ऋतु के स्थान पर ग्रीष्म) के होने से गोमांस को खाना अस्वास्थ्यकर समझ कर उसकी बलि भी बन्द कर दी गई।

मृत गायों की खाल को रंग कर उससे गृहोपयोगी अनेक वस्तुएं भी निर्मित की जाती थीं, जिनमें सुरा, मधु, घृत तथा सोम रस रखने के पात्र उल्लेखनीय हैं।[5] इस प्रकार गोपालन अथवा गोचारण सर्वाधिक आर्थिक समृद्धि प्रदान करता था। गाय के अतिरिक्त दूध-घी देने वाले पशुओं में भैंस[6] (महिषी) प्रमुख प्रतीत होती है, किन्तु महिष (भैंसे) को यातायात मे प्रयुक्त करने की अपेक्षा उसका मांस अधिक रुचिकर समझा जाता था[7], क्योंकि परवर्ती काव्य-इतिहास[8] मे भी महिष-मास के बाजार मे बेचे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

अजा[9] (बकरी) तथा अविका[10] (मेढ़ा या भेंड़) दूध और मांस के अतिरिक्त यज्ञ मे बलि[11] देने के उपयोग मे आती थी, साथ ही इनसे एक प्रकार की ऊन भी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होती थी। गांधार की भेड़ अच्छे ऊन के लिये विख्यात थी।[12] मेष-लोम[13] (ऊर्णा) से प्रतीत होता है कि प्रायः कम्बल तथा सोम छानने के लिए छन्ने निर्मित किये जाते थे। मेष (मेढ़) बलि के अतिरिक्त छोटी गाड़ियो मे वाहक के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे।[14] सप्तसैन्धव प्रदेश में गाय के पश्चात् आर्थिक दृष्टि से दूसरा उपयोगी पशु अजा अथवा अविका को मानना चाहिये,

---

१. ऋग्वेद, ६/३९,१, २/७/५, ६/१६/४९।   २. वही, २/७,५, ६/५८/२।
३. वही, २/७/५, ऐतरेय ब्राह्मण १/३/४।
४. ऋग्वेद, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ९५।
५. ऋग्वेद, १/२९/९, ९/६६/२९।
६. वही, ८/३५/७, ९, १०/१०६/२।   ७. वही, ५/२९/८, ६/१७/११।
८. महाभारत, वन पर्व, अध्याय २०५।
९. ऋग्वेद, ६/५८/२।   १०. वही, १/१२६/७।
११. वही, १/९१/१४।
१२. वही, १/१२६/७, ४/३७/४।   १३. वही, १/४३/६।
१४. वही, ९/२६/८, १/१३८/४।

क्योंकि इसकी विविध दृष्टियों से (पौष्टिक आहार में दूध और मांस की प्राप्ति तथा व्यापारिक अथवा आर्थिक रूप में ऊन (ऊनी वस्त्र) की प्राप्ति से) उपयोगिता वैदिक काल में सर्वविदित प्रतीत होती है।

यातायात अथवा आवागमन में प्रयुक्त होने वाले पशुओं में बैल[1] या सांड, अश्व[2], ऊँट[3], गधा[4] आदि उल्लेखनीय हैं। बैल (सांड) हल चलाने के अतिरिक्त गाड़ी खींचने में प्रयुक्त होते थे, किन्तु कभी-कभी इनका उपयोग यौद्धिक या सामान्य-रथों को खींचने में भी किया जाता था।[5] इसी प्रकार घोड़ों तथा गधों का भी प्रयोग सामान्य सवारी (घुड़दौड़, बोझा ढोने) के अतिरिक्त युद्ध आदि के रथ खींचने में होता था।[6] घोड़ों के द्वारा दस्युओं से द्वन्द्व युद्ध[7] का उल्लेख किया गया है।

प्रतीत होता है कि सिन्धु नदी के दोनों तटों पर घोड़े (सैन्धव) अधिक होते थे, जिनके शरीर पर लम्बे बाल[8] अधिक पाये जाते थे। इनको बाहर चराने की अपेक्षा एक स्थान पर बाँध कर पशु-स्वामी घास आदि लाद कर लाते थे और उन्हें खिला कर पालते थे।[9] इनके स्वामी इनसे इतना अधिक प्रेम करते थे कि स्थान से खोल कर दूर करना नहीं पसन्द करते थे।[10] विशेष गति वाले अश्व[11] (देव) गहने के रूप में[12] समादृत होते थे। सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग में अश्वों की भाँति गधे भी बोझा ढोने एवं रथ खींचने[13] के अतिरिक्त दान में प्रयुक्त[14] किये जाते थे।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण के (तटीय) मरुस्थल में ऊँट अधिक उपयोगी और

१ ऋग्वेद, ८,४६/३०। २. वही, १/२६,१। १६२/२१, ४/३२/१७।
३. वही, ८/६/४८, १/१३८/२, ८/५/३७... शतमुष्ट्रानां ददत्सहस्रः।
४. वही, ८/५६/३, शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्।
५. वही, ४/३२/२४, १०/१०२/६।
६. वही, ४/२/८, ८/७४/७०, १/७६/२ (गधों का रथ खींचना)।
७. वही, ६/६७,५४।
८. वही, ३/४१/१—अर्वाञ्चस्त्वा सुखे रथे-वहतामिन्द्रके शिना......।
६. ऋग्वेद, ८/४५/१६—पुष्टावन्तो यथा पशुम्......।
१०. वही, ३/४१/८—मा रे अस्मिद्वि मुमुचो हरिप्रिय।
११. वही, ४/११/४। १२. ऋग्वेद, ३/२७/१४।
१३. वही, ८/७४/७०, १/७६/२।
१४. वही, ८, बालखिल्य सूक्त, ८।

परिस्थितियों के अनुकूल और बोझा ढोने[1] में दान देने[2] तथा युद्ध में प्रयुक्त होने वाला पशु था।[3]

सुरक्षात्मकता की दृष्टि से सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव के सर्वाधिक सहायक के रूप में श्वान् (कुत्ता)[4] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, जो गृहों के अतिरिक्त पालतू पशुओं की रक्षा करने, सुअरों के आखेट करने[5] के साथ ही बोझा ढोने[6] में भी प्रयुक्त होता था।

समीक्षा—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के विविध भू-भागों में प्राकृतिक वनस्पति, जलवायु तथा जलाशयों के स्वरूप के कारण विभिन्न प्रकार के मानवोपयोगी पशुओं का पालन किया जाता था, जिनका मानव-आजीविका के निर्वाह में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सहस्रों गायों[7], अश्वों[8], सैकड़ों ऊँटों[9], भेड़-बकरियों के पशु-धन से गोपति आर्यों की आर्थिक समृद्धि का इससे हमें पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। कृषि पशुपालन प्रधान आजीविका के कारण आर्य सदैव चारागाह (गोचर) भूमि को सींचने का प्रार्थना किया करते थे।[10] इसके अतिरिक्त उनके बैल आदि प्यासे पशु जलाशयों पर आश्रित रहते थे।[11] इस आजीविका पर गोचारण, कृषि, ऊनी वस्त्र उद्योग, चर्मोद्योग आदि के भी आधारित होने से इसे प्रधान आजीविका मानना चाहिये।

कृषि—भोजन मानव की महत्त्वपूर्ण (आवश्यक) आवश्यकताएँ होने के कारण पशु-पालन के पश्चात् कृषि मानवीय आजीविका का प्रमुख साधन रहा है, जो सामान्यतया मिट्टी की संरचना, स्थलीय जलाशयों की अवस्थिति के साथ ही उस क्षेत्र के वातावरण के कारकों (Environmental factors) पर आधारित[12] रहता है।

---

१. ऋग्वेद, ८/६/४८। २. ऋग्वेद, ८/४६/२२। ५/३७।
३. वही, ८/१३८/२। ४. वही, ७/५५/२।
५. वही, ७/५५/३–५, १०/८६/४। ६. वही, ८/४६/२८, ४६/२।
७. ऋग्वेद, १०/१०२/५—तेन सूर्भर्वं शतवत्सहस्रं गवां ४/३२/१८, सहस्रं ते शतावय बवामा।
८. ऋग्वेद, ४/३२/१७—सहस्रं व्यतीनां युक्तानामिन्द्रं।
९. ऋग्वेद, ८/५/३७। १०. ऋग्वेद, ७/६५/४—प्रणीत मुद्‌नो दिव्यस्य चारोः।
११. ऋग्वेद, १०/४/५—अस्नातो वृषभो न प्रवेति।
१२. मानव-भूगोल, डॉ० कौशिक, मेरठ, पृ० ३५२, ३८८।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुये सप्तसैन्धव प्रदेश की कृषि की भौगोलिक विवेचना की जा रही है।

विधि एवं स्वरूप—प्राचीन कृषि यद्यपि प्रकृति पर पूर्णतया आश्रित थी, जिसमें बीजों को खेतों में बिखेर दिया जाता था और वर्षा होने पर स्वयमेव कृषि-उत्पादन हो जाया करता था[1], तथा सप्तसैन्धव प्रदेश की कृषि प्राचीनतम होते हुये भी[2] अत्यन्त विकसित रूप की प्रतीत होती है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय मैदानी भाग में समस्त भूमि प्रायः क्षेत्र और अरण्य में विभक्त थी।[3] अरण्य प्राकृतिक रूप से हो जाते थे, जबकि क्षेत्र[4] (खेत) कृषि-कार्य के लिए मानव-निर्मित होते थे जिन्हें सतर्कतापूर्वक बाँस के लट्ठों से नाप कर[5] पृथक्-पृथक् रूप दिया जाता था। ये कृषि योग्य क्षेत्र (खेत) उर्वरा भूमि युक्त होते थे[6] तथा उर्वरा पृथ्वी पाने की प्रत्येक कृषक अभिलाषा रखता था तथा अन्य उपजाऊ खेत को 'आर्तन' कहा जाता था। उर्वरा शक्ति क्षीण होने पर खाद (शकन या करीष[7]) का भी उपयोग होता था तथा कृषि करने के लिये हल[8] (लांगल या सीर) में बैल जोते जाते थे।[9] परवर्ती वैदिक साहित्य[10] में हल में खेत जोतने हेतु प्रायः ६, ८ और कभी-कभी १२ बैल तक प्रयुक्त होते थे।

हल से जुते हुए खेतों में सामान्यतः यव आदि अन्न-बीजों को बोया जाता

१. आर्थिक भूगोल, पंवार, खुर्जा, १९७२, पृ० १०१।

२. ऋग्वेद, १/२३/१५, १७६/२, १/११७/२१। अथर्व०, २/४/५, ८/२/१९, १०/२४, २०/६/१२, तैत्ति० सं०, ७/१/११/१, मैत्रा० स०, १/२/२, ३/६/८, वाज० सं०, ४/१०, ९/२२, १४/९९, शतपथ० ब्रा०, ७/२/२/७, ८/६/२/२, तैत्ति० ब्रा०, ३/१/२/५ में कृषि का उल्लेख हुआ है।

३. ऋग्वेद, ६/६१/४।   ४. ऋग्वेद, १०/३३/६, ३/३१/१५, ५/६२/७।

५. ऋग्वेद, १/११०/५, क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेनं एकं पात्रमृभवोजेहमानम्। (खेत विभिन्न रूपों में विभाजित)।

६. ऋग्वेद, १/१२७/६—सहि शर्धो······तुविष्वगिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्ट निरार्तनास्विष्टनिः, ४/४१/६—तोके हिते तनय उर्वरासु·······६/२५/४, ८/५१/६।

७. ऋग्वेद, ८/२२/६, ८/६/४८।

८. ऋग्वेद, ८/२२/६, ८/६/४८।   ९. वही, १०/१०१/२—३,४।

१०. अथर्व,० ६/९१/११, काठक संहिता, १५/२—तुलनीय ऋग्वेद, ८/६/४८, १०/१०१/४।

था।[1] प्रायः संवत्सर (वर्ष) में ऋतु-अनुसार एक ही फसल (धान्य[2]) एक खेत में उत्पन्न किया जाता था।

ऋग्वेदकालीन कृषि को सिंचाई के आधार पर दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है (१) असिंचित कृषि तथा (२) सिंचित कृषि।

(१) असिंचित कृषि यद्यपि मानवीय संसाधनों (तालाब, नहरों, कूप आदि) से सिंचित नहीं हो पाती थी, तथापि इसे वृष्टि जल से सिंचित होने की पूर्ण अपेक्षा रहती थी।[3] यही कारण है ऋषि ने कृषि का वर्णन करते हुए वृष्टि की भी मंगल-कामना की है—

"शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं, शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः, शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥"
(ऋग्वेद ४/५७/८)

(२) सिंचित कृषि मानवीय विविध साधनों द्वारा होती थी, जिसका अनेक स्थलों में उल्लेख हुआ है[4]। सिंचाई के नैसर्गिक साधनों के अतिरिक्त इन कृत्रिम साधनों में 'खनित्रिम'[5] (खोद कर तैयार किये जलाशय—गहरे तालाब अथवा कुएँ) तथा कुल्याएँ[6] (छोटी-बड़ी नहरें) आदि उल्लेखनीय हैं। नैसर्गिक रूप से सुलभ जलाशय—स्रोता अथवा चश्मे (उत्स[7]), नदी अथवा नहरों (कुल्याओं) के अतिरिक्त कृत्रिम जलाशय (कुएं अथवा केवट[8]) मुख कर गड्ढे का रूप ग्रहण कर लेते थे, जिसमें गो-अश्व आदि पशुओं के गिर कर नष्ट होने की भी सदैव आशंका बनी रहती थी, तथापि सप्तसैन्धव प्रदेश के कृषक-सिंचाई के महत्त्व से पूर्ण अवगत प्रतीत होते हैं, क्योंकि एक स्थल पर कृत्रिम रीति से आधुनिक कुओं में चमड़े[9] के रस्सा से पुर (चरसे) द्वारा सिंचाई किये जाने का उल्लेख हुआ है।

---

१. ऋग्वेद, १/११७/२१—यवं वृकेणाश्विना वपन्तमेषं दुहन्ता मानुषाय दस्रा।
२. ऋग्वेद, १/१६४/४४—त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
३. ऋग्वेद, – ४/५७/५ शुनासीराविमां ······चक्रथुःपयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्।
वही, ५/८४/१, ५/८५/३, ८/२१/१८, १०/४०/६, १०/५०/३।
४. वही, १०/१०१/५, ८/४६/६, १०/१०१/६।
५. वही, ७/४६/२। ६. ऋग्वेद, १०/४३/७, ५/८३/८।
७. वही, २/१६/७। ८. वही, ६/५४/७ माकीं सं शारि केवटे। (केवट=गर्त) ऋग्वेद, भाग २, बरेली, पृ० ६३८।
९. वही, १०/१०१/६—इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्।

दोनों और तटयुक्त जलधाराओं[1] (कुल्याओं से भी सिंचाई उस समय प्रचलित थी, आजकल भी पर्वतीय एवं मैदानी क्षेत्रों में इन नहरों की नालियों को कूल अथवा कूल कहा जाता है। प्रतीत होता है, मनुष्यों और पशुओं के लिए पृथक्-पृथक् कुएँ निर्मित होते थे, जिन पर अश्मचक्र के माध्यम से कोश पात्रों में चर्म रज्जु से पानी खींचा जाता था।

कृषि यंत्रों—में हल, फाल, जुए, हँसिए आदि का एक ऋचा के अन्तर्गत उल्लेख हुआ है जिससे प्राचीन कृषि-प्रक्रिया (जोतने, बोने तथा काटने) पर पूरा प्रकाश पड़ता है—

'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते यो नौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात ।।'

(ऋग्वेद—१०/१०१/३)।

हल-फाल को कृषि-कर्मवाला एवं अन्नोत्पादक कहा गया है[2], उससे हरा (सीरा) को जोड़ा जाता है तथा जुए को पृथक् किया जाता है[4]। खेतों की जुताई बुआई में अश्वों या बैलों को भोजन देकर तृप्त करने, खेत के सींचने, कटे धान्य को ग्रहण करने के अतिरिक्त वाहन द्वारा धान्य को ढोने का भी स्पष्ट निर्देश ऋचा द्वारा दिया गया है—

'प्रणीतास्वान्हितं जयाथ स्वस्ति वाहं रथमित् कृणुध्वं।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिंचता नृपाणम् ।।'

(ऋग्वेद, १०/१०१/७)।

खेतों की सिंचाई करने वाले पुरुष धान्य की रक्षा हेतु हल्ला करके पक्षियों को भगाया करते थे[5]। फसल के पक जाने पर उसे हँसिये[6] (दाल अथवा सृणि या लवित्र) से काट कर[7] गट्ठों (पर्षों) में बाँध लेते थे तथा खलिहान[8] में धान्य (खल) लाकर

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४५।
२. ऋग्वेद, १०/१०५/१७।
३. वही, १०/११७/७—कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति····।
४. वही, १०/१०१/४—सीरा युंजन्तिकवयो युगा वितत्वतेपृथक्।
५. वही, १०/६८/१—उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतोअभ्रियस्येव घोषा।
६. वही, ८/७८/१०। ७. ऋग्वेद, १०/१०१/३······।
८. वही, १०/४८/७—खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि।

उसे मींडन (मर्दन) किया जाता था, तत्पश्चात् उसे तितउ[1] (सूर्प का सूप) की सहायता से भूसे से पृथक् किया जाता था। भूसे से धान्य को स्वच्छ निकालने अथवा बोने वाले व्यक्तियों को 'धान्याकृत्'[2] कहा गया है।

कृषि से प्राप्त अन्न को 'ऊर्दर'[3] नाम के परिमाणसूचक पात्र में रख कर नापा जाता था तथा उसे अन्नकोष्ठ (स्थिति) में भर दिया जाता था।[4] ऐसी विस्तृत कृषि-प्रक्रियाओं का स्पष्ट वर्णन परवर्ती वैदिक-साहित्य[5] में भी प्राप्त होता है।

धान्य एवं फसलें—ऋग्वेद के आधार पर विदित होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश मे एक संवत्सर[6] (वर्ष) में प्रधान ऋतु के अनुसार सामान्यतया एक ही फसल (धान्य) बोयी जाती थी, जिसमे 'यव'[7] प्रमुख धान्य प्रतीत होता है।

निस्तुष[8] यव का 'धाना'[9] नाम से भी अन्न का दाने के रूप में उल्लेख हुआ है, जो प्रायः भूँज कर खाया जाता था। परवर्ती संहिताओं[10] के आधार पर कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में यव के अतिरिक्त कालान्तर में व्रीहि (चावल), उपवाक् (जौ की एक जाति), मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), तिल, गोधूम[11] (गेहूँ), नीवार, श्यामाक आदि अनेक धान्य उत्पन्न किये जाने लगे थे, अतएव स्वाभाविक है, ग्रीष्म-वर्षा एवं शीत ऋतुओं को दृष्टि में रख कर वर्ष में एक से अधिक[12] (दो या तीन) फसलें बोई जाती थीं।

---

१. ऋग्वेद, १०/७१/२—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, अथर्व०, १२/३/१९।
२. ऋग्वेद, १०/९४/१३—वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पंचन्ति।
३. ऋग्वेद, २/१४/११।   ४. ऋग्वेद, १०/६८/३।
५. शतपथ ब्राह्मण, १/६/१/३—कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः।
६. ऋग्वेद, १/१६४/४४—संवत्सरे वपत एक एषाम्।
७. वही, १/४२/८—अभि सू यवसं···११७/२१, यवं वृकेणाश्विनवपन्तमेष। ऋग्वेद, २/१४/११, ५/८/४, १०/१३१/२, ८/७८/१०—पूर्धि यवस्य काशिना।
८. वाचस्पत्यम् (Vol. V), सं० तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौ० वाराणसी, १९७०, पृ० ३८७७।
९. ऋग्वेद, ४/२४/७—य इन्द्राय ''पचात्पक्तीसत भुंजातिधाना।
१०. वाजसनेयि संहिता, १८/१२, २१/२९, १९/२२।
११. यजु० मैत्रा० सं०, १/२/८।
१२. तैत्ति० संहिता, ५/१/७/३ (संवत्सर में दो बार सस्य काटने का उल्लेख)

कृषि में क्षेत्रपति (कृषक) प्राकृतिक वातावरण का पूर्ण ध्यान रखता था तथा प्राकृतिक शक्तियों (मित्र[1], पर्जन्य[2] आदि) की प्रेरणा से ही कृषि (जोतने-बोने तथा फसल काटने आदि) कार्यों में प्रवृत्त होता था। परवर्ती वैदिक[3] संहिताओं में ऋतु के अनुसार धान्यों के बोने और पकने का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार यव (जौ) ग्रीष्म में पकता था तथा शीत के पूर्व इसे बोया जाता था। इसी प्रकार व्रीहि (धान) शरद् ऋतु में पकता था तथा वर्षा के प्रारम्भ में बोया जाता था। माष और तिल ग्रीष्म की वर्षा में बोकर जाड़े में पक कर तैयार होता था। सामान्यतः जाड़े की फसल चैत्र मास तक पक जाती थी।[4]

समीक्षा – ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य के उल्लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि कृषि सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव की प्रमुख आजीविका के साथ ही आर्थिक साधन के रूप में प्रचलित थी, यही कारण है, ऋग्वैदिक ऋषि ने सप्तसैन्धव प्रदेशीय जनों को जूये जैसे व्यसनों को छोड़कर कृषि करने का तथा उससे प्राप्त धन में रमण करने का सत्परामर्श दिया[5] है। कृषि में अनेक हानिकारी जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों[6] तथा प्राकृतिक[7] ईतियों (अतिवृष्टि और अनावृष्टि) के द्वारा फसल को क्षति पहुँचाने पर भी इससे कम (आर्थिक) समृद्धि नहीं थी कि कृषकों के अन्नागार सदैव यव[8] आदि अन्न से पूर्ण रहा करते थे।

उद्यान, कृषि एवं फलोद्योग—सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्तरी-पर्वतीय भूमि के अतिरिक्त मध्यवर्ती मैदानी भाग में प्राकृतिक घने वनों के अतिरिक्त मानवीय प्रयास से लगाये गये उपवनों की भी कमी नहीं थी, जिनमें अनेक औषधियाँ[9], पुष्पित लताएँ[10],

१. ऋग्वेद, ३/५९/१—मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे....।
२. ऋग्वेद, ८/२१/१८—पर्जन्य इव ततनिद्धि वृष्ट्या।
३. तैत्तिरीय संहिता, ७/२/१०/२।
४. कौषीतकि ब्राह्मण, १९/३।
५. ऋग्वेद, १०/३४/१३ - अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।
६. वही, १०/६८/१ उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येवघोषा।
७. अथर्व०, ६/५०/१४२—(प्राकृतिक विपत्तियों से बचाव हेतु अभिचारीय मंत्र)।
८. ऋग्वेद, २/१४/११—तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं, २/३८/५।
९. वही २/१/१, ३/१/१३, ५/८, ३४/१०।
१०. वही, २/१३/७—यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च ...२/१/१४—त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः।

शुष्क-मधुर फल[1] वाले पेड़-पौधे अधिकांश उत्पन्न होते थे। मैक्डानेल एवं कीथ[2] उद्यानादि में फलों के वृक्ष लगाये जाने के सम्बन्ध में संदिग्ध दृष्टिकोण रखते हैं कि फलदार वृक्ष वैदिक काल में लगाये जाते थे अथवा वनों में स्वत: उग आते थे, किन्तु ऋग्वेद के कतिपय[3] सन्दर्भों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश में उद्यान, कृषि अप्रचलित नहीं थी, क्योंकि पके फलों को अंकुशाकार टेढ़े बाँस से झाड़ कर गिराये जाने के अतिरिक्त पके फल वाले वृक्षों का भी उल्लेख हुआ है।[4]

प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक पर्वतीय उपवनों में सोमलता[5] प्रचुर मात्रा मे पाई जाती थी, जबकि मैदानी भाग के उपवनों में प्राय: फल-फूल[6] वाली लताओं के अतिरिक्त पिप्पल[7], उदुम्बर[8], कर्कन्धु[9], कुवल, बदर आदि फलों के वृक्ष पाये जाते थे।

उद्यान में होने वाली उपर्युक्त फल-फूल वाली लताओं फलदार पेड़-पौधों के अतिरिक्त प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के कृषकजन खेतों में भी कर्कटी (ककड़ी) अथवा खरबूजे (उर्वारुक[10]) जैसे फल भी उत्पन्न करते थे जो पकने पर डंठल से स्वयमेव मुक्त हो जाते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में कृषि के साथ ही अनुकूल भूमि एवं जलवायु के उद्यान, कृषि एवं फलोद्योग भी (भोजन) आजीविका के रूप में प्रचलित था।

आखेट (शिकार)—आखेट आहारमूलक आजीविका के रूप में आदि काल से ही मानव द्वारा ग्रहण की गयी है जो उतनी उत्पादक (आर्थिक) क्रिया नहीं है, जितनी

---

१. ऋग्वेद, २/१३/६—यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ।
२. वेदिक इण्डेक्स, भाग १, अनुवादक, रामकुमार राय, पृ० २०२।
३. ऋग्वेद, ३/४५/४—वृक्षं पक्वं फलपङ्कीव धूनुहीन्द्र···, १/८/८ पक्वा शाखा।
४ ऋग्वेद, ४/२०/५—वृक्षो न पक्व: सृण्वो न जेता।
५. ऋग्वेद, २/१३/१—ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि····।
६. ऋग्वेद, १/६७/५—वि यो वीरुत्सु रोधन् महित्वोतप्रजा उत प्रसून्वन्त:।
७. ऋग्वेद, १/१६४/२२, २०—तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ता····।
८. अथर्व०, १८/३१/१—तैत्ति० सं०, २/१/१, शत० ब्रा०, ३/२/१/३३।
९. ऋग्वेद, १/११२/६—यजु० काठक सं० १२/१०, मैत्रा० सं०, ३/११/२ (बदरिक या बदर के फल के लिये प्रयुक्त)।
१०. ऋग्वेद, ७/६६/१२, ६/१४/२—अथर्व०, १४/१/१७, मैत्रा० सं०, १/१०/४। तैत्ति० सं०, १/८/६/२, वाजस० सं० ३/६०।

पोषक, जबकि सी० एफ० जोन्स आदि भूगोलवेत्ताओं द्वारा इसे उत्पादक आर्थिक क्रियाओं[1] के अन्तर्गत माना गया है। आखेट क्रिया प्राकृतिक उपज[2] (वनस्पति), के साथ ही जन-संख्या के वितरण[3] एवं घनत्व आदि विभिन्न तथ्यों पर आधारित रहती है। इस दृष्टि से सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव की आखेटमूलक आजीविका की विवेचना की जा रही है।

पशु-पालन एवं कृषि के अतिरिक्त आखेट को भी अपनी आजीविका के रूप में आर्यों ने अपनाया था, क्योंकि इसके द्वारा उनके पालतू पशुओं के साथ ही कृषि की जंगली जीवों से रक्षा होती थी, इसके अतिरिक्त उनकी आहार को समस्या का भी समुचित समाधान हो जाता था। सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय एवं मैदानी भागों के विशाल घने वनों में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु[4] (सिंह, मृग, वृक, बाघ, बाराह, शृगाल, महिष, गोह आदि) पाये जाते थे, जिनका अस्त्र-शस्त्रों, जाल आदि से सज्जित होकर शिकारी (स्त्री-पुरुष) दूर जाकर शिकार किया करते थे।

व्याध पुरुष (बहेलिया) आखेट में मुक्षिजा[5] (निधा) पाश[6] का प्रयोग करने के कारण 'निधापति' अथवा 'पाशिन्'[7] कहा जाता था। बहेलियों को 'श्वघ्न' तथा उनकी शिकारी स्त्रियों को 'श्वघ्नी'[8] कहा गया है, जो वन्य पशु-पक्षियों को नष्ट किया करती थीं।

सामान्यतः तीर-कमान[9] लिए शिकार को वन में निकले व्याधों को देख कर डर के कारण मृग[10] इधर-उधर दौड़ने लगते थे। प्रतीत होता है, इस आखेट कार्य

---

१. इकोनोमिक ज्यॉग्राफी, सी० एफ० जोन्स ऐण्ड जी० सी० डार्केनवाल्ड, १९५९, पेज ७।

२. मानव भूगोल, एस० डी० कौशिक, मेरठ, पृ० ४४८।

३. पापुलेशन स्टडीज वी० एन०, १७, १९५३, पेज ६३, १७७ (डिटरमिनेन्ट्स आफ पापुलेशन)।

४. ऋग्वेद, १०/२८/४—लोपाशः सिंहः प्रत्यंचमत्साः क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात्। १०/२८/९, १०, ११, ३९/१३, २/३४/९।

५. ऋग्वेद, १/१२५/२। ६ ऋग्वेद, ३/४५/१।

७. ऋग्वेद, ३/४५/१—मा त्वा केचिन्नियमन्विं न पाशिनो धन्वेव तां इहि।

८. ऋग्वेद, ४/२०/३, १/९२/१०—श्वघ्नीव आरयन्त्यायुः।

९. ऋग्वेद, २/४२/२...मा त्वा तिदविषुमान्तीरो अस्ता।

१०. वही, ४/५८/६, एते....मृगा इव क्षिपणोरीषमाणः।

में कुत्ते बड़े सहायक होते थे तथा सूअर का शिकार[1] कुत्तों की सहायता से सरलता से हो जाता था। इसी प्रकार उड़ते हुए पक्षियों को शिकारी पाश द्वारा[1] फाँस लेते थे। अन्य वन्य जीवों को पकड़ते समय ऋश्य (हरिण) को अवटे (ऋश्यदा) द्वारा, गौर मृग को रस्सी (ज्या) के पाश द्वारा[3], सिंह को छिप कर चिल्लाहट से अथवा ललकारकर[4] अथवा घेरकर[5] तथा वन्य मृगों (गजों) को पालतू धेनुओं की, अथवा जाल की सहायता[6] से पकड़ा जाता था। एक स्थल पर शिकार से पकड़े सिंह का पिंजरे में बन्द होने का उल्लेख हुआ है[7]। इसी प्रकार जाल के द्वारा घेरे गये मृग को शिकारी द्वारा ढूँढ़ने का भी वर्णन[8] प्राप्त होता है।

जंगली जीवों (पशुओं) के अतिरिक्त शिकारी श्येन (बाज[9]), मुर्गे[10] आदि पक्षियों का भी आखेट करते थे, जिनका प्रायः कच्चा[11] अथवा अधपका मांस खाया जाता था।

मत्स्योद्योग—शिकार के ही अन्तर्गत जलीय जन्तुओं में मत्स्य (मछलियों) को भी जाल[12] द्वारा पकड़ा जाता था, जो अल्प जल की अपेक्षा गहरे जल में अधिक प्राप्त की जाती थीं।[13] प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश की सिन्धु, परुष्णी, वितस्ता, सरस्वती आदि बड़ी नदियों की निचली घाटी के अतिरिक्त दक्षिणी, पश्चिमी तथा

---

१. ऋग्वेद, १०/८६/४, ८/१०१/१३, ७/५५/४।
२. वही, ३/४५/१—मा त्वा केचिन्नियमन्वि न पाशिनोऽतिधन्वेव।
३. वही, १०/५१/६—गौरो न क्षेप्नोरविजेज्यायाः।
४. वही, ५/७४/४—यदी गृभीत तातये सिंहमिव द्रुहस्पदे।
५. वही, ५/१५/३—यात्सिहं न क्रुद्धमभितः परिष्ठु।
६. वही, ८/२/६, गोभिः—मृगं न वा मृगयन्ते। अभित्सरन्ति धेनुभिः।
पं० वि०ना० रेउ इस मन्त्र मे मृग का अर्थ हाथी ग्रहण कर उसे पालतू हथिनियों की सहायता से पकड़े जाने की धारणा व्यक्त करते हैं, जो समीचीन प्रतीत होती है। ऋग्वेद पर एक ऐति० दृष्टि, पृ० १८५।
७. ऋग्वेद, १०/२८/१० शिषायाबद्धः परिपदं न सिंहः। निरुद्धश्चिन्महिषः ···।
८ वही, ८/२/६ –गोभिर्यदी मन्ये अस्मन्मृगं न वा मृगयन्ते।
९. वही, २/४२/२—मात्वा श्येन उद्वधीत्मा सुपर्णो···।
१०. वही, ४/२०/३। ११. १०/१६/१०, ८।
१२. वही, ७/१८/६ पुरोधा इत्तुर्वशो···मत्स्यासो निशिता अपीव।
१३. वही, १०/६८/८ --मत्स्यं दीनं उदनि क्षियन्तं···भतरद्विमृचो।

पूर्वी समुद्र के तटीय छिछले (उथले) समुद्री भागों में अधिक पायी जाती थीं, जहाँ धीवर अथवा निषाद जैसे लोग जाल फैला कर मछलियाँ पकड़ा करते थे।

समीक्षा—इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक मानव अपनी अर्थ और आहारमूलक आजीविका के लिए आखेट किया करता था, इससे मांसाहार के अतिरिक्त पहनने को चमड़े के वस्त्र तथा हाथी दाँत आदि अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, जिनका दैनिक जीवन में बड़ा उपयोग होता था।

चर्मोद्योग—भोजन के पश्चात् दूसरी शारीरिक आवश्यकता (वस्त्र) की पूर्त्ति हेतु प्रारम्भ में मानव ने आखेट और पशुपालन से प्राप्त मांसाहार के साथ ही[1] पशु-चर्म को वस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया था किन्तु कालान्तर में अनेक सांस्कृतिक (वस्तुओं) आवश्यकताओं के कारण चर्मोद्योग विकसित होकर चर्मकारों की आजीविका का प्रमुख साधन बन गया। सप्तसैन्धव प्रदेश में भी चर्मोद्योग सामान्यतः चर्मकारों के अर्थोपार्जन और आजीविका का मुख्य आधार था। मैकडानेल एवं कीथ की ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों के आधार पर अवधारणा है कि ऋग्वैदिक चर्मकारों को चर्म-परिष्कार करने की कला का सम्यक् ज्ञान था[2]।

ऋग्वेद[3] तथा अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य[4] में चर्मन् (चमड़े) का प्रायः सामान्य 'चर्म' के अर्थ में अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। सप्तसैन्धव प्रदेशीय चर्मकारों को चमड़े की सिझाने[5] (मुलायम या म्लान करने की) कला पूर्णतया ज्ञात थी, इसके लिए उन्हें 'चर्मम्न' अभिधान से व्यवहृत किया गया है।[6] एक स्थल पर चमड़े के भिगोने[7] का भी उल्लेख किया गया है। चर्मकार चमड़े की विविध जीवनोपयोगी वस्तुएँ निर्मित करते थे, जिनमें धनुष की प्रत्यंचा (ज्या) पानी[8] खींचने, रथ में बांधने के हेतु चर्म-रज्जु, अश्व या बैल आदि को हांकने का कोड़ा, जल निकालने के पात्र (डोल या

---

१. आर्थिक भूगोल, एन० पी० पंवार, खुर्जा, १९७२, पृ० २४।
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २८८, २५७।
३. ऋग्वेद, १/८५/५, ११०/८, १६१/७, ३/६०/२, ४/१३/४ आदि।
४. अथर्ववेद, ५/८/१३, १०/९/२, ११/१/९। तैत्ति०सं०, ३/१, ७/१, ६/१/९/२।
५. ऋग्वेद, ८/५५/३, शतं चर्माणि म्लातानि।
६. वही, ८/५/३८, वाजसनेयि सं०, ३०/१५। तैत्ति० ब्रा०, ३/४/१३/१।
७. ऋग्वेद, १/८५/५।
८. ऋग्वेद, १०/१०१/६, इस्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्।

ग्रस्त), पक्षियों को उड़ाने के ढोफन, चमड़े के वस्त्र[1], जूते, दस्ताने, चमड़े के थैले[2] आदि उल्लेखनीय हैं। निरन्तर दैनिक आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ही पशुओं के वध करने के कारण चमड़ा[3] की वृद्धि होने से चर्मोद्योग ऋग्वैदिक काल में भी चरमोत्कर्ष को प्राप्त था[4] तथा यह चर्मण्य-कला चर्मकारों की अर्थोपार्जना एवं आजीविका का आधार थी।

वस्त्रोद्योग—जलवायु के प्रभावों से शारीरिक संत्राण हेतु वस्त्र मानव की द्वितीय आवश्यक आवश्यकता के अन्तर्गत आते हैं। अतएव भौगोलिकों के मतानुसार विभिन्न स्थानों के प्राकृतिक[5] वातावरण एवं उपलब्ध अन्य सामिग्री के रेशानुसार वस्त्रों का स्वरूप निर्धारित होता है। विद्वानो का यह विचार समीचीन प्रतीत होता है कि भारतीय वस्त्रोद्योग विश्व में प्राचीनतम है। रुई का मूल उद्गमक्षेत्र भारत में ही होने के कारण यहाँ ५००० वर्ष पूर्व सूती वस्त्र[6] निर्मित होते थे। इसी आधार पर ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के वस्त्रोद्योग की भौगोलिक तथ्यों के आधार पर विवेचना की जा रही है।

सामान्यतया सप्तसैन्धव प्रदेश के दो क्षेत्रों मे निम्न प्रकार के वस्त्र आजीविका (अर्थोपार्जन) हेतु अनुकूल भौगोलिक दशाओं के आधार पर निर्मित किये जाते थे—

(१) **ऊनी वस्त्रोद्योग**—सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भाग में सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी (गान्धार क्षेत्र में अत्यन्त शीत) पड़ने और उत्तम ऊन की गान्धारी भेड़ें[7] अधिक पाई जाने के कारण ऊनी वस्त्र अधिक निर्मित होते थे। इसके अतिरिक्त परुष्णी[8] (रावी) क्षेत्र भी भेड़ की ऊन की उपज में प्रसिद्ध होने

---

१. ऋग्वेद, १/१६६/१०।
२. वही, १०/१०६/१०—(चमड़े के थैले), १/२८/९, निधेहि गोरधि त्वचि।
३. ऋग्वेद, ५/८५/१—वि यो जघानशमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याम्।
४. वही, ६/८/३—वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो।
५. ह्यूमैन ज्योग्राफी, जे० ब्रूशेज, १९५७, पे० ३२, मानव भूगोल, डॉ० एस० डी० कौशिक, मेरठ, पृ० ४५९।
६. पापुलेशन ऐण्ड वर्ल्ड प्रोडक्शन, डब्लू० एस० ऐण्ड ई० एस० Woytinskys, १९५३, पेज ५९७।
७. ऋग्वेद, १/१२६/७— रोमशा गान्धारीणामिवाविका।
८. वही, ४/२२/२, ५/५२/९, १०/२६/६,—वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।

से कम्बल आदि ऊनी वस्त्रों के बनाने में विख्यात था। इन वस्त्रों का उपयोग शीत ऋतु में किया जाता था।[1]

(२) सूती वस्त्रोद्योग—प्रतीत होता है, पौधों की छाल के रेशों अथवा कपास आदि अन्य तन्तुओं से सूती वस्त्र भी सप्तसैन्धव प्रदेश के अक्रोड़ मध्यवर्ती मैदानी भाग में हथकरघों द्वारा निर्मित होते थे, जिन्हें सामान्यतया 'वस्त्र'[२] अथवा 'वासस्' रूप में व्यवहृत किया गया है तथा इनको स्त्री और पुरुष 'तन्तुवाय'[३] (जुलाहे) बुना करते थे जो इतना उत्कृष्ट एवं अधिक बनता था कि श्री रेगोजिन के मतानुसार यह असीरिया और बेबिलोनियाँ को निर्यात किया-जाता था, जहाँ (बेबिलोनियाँ में) सिन्धु प्रदेश की मलमल को 'सिन्धु'[४] कहते थे।

वस्त्रोद्योग का विकास सप्तसैन्धव प्रदेश में विविध अनुकूल परिस्थितियों (ऊन एवं सूत की प्रचुर मात्रा में उपलब्धि, कुशल कारीगर (वाय) तथा उपभोक्ताओं आदि के सुलभ होने के कारण ही दृष्टिगत होता है। पुरुषों (तन्तुवायों) के अतिरिक्त सामान्यतया स्त्रियाँ वस्त्र बुनने का कार्य अधिक कुशलतापूर्वक किया करती थीं, जिनका अनेक स्थलों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख हुआ है।[५] वस्त्र बुनने के कार्य में तन्तुवायों को इतनी सिद्धहस्तता प्राप्त थी कि बुनने का तन्तु (धागा) कभी नहीं टूटता था[६] तथा वस्त्र बुनकर बढ़ता हुआ लम्बा होता जाता था।[७]

वस्त्र बुनने के विविध उपकरणों एवं प्रक्रियाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिसमें वाय के वस्त्र करघा[८] (वेमा), ढरकी (तसर)[९], ताना (ओतु), बाना (तन्तु) आदि महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी सहायता से वस्त्र तैयार किये जाते थे।[१०] बिना ताना-बाना का सम्यक् ज्ञान किये हुए वस्त्र बुना जाना संभव नहीं था क्योंकि इसकी दुरूहता का भी

१. ऋग्वेद, १/३४/१, १/१३५/६···रोमाण्यव्यया (ऊनी तन्तु)।
२. वही, २/१४/३...सोमैरोर्णुत ऊर्न वस्त्रैः।
३. वही, १०/२६/६।
४. वही, रेगोजिन्स वैदिक इंडिया, पेज ३०६।
५. वही, २/३/६, २/३८/४, ५/४७/६।
६. वही, २/८५/५—मा तन्तुश्छेदि वयतो········।
७. वही, १०/१०६/१—वि तन्वाथे धियो वस्त्रायसेव। १०/१३०/२।
८. वही, ६/७१/६।
९. वही, १०/१३०/२—इमे·· ···सामानि चक्रुंस्तसराणि ओतवे।
१०. वही, १०/१३०/२ ··· इमे मयूखा उपसेदरू सदः सामानिचक्रुस्तसराण्योतवे।

एक स्थल पर उल्लेख किया गया है।[1] इस उद्योग की इतना [illegible] अर्थ प्रतत था कि प्रतीत होता है स्त्रियों द्वारा बुने हुए वस्त्रों पर भी बाद में सुई [illegible]-बूटे[2] का कलात्मक कार्य किया जाता था, कतिपय[3] सन्दर्भों के आधार पर इस प्रदिम को पं० वि० ना० रेऊ[4], भार्गव[5] आदि विद्वानों ने भी प्रतिपादित किया है।

समीक्षा—ऋग्वेद के अनेक [illegible] को दृष्टि में रखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में वस्त्रोद्योग को अर्थकरी आजीविका के रूप में अत्यन्त व्यापकता प्राप्त थी, क्योंकि अन्य यज्ञादि क्रियाओं[6] में भी बुनने की क्रिया को आरोपित कर इसकी समृद्धिपूर्ण लोकप्रियता का प्रकारान्तर से ऋषियों ने संकेत किया है। रेगोजिन की यह अवधारणा भी तथ्ययुक्त कही जा सकती है कि यहाँ से वस्त्र बुन कर बेबिलोनिया, असीरिया आदि समीपस्थ देशों को भेजा जाता था।

वास्तु-शिल्प, काष्ठ एवं धातु उद्योग—मानव भोजन और वस्त्र के पश्चात् अपनी तृतीय आवश्यक आवश्यकता[7] (आवास) की पूर्ति जलवायु के प्रभावों (आतप, वर्षा, शीत, तूफान आदि) से बचने के लिए आदि काल से ही करता आया है। सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव का एक वर्ग अर्थकरी आजीविका के रूप में गृह-निर्माण (वास्तुशिल्प) काष्ठकार्य के साथ धातु उद्योग को नियमित करता था।

वास्तु उद्योग—ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि उस समय के त्वष्ट्रा एवं ऋभु जैसे विख्यात वास्तुकला मर्मज्ञ (गृह-निर्माणकर्ता) उत्कृष्ट भवनों का निर्माण करते थे, जो सामान्यतः मिट्टी[8], पक्की ईंटों, पत्थरों[9] एवं लकड़ी

---

१. ऋग्वेद, ६/९/२—नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं, न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
   ६/९/३—स इत्तन्तु स विजानात्योतुं········।
२. ऋक्०—२/३/६, ८/३१/८, ७/३४/११ में पेशस् तथा ऋक्० ५/५५/६, १०/१/४, १०/९२/४ में प्रयुक्त 'हिरण्मयअत्क' शब्द से जरी के वस्त्रों का आभास मिलता है।
३. ऋग्वेद, २/३२/४—सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया······।
४. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० १९६।
५. Iudia in the Vedic Age, P. L. Bhargawa, 1971. P. 253.
६. ऋग्वेद, १०/१३०/१, ७/३३/९, ७/३३/१२।
७. मानव भूगोल, डा० एस० डी० कौशिक, मेरठ, पृ०·४७४।
८. ऋग्वेद, ७/८९/१।
९. वही, २/१४/६, २०/५, ४/३०/२०।

के निर्मित किये जाते थे, जिन्हें स्वरूपानुसार वेश्म[1], हर्म्य[2], पुर[3] (दुर्ग) आदि विभिन्न नामों से व्यक्त किया जाता था।

गृह निर्माण (वास्तु एवं शिल्प) उद्योग इतना विकसित था कि कुशल कारीगर (राज) सहस्र द्वारों[4], सहस्र[5] खम्भों[6] तथा तीन तलों वाले[6] विशाल भवनों को सरलतापूर्वक बना लेते थे और धनार्जन कर सुखपूर्वक अपनी आजीविका का निर्वाह करते थे।

काष्ठोद्योग—सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय एवं मैदानी भाग में सघन वनों मे अधिक काष्ठ प्राप्त होने के कारण आर्यों का एक वर्ग, जिसे 'तक्षा'[7] अथवा तष्टा[8] (बढ़ई) कहा गया है, काष्ठोद्योग की अर्थकरी आजीविका अपनाये था। लकड़ी की खोज में लोग (काष्ठहारे) कुल्हाड़े लिये वन में घूमा करते थे तथा वस्तु-निर्माण के अतिरिक्त यज्ञादि में जलाने (ईंधन) के लिए वन से लकड़ी काट कर लाते थे, ऐसे लकड़ी की खोज में थके लकड़हारों का एक स्थल पर उल्लेख किया गया है।[9] लोहे के परशु अथवा कुठार से वृक्षों की लकड़ी काटी जाती थी।[10] काष्ठहारे जलाने योग्य लकड़ी बेच देते थे तथा अन्य अच्छी लकड़ी को अभीष्ट स्वरूप देकर तष्टा (बढ़ई) विभिन्न वस्तुएँ कुशलतापूर्वक निर्मित करते थे, जिनमें यज्ञ के यूप, यूप के लिए चषाल, यज्ञीय काष्ठ पात्र, रथ आदि उल्लेखनीय हैं।[11]

रथकार—कारीगर बड़ी कुशलता से रथ बनाने का नियमित कार्य[12] किया करते थे, जिसमें तीन पहियों के तीन छतों वाले रथ[13] उल्लेखनीय हैं। रथ-निर्माण

---

१. ऋग्वेद, १०/१४६/३। २. वही, ७/५५/६, १०/७३/१०, ८/५/२३।
३. वही, १/१६६/८, ७/१५/४।
४. वही, ७/८८/५—सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।
५. वही, ५/६२/६—सहस्रस्थूणं बिभृथः सहद्वौ।
६. वही, ८/४०/१२—त्रिधातुना शर्मणा पातु।
७. वही, ५/७३/१०—या तक्षाम रथां, ६/११२/१, तक्षारिष्टं रुतं, १०/३६/१४।
८. वही, १/६१/४—रथं न तष्टेव तत्सिनाय। १/१३०/४—तष्टेव वृक्ष ...., ७/३२/१०, १०/६३/१२।
९. वही, ४/१२/२।
१०. ऋक्०, ७/८३/१७, १०/५५/६, ७/१०४/२१, ६/३३/३।
११. वही, १/१६२/६, १/६१/४, १/११८/२, ३/५३/२०, ४/१६/७।
१२. ऋग्वेद, १/६१/४, १३०/६, ५/७३/१०, १०/६३/१२।
१३. ऋग्वेद, १/११८/२।

करने वाले अनुभवी कारीगर मानव समाज के सभी वर्गों के होते थे, एक स्थल पर तीन ऋभुओं[1] द्वारा रथ बनाने का वर्णन हुआ है। सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग के वनों में सामान्यतः सरलता से उपलब्ध पलाश, शाल्मली, खदिर, शिंशपा (शीशम) आदि वृक्षों की कड़ी लकड़ी से अत्यन्त सुन्दर एवं सुदृढ़ रथों को निर्मित किया जाता था।[2] इन सन्दर्भों के आधार पर प्रतीत होता है, ऋग्वेदकालीन यातायात के साधनों में रथ को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

रथ के अतिरिक्त हस्तकला में काष्ठ की विविध गृहोपयोगी एवं यज्ञोपयोगी वस्तुएँ भी निर्मित की जाती थीं। सुन्दर रीति से हस्त कलाकारों द्वारा विविध प्रकार के चमस बनाने का उल्लेख किया गया है।[3] सोने और बैठने तथा आने-जाने के लिए वह्य एवं पर्यंक भी बनाये जाते थे।[4] बढ़ई (काष्ठकार) के औजारों में कुठार (परशु) आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि काष्ठकला तथा काष्ठोद्योग का सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव की आजीविका के रूप में कम योगदान नहीं था। इसके द्वारा वनस्पति का सदुपयोग होने के साथ ही कलात्मक मानव-श्रम का भी सुनियोजित उपयोग होता था, जिससे गमनागमन के अतिरिक्त अन्य मानवीय आवश्यकताओं की सम्पूर्ति होती थी।

धातु-उद्योग—सामान्य भू-पृष्ठ के समान सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पर्वतीय एवं मध्य के मैदानी भागों की आग्नेय-शिलाओं[5] में खनिज पदार्थों (लोहा, ताँबा, सोना आदि) को प्राप्त कर धातु-उद्योग को आजीविका का आधार बनाया गया था। एक स्थल पर महान् सप्त[6] धातुओं के धन को शत्रुओं को रगड़ने वाला एवं प्राणियों के पोषण करने में समर्थ बताया गया है। इन सात धातुओं में ऋग्वेद में उल्लेख के आधार पर प्रतीत होता है, तीन धातुओं—(लोहा = कृष्णायस्, ताँबा = अयस्[7] तथा सोना =

१. ऋग्वेद, १०/३९/१४, ४/१६/२०।
२. वही, १०/८३/१२, ३/५३/९, ३/५३/२०।
३. वही, ४/३५/२, ४/३५/३, ४/३५/९। (यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः।
४, ऋग्वेद, ७/५५/८—वह्य (डोली या पालकी स्त्रियों के आने-जाने के लिये)।
५. भौतिक भूगोल के तत्त्व, डॉ० मामोरिया, १९७२, आगरा, पृ० १५३, १५९। आर्थिक भूगोल, एन्० पी० पंवार, १९७२, पृ० १५०।
६. ऋग्वेद, ७/५/६।
७. वही, ६/३/५, ८/९६/३, ८/२९/३, ५/७५/५, २/२०/८, वाजसनेयि सं० १७/१३।

हिरण्य[1]) का प्रयोग एवं प्रचलन अधिक होने के कारण कार्मार[2] धातुकार (कारीगर) लोगों द्वारा इनका कार्य अधिक किया जाता था।

लौह उद्योग—प्राय: श्यामायस (लोहे) के कार्य से संबंधित आजीविका ग्रहण करने वाले लोगों को 'लौहकार' की संज्ञा प्राप्त थी, जिनका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से ऋग्वेद के अनेक स्थलों में उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार ज्ञात होता है कि वे लोहे के कार्यकार (कर्मार या लोहार) लोहे की धातु से बने शस्त्रों अथवा अस्त्रों या अन्य औजार आदि (वस्तुओं) को बनाने के लिये भट्टी को जालते थे[3], जिसकी अग्नि पर लोहे के कुठार आदि को धौंकनी से तपाया जाता था।[4] लौहाकारों द्वारा इस उद्योग में अनेक उपयोगी वस्तुओं[5] (घोड़ों की नालों), कृषि-औजारों (हल का लौह-फाल)[6] तथा शिकार एवं युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्रों[7] (परशु, बाण आदि) को बनाया जाता था तथा सुचारुरूपेण अपनी आजीविका का निर्वाह किया जाता था।

स्वर्ण उद्योग– इस बहुमूल्य धातु को पृथ्वी-तल के अतिरिक्त हिरण्यमयी[8] (सिन्धु) आदि नदियों की रेत से प्राप्त किया जाता था तथा हिरण्यकार[9] (सुनार)[10] स्वर्ण से आभूषण आदि बनाता था। इसके लिये वह सोने को शुद्ध करने के लिए अग्नि में तपा कर पहले पानी बनाता था, [11]तदुपरान्त उसे रुक्म रूप में[12] (गढ़ कर) अभीष्ट (हिरण्य) आभूषण[13] निर्मित करता था। तपे शुद्ध स्वर्ण के चमकते[14] वर्ण के अतिरिक्त

---

१. ऋग्वेद, २/२७/९, ५/३८/२, ६/६६/२।
२. ऋक्० १०/७२/२, अथर्व० ३/५/६।
३. वही, ५/९/५, १०/७२/२।
४. वही, ३/५३/२२, ५/६१/४, १०/७२/२। ५. वही, १/१६३/९।
६. वही, १०/११७/७। ७. वही, ३/५३/२२, ८/२९/३, ६/७५/१५।
८. वही, १०/७५/७-८।
९. वही, ८/४७/१५ निष्कं वा घा कृणवते स्रजं···।
१०. हिरण्यकार का सुनार के अर्थ में प्रयोग यजुर्वेद में हुआ है।
११. ऋग्वेद, ६/३/४ द्रविर्न द्रावयति।
१२. वही, १/११७/५ शुभेरुक्मं न दर्शतं···।
१३. वही, १/१६३/९ हिरण्यशृङ्गोऽयो······। १/१२२/१४—हिरण्यकर्णं....। ५/१९/३, (निष्क०)
१४. वही, २/२७/९, ५/३८/२।

उसके बहुमूल्य[1] और दानादि में उपयोगी होने का उल्लेख हुआ है।[2] प्रतीत होता है कि स्वर्णमुद्राओं के रूप में भी ढाला जाता था, क्योंकि एक स्थल पर सुवर्ण (मुद्राओं) से भरे दस कलशों का वर्णन प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त ऋग्वैदिक वाणिज्य एवं व्यापार में भी सुवर्ण का प्रचलन होने लगा था। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की मानवीय आजीविका में धातु उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

व्यापार—वाणिज्य एवं व्यापार द्वारा भी वस्तुओं के विनिमय (आदान-प्रदान) से आर्थिक उत्पादन[4] होता है। सप्तसैन्धव प्रदेश में इस उत्पादक उद्योग का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद (४/२४/१०) के अतिरिक्त परवर्ती संहिताओं[5] में क्रयार्थक 'क्री' धातु का सामान्य प्रयोग हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय व्यापारी साधारणतया वस्तु-विनियय हेतु व्यापार करते थे।[6] इन्द्र का उपासना हेतु १० गायों[7] को क्रयमूल्य अपर्याप्त बताने के अतिरिक्त एक सौ और एक सहस्र अथवा असंख्य गायों का क्रयमूल्य अपर्याप्त[8] बताया गया है। इससे प्रतीत होता है, ऋग्वेद-कालीन वाणिज्य में वस्तुओं का मूल्यभाव वादविवाद के पश्चात् ही निर्धारित होता था[9], किन्तु मूल्य निर्धारित हो जाने पर फिर वह कम-अधिक (न्यूनाधिक) नहीं किया जा सकता था। सामान्यतः वणिक् वस्तु की लागत की अपेक्षा फल (लाभ) अधिक चाहते[10] थे तथा अधिक धन की प्राप्त्याशा में वस्तु या धन उधार भी दे देते

१. ऋग्वेद, रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं···।
२. वही, २/३५/१०।   ३. वही, ४/३२/१९ दशते कलशानां हिरण्यानाम्।
४. इकोनोमिक ज्याग्राफी, सी० एफ० जोन्स, ऐण्ड जो० सी० डारकेनवाल्ड, १९५९, पेज ७।
५. तैत्ति० सं०, ३/१/२/१, ६/१/३/३, वाज० सं०, ८/५५, १९/१३, शत०ब्रा०, ३/३/२/७, अथर्व० ३/१५/२ (क्रय्), तैत्ति० सं०, ६/१/१०, ३/७।
६. ऋग्वेद, ८/१/५।
७. वही, ४/२४/१०—क इमं दशभिः ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
८. वही, ८/१/५—महे···परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय ना युताय वज्रि वो न शताय शतामघ।
९. वही, ४/२४/९—अभिक्रदम्—भूयसावस्नमचरत्कनीयोऽविक्रीतो।
१०. वही, ५/४५/६—यथा वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्।

थे।[1] एक ऋचा में कक्षीवान् को १०० निष्क[2] तथा अरुण[3] द्वारा अग्नि को १०,००० निष्क प्राप्त होने का वर्णन किया गया है, इससे यह (निष्क) कण्ठ आभूषण के अतिरिक्त सामान्य स्वर्णमुद्रा प्रतीत होती है।

सप्तसैन्धव प्रदेश का व्यापार निम्नलिखित दो रूपों में प्रवर्तित था, जो यातायात के साधनों पर आधारित था, क्योंकि बिना आवागमन के साधनों के आर्थिक क्रियायें सम्पन्न नहीं हो सकती हैं।

१. **स्थलीय व्यापार**—समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश के आन्तरिक भू-भागों के अनेक मार्गों से स्थलीय व्यापार किया जाता था, जिसमें एक स्थान से दूसरे स्थान को माल को ढोने के लिए अश्वों[4], शकटों[5], रथों[6] आदि का प्रयोग होता था। व्यापारिक-वाहनों में प्रायः अश्व, बैल आदि पशु जोते जाते थे। स्वतंत्र रूप से भी अश्वों, ऊँटों और कुत्तों आदि का बोझा ढोने में उपयोग किया जाता था।[7] स्थलीय व्यापार में यह आवश्यक समझा गया है कि व्यापारिक मार्ग टेढ़े-मेढ़े और बाधायुक्त[8] न होकर[9] सीधे, सरल, सुगम[10] और निष्कण्टक हों[11] ताकि सरलतापूर्वक यातायात सम्पन्न हो सके। इन्द्र के रथ की कल्पना से प्रतीत होता है, अधिक माल लदे हुए रथ में २० से लेकर ७० तथा १०० तक गतिवान् अश्वों को असामान्यतः जोड़कर मार्ग तय किया जाता था।[12] बैलगाड़ी (शकट) मे सहस्रों स्वर्ण-मुद्राओं को रख कर जाने[13] तथा मार्ग में बाधकों द्वारा फाँसने का उल्लेख किया गया है।[14]

---

१. ऋग्वेद, ३/५३/१४—आ नो भर।
२. वही, ५/२७/२, १/१२६/२।
३. वही, ५/२७/१—सं वृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रै वै···।
४. वही, ३/२/३—न वाज संनिष्यन्नुप ब्रुवे।
५. वही, १०/१४६/३—उतो अरण्यानि सायं शकटीरिव सर्जति।
६. वही, ३/३०/११, २/४/६।
७. वही, ८/४६/२८। ८. वही, ६/६९/१
९. वही, १/१८३/५, १८९/१।
१०. वही, ३/५४/२१—सदा सुगाः···अस्तुपंथाः।
११. वही, २/२७/६—सुगो हि वो···पन्थाः।
१२. वही, २/१८/५, २/१८/६—अशीत्या न वत्या याह्यर्वाङ्। शतेन हरिभिरुह्यमानः।
१३. वही, १०/५९/१०, ५/२७/१।
१४. वही, ३/४५/१।

मैदानी भागों में आवागमन के सरल, सीधे, निर्बाध मार्ग होने, बोझा ढोने वाले पशुओं एवं वाहनों के सुलभ होने के कारण स्थलीय व्यापार ऋग्वैदिक काल में उत्कर्ष को प्राप्त किये था, जिसमें विनिमय योग्य माल (विविध वस्तुओं) को (रथ पर) रख कर रथ[1] वाला अपने लक्ष्य (गन्तव्य स्थल) पर पहुँच जाता था।

२. **जलीय व्यापार**—सप्तसैन्धव प्रदेश में विशाल सात नदियों के अतिरिक्त आस-पास समुद्र होने के कारण जलीय यातायात अत्यन्त सुविधापूर्वक होता था तथा व्यापारिक माल आन्तरिक भागों से बाहरी क्षेत्रों तक सरलता से नौपरिवहन द्वारा पहुँचाया जाता था। नौका (नाव) तथा उससे पार होने का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है।[2] आन्तरिक भू-भागों की विशाल नदियों के अतिरिक्त आर्य व्यापारी समुद्री मार्गों से भी व्यापार करते थे।[3] इसके लिए विशाल व्यापारिक नौकाओं का उपयोग किया जाता था जो सौ पतवारों[4] (डाँड़ों) से खेई (चलायी) जाती थीं। अनुकूल तेज वायु के चलने पर इन नावों में गतिवृद्धि हेतु पंखों अथवा कपड़े का पाल[5] प्रयुक्त होता था। समुद्री नौका-मार्गों[6] के अतिरिक्त अश्विनों का पतवारों से चलने वाले समुद्र के समान विशाल जलयान का भी उल्लेख हुआ है।[7] कभी-कभी तूफानी हवाओं के चलने से समुद्री जल-तल पर उठी उत्ताल तरंगों के कारण समुद्र में चलने वाली नौकाएँ काँपती[8] हुई सी गत्यवरोध की अवस्था को प्राप्त हो जाती थीं[9] तथा चलती हुई नाव की पतवारों की तीव्र गर्जन-ध्वनि उत्पन्न हो जाती थीं।[10]

जलीय व्यापार के अन्तर्गत सप्तसैन्धव प्रदेश के उपजाऊ मैदानी भाग से उत्पन्न खाद्यान्न को, प्रतीत होता है, बड़ी नदियों के जलमार्ग से नौकाओं द्वारा विभिन्न भागों

---

१. ऋग्वेद, ५/६१/१७—परावह·······रथी रिव, ऋग्वेद, द्वितीय खण्ड, बरेली, पृ० ७८७।
२. वही, १/१८२/५, १८६/६, २/३९/४, २/४२/१, ३/३२/१४, ५/२५/९, ५/५९/२, ५/५४/४, ८/१६/११, ७/१८/५, ९/९५/२।
३. वही, ४/५५/६, ७/८८/३।
४. वही, १/११६/५—शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्।
५. वही, १/१४३/५।
६. वही, १/२५/७—वेद नावः समुद्रियः।
७. वही, १/४६/८, १/४८/३। ८. वही, ५/५४/४।
९ वही, ८/७५/९—ऊर्मिर्न नावमा वधीत्।
१०. वही, २/४२/१ कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेवनावम्।

में भेजा जाता था। जब भुज्यु के सन्दर्भ में अप्रस्तुत रूप[1] में एक स्थल पर चार[2] नौकाओं के अन्न-वहन करने का उल्लेख हुआ है। नदी की अपेक्षा समुद्रयात्रा[3] से व्यापारिक दृष्टिकोण की विशेष पूर्ति होकर धन प्राप्त किया जाता था[4] तथा समुद्रयात्रा के पूर्व समुद्र-स्तवन भी व्यापारीगण करते थे। समुद्र में प्राप्त होने वाली वस्तुओं (मोती आदि) से आर्य-व्यापारी सुपरिचित थे।[5]

स्थलीय व्यापार की अपेक्षा जलीय व्यापार अधिक सुगम और कम श्रम एवं व्ययसाध्य होता है। यही कारण है उस समय समुद्रयात्रा के साथ समुद्री व्यापार निषिद्ध नहीं था। वसिष्ठ[6] ने वरुण के साथ अपनी समुद्रयात्रा का वर्णन किया है। विल्सन[7] महोदय भी आर्यों को समुद्र द्वारा व्यापार करने वाला स्वीकार करते हैं, किन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन की अवधारणा है कि आर्य व्यापार (पण्य)और व्यापारियों (पणियों) को घृणा की दृष्टि से देखते थे, किन्तु उन्हें यह पता था कि व्यापार के लिए समुद्र में भी नावें चलती हैं।[8] सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी तथा दक्षिणी समुद्रतटीय भागों में पणि नामक आर्यद्वेषी व्यापारीजनों की बस्तियाँ थीं, जो अत्यन्त कंजूस[9], कठोर तथा आर्यों की गायें चुराने वाले थे।[10] दूर देशों तक नावों से समुद्री व्यापार करने वाले इन पणियों के इन घृणित कृत्यों के प्रति आर्य सामान्यत: विद्वेष रखते थे[11], किन्तु अपनी आदर्श व्यापारिक पद्धति के प्रति वे उदासीन नहीं थे।

क्योंकि उन्होंने अपने वाणिज्य कर्म के प्रशस्त[12] होने की एक स्थल पर मनोकामना व्यक्त[13] की है।

---

१. ऋग्वेद, द्वितीय खण्ड, बरेली, १९६७, पृ० १३१३।
२. ऋग्वेद, ८/७४/१४, मां चत्वार आशवः।
३. ऋग्वेद, द्वितीय खण्ड, पृ० ६८० (बरेली सं०)।
४. ऋग्वेद, ४/५५/६—समुद्रं न संचरणे संनिष्यवो......नद्यो अपव्रन्।
५. वही, १/४७/६। ६. वही, ७/८८/३।
७. ऋग्वेद का अनुवाद, विल्सन, द्वितीय सं०, भूमिका, पेज xLi.
८. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १२। ९. ऋग्वेद, १/३३/३।
१०. ऋग्वेद, ६/१७/१,३,५, ६/४४/२२, ४/१/१८।
११. ऋग्वेद, १०/१०८/१०, ११ दूरमित पणयो वरीय।
१२. ऋग्वेद, १०/१५६/३। (आग्ने स्थूरं रयिं भरपृथुं गोमन्त मश्विनम्। अङ्-विधरवं वर्तयापणिम्।) १०/१५६/३।
१३. ऋग्वेद, चतुर्थ खण्ड, बरेली, पृ० १८७१।

वाणिज्यिक वस्तुएँ—व्यापारिक पदार्थों में खाद्यान्न के अतिरिक्त ऊनी एवं सूती परिधान (दूर्श, पवस्त)[1] बकरे या भेड़ों की छाल (अजिन), घोड़े, गायें, निष्क आदि उल्लेखनीय हैं, जिनको सप्तसैन्धव प्रदेश के आन्तरिक भागों के अतिरिक्त बाहर भी निर्यात किया जाता था। इस सन्दर्भ में रेगोजिन का यह मत तथ्ययुक्त प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के सिन्धु-क्षेत्र का बना मलमल का कपड़ा वैदिक काल में बेबिलोनियाँ और असीरिया तक निर्यात (Export) किया जाता था तथा बेबिलोनियाँ में यहाँ की निर्मित मलमल 'सिन्धु' कही जाती थी।[2] बाहर से स्वर्ण अथवा स्वर्णनिर्मित आभूषण, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त की जाती थीं।

यद्यपि वाणिज्यिक विनिमय हेतु किसी मुद्रा जैसे प्रामाणिक प्रतिमान के प्रचलित होने के विशेष प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं हैं, तथापि गौ के अतिरिक्त 'सुवर्ण-निष्क' अथवा हिरण्य (शतमान) को मुद्रा के स्थान पर प्रामाणिक विनिमय का साधन स्वीकार किया जा सकता है।[3]

समीक्षा—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश का स्थलीय एवं जलीय व्यापार अत्यन्त विकसित था तथा आर्थिक प्रक्रिया के रूप में इस उत्पादक आजीविका को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त होने के साथ ही अनुकूल भौगोलिक दशाएँ (शीतोष्ण जलवायु, अनुकूल यातायात के साधन, वाणिज्यिक वस्तुओं एवम् विक्रयक्षेत्र का होना आदि) भी उपलब्ध थीं।

आजीविका के अन्य विविध साधन—सप्तसैन्धव प्रदेश में उपर्युक्त आजीविका के साधनों के अतिरिक्त सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए अन्य धन्धे भी प्रचलित थे, जिनसे आर्थिक आवश्यकताएँ भी पूरी हो जाती थीं।

स्थलीय आवागमन के साधनों में अश्वों या बैलों में जोते जाने वाले[4] तीन या चार पहियों वाले रथों का अधिक प्रचलन होने के कारण रथ-निर्माण-कार्य[5] के अतिरिक्त रथों को हाँकने (सारथ्यकर्म)[6] को भी किया जाता था। इन सारथियों को समाज में अत्यन्त समादर एवं समृद्धि प्राप्त थी। जलीय मार्गों को पार करने का नौका ही एकमात्र साधन थी, अतः पंख एवं अरित्रयुक्त (डाँड़ों या पतवार वाली)

---

१. अथर्व० ४/७/६।

२. वैदिक इंडिया, रेगोजिन, पेज ३०६।

३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ०—२१६।

४. ऋग्वेद, १/११८/२। ५. ऋग्वेद, १/१३०/६, १/६१/४।

६. ऋग्वेद, १/५५/७, ६/५७/६—उत्पूषणं युवामहेऽमी शूंखि सारथिः।

विशाल[1] नौकाओं के निर्माण करने के अतिरिक्त उन्हें चलाने (खेने) का भी कार्य कैवर्तों द्वारा होता था। मनुष्यों को नौका से पार उतारने का अनेक स्थलों[2] पर उल्लेख हुआ है।

आजीविका में आखेट का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण पशु पक्षियों[3] को फँसाने वाले पाशों (जालों) को निर्माण कार्य करने के अतिरिक्त उन्हें मारने अथवा युद्ध करने हेतु बाणों को भी[4] इषुकारों द्वारा नियमित रूप से निर्मित किया जाता था तथा ये कार्मार (इषुकार) उज्ज्वल शिलाओं, पुराने काष्ठों, पक्षियों के पंखों आदि से बाणों को बनाकर विक्रय के लिए धनी पुरुषों को ढूंढ़ा करते थे।[5]

वस्त्रोद्योग से संबंधित आवश्यकतानुसार प्रतीत होता है, स्त्रियाँ सुई[6] से बेल-बूटे निकालने का भी कार्य करती थीं।[7] पूजा, प्रसाधनों आदि के लिये मालाकार[8] पुष्पों की मालाएँ बनाया करता था तथा नापित (नाई) तेजधार वाले उस्तरे से केश काटता था।[9] यज्ञ जैसी धार्मिक क्रियाओं का अधिक प्रचलन होने के कारण यज्ञ कराने वाले याज्ञिक (पुरोहितों)[10] के अतिरिक्त यज्ञ हेतु वन्य सामग्री (समिधा एवं कुश आदि) लाने वालों का कम महत्त्व नहीं था। आजीविका हेतु कुश उखाड़ने वालों[11], दौत्यकर्म करने वालों, अनाज (धानों या दानों) को भूंजने वाले भड़भूजों का भी उल्लेख हुआ है।

सामान्यतया ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव-समाज में जाति अथवा वर्ण का कर्म से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि एक ही गृह-कुटुम्ब के व्यक्ति अपनी सुविधानुसार आजीविका निर्वाह के लिए विभिन्न धन्धे किया करते थे। एक

१. ऋग्वेद, १/११६/५, १०/१४३/५, १०/१०१/२।
२. वही, २/३९/४, २/४२/१, ३/३२/१४, ५/५९/२, ५/४/९, ९ ९५/२, ८/१६/११।
३. वही, ३/४५/१—मात्वा केचिन्नि यमन्वि न पाशिनो…।
४. वही, ९/११२/२ – कार्मारः।
५. ऋग्वेद, ९/११२/१ कार्मारो जरतीभि रोष धीभि पर्णेभिः शकुनानाम्.। अश्मभिर्द्युभिहिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्राय।
६. वही, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० वि० ना० रेउ, १९६७, पृ० १९६।
India in the Vedic Age, Dr. Bhargava. P. 253.
७. ऋग्वेद, २/३२/४—सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया।　　८. ऋग्वेद, ८/४७/१५
९. वही, १०/१४२/४, ८/४/१६—सं नः शिशीहि क्षुरं रास्व रायो विमोचन।
१०. वही, ५/२३/३।　　११. ऋग्वेद, १/१६१/१— किमीयते दूत्यं…।

ऋचा के अन्तर्गत पुत्र को स्तोत्र-रचयिता (कवि या स्तोता), पिता को वैद्य एवं माता पुत्री को पत्थर की चक्की से अन्न (जौ) पीसने वाली बता कर परिवार के लोगों का भिन्न-भिन्न कर्म करने का उल्लेख किया गया है।[1] प्रायः श्रमपूर्ण आजीविका ही समाज में समादृत थी तथा श्रम से जीविकोपार्जन करने वाला (श्रमजीवी) पुरुष पसीने से भींग जाता था[2], तथापि श्रम से जी चुरा कर अन्य निन्द्य साधनों से आजीविका चलाने वाले व्यक्ति-समूह की भी कमी नहीं थी, इनमें भिक्षा माँगने वाले[3] (भिखारियों) के अतिरिक्त जरायम पेशा-जुआ खेलना[4], चोरी (तस्करी[5]) करना, खेत (भूमि)[6] जलाना, लूटपाट (दस्यु वृत्ति)[7] करना आदि से आजीविका का निर्वाह करने वाले जुआरी, चोर दस्यु, आदि उल्लेखनीय हैं। जुआरी का यक्ष सूक्त में स्वाभाविक चित्रण करते हुए उसे कृषि आदि सम्मानपूर्ण कर्म में प्रवृत्त होने का परामर्श दिया गया है।

इसी प्रकार यात्रियों का मार्ग रोकने वाले, चोरी एवं लूटपाट करने वाले कुटिल दस्युओं का भी उल्लेख[8] किया गया है कि किस प्रकार ये द्रव्य (धन) पाने के लिये किसी यात्री को रस्सी से बाँध कर खींचते हैं।[9] जुआरी लोग प्रायः जुए के लिए कर्ज[10] लिया करते थे और ऋण न चुका पाने के कारण उन्हें ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। सामान्यतया आवश्यकतानुसार ऋण का आदान-प्रदान ऋग्वैदिक काल में होता था[11] तथा आर्थिक संकीर्णता के कारण ऋणधारक अपने ऋण को थोड़ा-थोड़ा (किश्तों में) करके चुकाता था।[12]

---

१. ऋग्वेद, ९/११२/३। २. वही, १०/१०६/१०।
३. वही, ४/४१/९, ५/२७/३, ४।
४. वही, १०/३४/१३—अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व······।
५. वही, ८/२९/६, ८/६७/१४, १०/४/६।
६. वही, १/१३३/१—द्रुहो वहामि सं महीरनिन्द्राः।
७. वही, ४/२८/३······पुरा दस्यून्·······, ४/३८/५।
८. वही, १/४२/३—अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
९. वही, १०/४/६—तनूत्यजेव तस्करा: वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
१०. वही, १०/३४/१०—ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानो·······।
११. वही, २/२७/४—धारयन्त····चयमाना ऋणानि। ऋग्वेद पर एक ऐति० दृष्टि, पं० रेउ, पृ० १९८।
१२. वही, ८/४७,२७—कृतानादस्य···ऋणा च धृष्णुश्चयते। ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १९८।

उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश में श्रमपूर्ण आजीविका के साधनों को सम्मान प्राप्त था तथा जुआरी, हिंसक, चोर, दस्यु आदि की अर्थकरी क्रियाओं को निन्दित एवं वर्जित किया जाता था। यही कारण है, एक ऋचा में ऋषि ने इन जरायमपेशायुक्त व्यक्तियों से दूर रहने की पूषन् देव से प्रार्थना की है।[1]

सप्तसैन्धव प्रदेश की सामान्य आर्थिक-स्थिति

उपर्युक्त आजीविका के अनेक साधनों की विवेचना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की सामान्य आर्थिक स्थिति पूर्ण सन्तोषजनक थी। कृषि द्वारा पर्याप्त अन्नोत्पादन, समृद्ध पशु-पालन एवम् वाणिज्य व्यापारादि उद्योग धन्धों से समाज में सम्पन्नता होना स्वाभाविक ही है। इस सन्दर्भ में स्वर्णाभूषणों[2] से सज्जित (कृष्ण) अश्व, स्वर्णजटित कलात्मक रथ[3] आदि के साथ ही यदुवंशी राजा तिरिन्दर[4] तथा विभिन्दु[5] द्वारा सहस्रों की संख्या में स्वर्ण, गौ आदि के दान देने का वर्णन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। साधारणतया दान में सौ, सहस्र एवं दश सहस्र प्रकार की वस्तुएँ दी जाती थी[6] और इन्हें पाने की आकांक्षा की जाती थी तथा सहस्रों (स्वर्ण निष्कों) का धन शत्रुओं की विजय के लिए प्राप्त किया जाता था।[7]

समीक्षा—इस प्रकार सुनिश्चितरूप से कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की अनुकूल भूसंरचना, जलवायु, वनस्पति, जलाशय आदि प्राकृतिक परिस्थितियो के प्रभाव के साथ ही परिश्रम के सहज अभ्यासी, मानव ने अनेक उत्पादक आर्थिक क्रियाओं (कृषि, पशुपालन, वाणिज्यादि उद्योग-धन्धों) द्वारा आजीविका का निर्वाह करते हुये पर्याप्त धन सम्पन्नता प्राप्त कर ली थी। आर्यों का आर्थिक जीवन आदर्शपूर्ण था, जिसमें जाति का ध्यान न रख कर कर्म को ही प्रधानता दी जाती थी और सौ वर्ष की जिजीविषा रखते हुये कर्म द्वारा अर्थोपार्जन किया जाता था।

---

१. ऋग्वेद, १/४२/२—यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अपस्मतं पथो जहि।
२. वही, १/१६३/९, १०/६८/११।
३. वही, ८/५/२८, ८/५/३५—हिरण्येन रथेन···।
४. वही, ८/६/४६, ४७, ४८।
५ वही, ८/२/४१—विभिन्दो···अन्य परः सहस्राः।
६. वही, ८/३४/१५—आ नः सहस्रशो····।
७. वही, ९/९७/५३—षष्ठि सहस्रा नैर्गुतो वसूनि ···।

॥७॥

राजनीतिक भूगोल
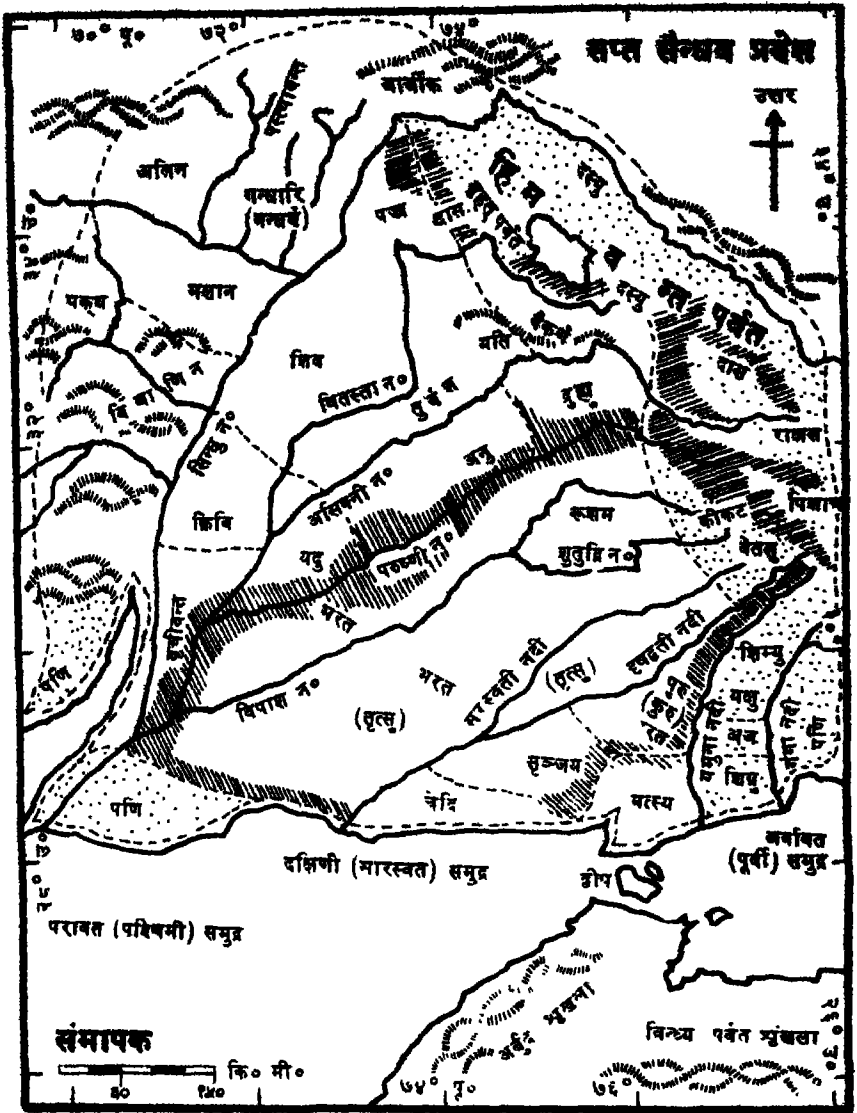
राजनैतिक भूगोल (आर्य - अनार्यों के जन एवं कबीले)

सप्तम अध्याय

ऋग्वैदिक सांस्कृतिक भूगोल : धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, काव्य, आमोद-प्रमोद आदि

किसी भी देश की भौगोलिक दशाएँ वहाँ की संस्कृति को सर्वथा प्रभावित एवं नियंत्रित करती हैं। सांस्कृतिक कारकों को प्रभावित करने वाले इन्हीं भौगोलिक तथ्यों को निरूपित किया जाता है। इसी आधार पर हंटिंगटन[1] महोदय ने मानव-भूगोल के क्षेत्र के अन्तर्गत सांस्कृतिक कारकों में मानवीय कार्यकुशलता तथा उच्च आवश्यकताओं (Human efficiency and Higher needs) को समाविष्ट करते हुए धर्म, दर्शन, प्राकृतिक शक्तियाँ, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य, काव्य-साहित्य, *मनोविनोद आदि को महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है। जीन ब्रूंश[2] महोदय ने भी* मानवभूगोल के मूल सिद्धान्तों के विभाजन से संबंधित दो दृष्टिकोणों—सभ्यता का विकास (Evolution of civilization) तथा यथार्थ विभाजन (Positive classification) के अन्तर्गत सांस्कृतिक सिद्धान्तों (Cultural facts) के वितरण को आधारभूत माना है।

वस्तुतः मानवीय उच्च सांकृतिक क्रियाएँ भौगोलिक वातावरण से किसी भी स्थिति में अप्रभावित नहीं रह सकती हैं। भले ही सम्भववादी विचारधारा के पोषक विचारक प्राकृतिक प्रभावों के प्रति आस्था न रखते हों, किन्तु प्रकृतिवादियों (Environmentalists) की यह अवधारणा तथ्यरहित नहीं है कि मानवीय उच्च सांस्कृतिक क्रियाएँ प्राकृतिक प्रभावों से कदापि छुटकारा नहीं पा सकती हैं।[3] इन भौगोलिक प्रभावों में जलवायु को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानव-संस्कृति का कारक भूगोलवेत्ताओं द्वारा माना गया है।[4] इस आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव की

---

१. ह्यूमैन ज्योग्राफी, ई० हंटिंगटन, ई० बी० शा, १९५६, पेज ९-१२।

२. ह्यूमैन ज्योग्राफी, जीन ब्रूंशेज, १९५२, पेज ३०।

३. मानव भूगोल के सिद्धान्त, विश्वनाथ, आर० एल० द्विवेदी तथा लेखराज सिंह कनौजिया, १९५६, इलाहाबाद, पृ० ६२

४. सिविलाइजेशन ऐण्ड क्लाइमेट, ई० हंटिंगटन, यले यूनिवर्सिटी पी०, न्यू होवेन, १९१५, पेज १३।

कलात्मक कार्य-कुशलता के साथ ही उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद, काव्य, कला आदि का विवेचन किया जा रहा है, भौगोलिक वातावरण ने इन्हें किस रूप में प्रभावित किया है।

धर्म—ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर 'धर्म' शब्द संज्ञा अथवा विशेषण के रूप में कहीं पुल्लिग[1] और कहीं नपुंसक लिंग[2] में प्रयुक्त होकर 'धार्मिक विधियों' अथवा 'धार्मिक क्रिया संस्कारों' से संबंधित प्रतीत होता है। 'प्रथमा धर्माः' अथवा 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' से अभिप्राय प्राचीन अथवा प्रथम विधियाँ हैं, किन्तु डॉ० पी० वी० काणे[3] के मतानुसार अन्य ऋचाओं में धर्म का अभिप्राय निश्चित नियम (व्यवस्था या सिद्धान्त) अथवा 'आचरण-नियम'[4] से है, जो वाजसनेयि संहिता[5] द्वारा भी पुष्ट होता है। अथर्ववेद[6] में धर्म शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में, ऐतरेय ब्राह्मण में[7] समस्त धार्मिक कर्त्तव्यो के अर्थ में तथा छान्दोग्योपनिषद[8] में यज्ञ, अध्ययन, दान, तप एवं ब्रह्मचारित्व के अर्थ में किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य में 'धर्म' के स्वरूप का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सामान्यतः यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, मर्यादाओं के साथ ही जीवन की आचार-विधियों एवं वर्णाश्रम के सिद्धान्तों का द्योतक कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भौगोलिक वातावरण से प्रभावित देश, काल और पात्र को दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर धर्म का अर्थ एवं स्वरूप परिवर्तित होता रहा है।

---

१. ऋग्वेद, १/१८७/१, १०/२१/३, १०/९२/२, १/१६४/४३, १०/९०/१६ (तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्)।
२. वही, १/२२/१८, ५/२६/६, ७/४३/२४, ९/६४/१, ३/१७/१, १०/५६/३ (प्रथमा धर्माः)।
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, (अनु० अर्जुन चौबे काश्यप) भाग १, द्वितीय संस्करण, पृ० ३।
४. ऋग्वेद, ४/५३/३, ५/६३/७, ६/७०/४, ७/८९/५।
५. वाजस० सं० २/३, ५/२७। ६. अथर्व० ९/९/१७।
७. ऐतरेय ब्राह्मण, ७/१७—धर्मस्य गोप्ता······।
८. छान्दोग्योपनिषद् २/२३ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो·······।

ऋग्वेद में यद्यपि धर्म-विषयक विधियों को हम सर्वाङ्गरूपेण नहीं पाते हैं, तथापि इनका प्रासंगिक निर्देश अवश्य ही हुआ है और अनेक ऋचाओं में परवर्ती धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रकरणों (विवाह, विवाह-प्रकार, पुत्र-प्रकार, गोद-लेना, सम्पत्ति-विभाजन, रिक्थलाभ, श्राद्ध, स्त्रीधन आदि) पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[1] एक स्थल पर विद्यार्थी धर्म (ब्रह्मचर्य[2]) का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है जो प्राकृतिक वातावरण से विशेषतया प्रभावित होता है।

सप्तसैन्धव प्रदेश में धर्म के उपर्युक्त सामान्य स्वरूप के साथ ही मानवीय आचार को 'ऋत' भी कहा गया है, जिसकी धर्म के व्यापक रूप में बड़ी प्रतिष्ठा थी तथा इसके विपरीत जो कुछ भी था, उसे अनृत अथवा अधर्म (अनाचार या पाप) कहा गया है[3]। प्राकृतिक शक्तियों (जल, वायु, सूर्य आदि) के नियमित आचरण के कारण ही ऋत (सत्य या धर्म) का नियमित व्यवहार 'व्रत' कहा जाता था तथा वरुण को 'ऋत-व्रत' माना गया है। ऋत के कारण सृष्ट्युत्पत्ति[4] तथा इसे सृष्टि के आदि में उत्पन्न[5] होना वर्णित किया गया है। सोम जैसी सर्व-सुलभ एवं लाभप्रद प्राकृतिक वनस्पति को ऋत[6] रूप कहने के साथ ही निरन्तर नियमित रूप से प्रवाहित होने वाली नदियों[7] को ऋत को वहन करने वाली कह कर ऋत का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस ऋत के मार्ग को सुगम[8] तथा धर्मात्मा द्वारा सत्य की नाव द्वारा पार लगाना भी कहा है।[9]

धर्म के क्षेत्र में कर्म का सिद्धान्त भी सर्वमान्य होने के कारण कालान्तर में कर्मकाण्ड का प्रचार होने पर ऋत ही यज्ञ में परिणत हो गया। सप्तसैन्धव प्रदेश का

---

१. ऋग्वेद, १०/२७/१२, भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। (गान्धर्व विवाह)। वही, ७/४/८—न हि ग्रभायारणः सुशेवो अन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। (अनौरस पुत्र), वही, १०/४०/२, को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। वही, ३/३१/२—न जामये तान्वो रिक्थमारैक्। (बहिन या कन्या रिक्थलाभ से वंचित)। द्रष्टव्य—जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च, रायल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम २६, १९२२, पेज ५७-८२।

२. वही, १०/१०९/५—ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।

३. वही, ४/५/५, ७/५६/१२—ऋतेन सत्यमृतसार आयन्छुचिजन्मानः शुचयः पावका।

४. वही, ३/५५/५।

५. वही, १०/१९०/१।

६. वही, ९/१०८/८।

७. वही, १/१०५/१५।

८. वही, ८/३/१३।

९. वही, ९/७३/१।

मानव प्रत्येक ऋतु में सम्बन्धित प्राकृतिक शक्तियों (देवताओं) की प्रसन्नता (अनुकूलता) प्राप्त करने के लिये उनके लिए श्रद्धापूर्ण[1] प्रार्थना के साथ ही पर्जन्य (वृष्टि देवता) की प्राप्ति हेतु यज्ञ[2] भी किया करता था जिसमें सप्तसैन्धव प्रदेश में स्वाभाविक रूप से अधिक होने वाले पदार्थों—दूध, घी, यव (धान्य), मांस (पशु बलि में) एवं सोमरस[3] को अर्पित किया जाता था। इन याज्ञिक क्रियाओं में भौगोलिक वातावरण को निर्धारित एवं नियंत्रित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के अतिरिक्त अन्य मानवीय कर्त्तव्यों के अन्तर्गत धर्म के व्यापक स्वरूप को व्यक्त किया गया है। यथा—अतिथि का सत्कार करना[4], दयापूर्वक दुःखी का कष्ट निवारण करना, भूखे को दान देना आदि।[5]

सप्तसैन्धव प्रदेश के दूध देने वाले पशुओं में गाय तथा यातायात में वाहन के रूप में प्रयुक्त होने वाले पशुओं में घोड़ा प्रमुख होने के कारण दान सामग्री में तो समाविष्ट ही है, इसके साथ ही अधिक मात्रा में उपलब्ध एवं उत्पन्न होने के कारण स्वर्ण एवं वस्त्र भी दान उपकरणों में उल्लिखित[6] हुए हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी शुष्क भाग के मरुस्थल में मानसूनी वर्षा के अतिरिक्त स्थलीय जलाशयों का अभाव होने के कारण प्यासे जीवों—विशेषतः तृषित यात्रियों—को प्याऊ जैसे प्रबन्ध के द्वारा पानी पिलाना भी कम पुण्यकारी धार्मिक कार्य नहीं था। अतः ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेशीय इन मरुस्थलों में धार्मिक समर्थ जनों द्वारा कहीं-कहीं 'प्रपा' (प्याऊ) लगा दी जाती थी, जिनसे तृषित व्यक्ति दूर से चल कर अपनी प्यास बुझाते थे। एक ऋचा में ऐसी प्रपा[7] का भी उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद में धर्म-विरोधी क्रियाओं—असत्य[8], छल, व्यभिचार[9] और अत्याचार-की निन्दा करते हुए ईश्वर से अपने को निष्कपट एवं सदाचारी होने की प्रार्थना की

१. ऋग्वेद, १/१०४/६। २. वही, २/२६/३।
३. वही, ९/२/१०, ९/६/८। ४. वही, १/२/६।
५. वही, १०/११७/६।
६. वही, १०/१०७/२—उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा। हिरण्यदा अमृतत्वंभजन्ते वासोदाःसोमप्रतिरन्त आयुः।
७. वही, १०/४/१, धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवेपूरवेप्रत्नराजन्।
८. वही, ७/१०४/८।
९. वही, ४/५/५।

गई है[1] तथा उस त्यागशून्य व्यक्ति की भर्त्सना की गई है, जो केवल अपना ही स्वार्थ[2] देखता है, केवल अपना ही पेट भरता है।

धर्मपूर्ण मानव-जीवन[3] में तीर्थ-दर्शन, त्याग और तपस्या का अत्यन्त महत्त्व था। यद्यपि इस त्याग का भौतिक वातावरण (जलवायु, वनस्पति, जलाशय आदि) के अनुकूल निर्मित घर-द्वार का परित्याग कर मात्र शुष्क वैराग्य अथवा निराशापूर्ण जीवन धारण करने से कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि सप्तसैन्धव प्रदेश के महान् ऋषि सरस्वती जैसी विशाल नदियों के सुरम्य एवं प्राकृतिक छटा से युक्त विशाल आश्रमों में गोपालन के साथ अध्ययन-अध्यापन, व्रत, यज्ञादि, धार्मिक क्रियाएँ करते हुए वीतराग जीवन से पूर्णतया परिचित थे। ये ऋषि आश्रम सर्वतः भौगोलिक वातावरण से अनुप्राणित रहते थे जिसमें जलाशय (नदी या सरोवर) की समीपता, सघन वनस्पति युक्त निर्विघ्न एवं नीरव वनों की आस-पास अवस्थिति आदि उल्लेखनीय है। इन आश्रमों में रह कर तपस्वी, वीतराग ऋषि-मुनि[4] व्रतों, यम-नियमों एवं उपवासों से विशिष्ट धर्माचरण करते हुए दैवी सिद्धि प्राप्त करते थे तथा यहाँ रह कर वैराग्य से उत्पन्न होने वाले परमानन्द का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[5]

मानवीय जीवन में धर्म की प्रधानता होते हुए भी पापशून्य कर्मों में परिश्रम की पर्याप्त प्रशंसा हुई है[6], क्योंकि इसके बिना अर्थ एवं काम की उपलब्धि न होने के कारण व्यक्ति अन्ततः दैवीसिद्धि में भी असफल ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में वर्णव्यवस्था के प्रचलित न होने पर भी भौतिक आवश्यकतानुसार स्वधर्म का स्वच्छन्द रूप से आचरण करता था,[7] किन्तु प्रतीत होता है, कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था

---

१. ऋग्वेद, ५/८५/७।
२. वही, १०/११७/६ केवलाघो भवति केवलादी।
३. वही, १/१६८/६, १७३/११, ४/२८/३।
४. वही, १०/१३६/२, मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
५. वही, १०/१३६/३, उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं···ऋग्वेद, चतुर्थ खंड, पृ० १८४८।
६. वही, ४/३३/११, न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।
७. वही, ९/११२/३, कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवो···।

एवं जीविकोपार्जन में विषमता के साथ ही जटिलता का अनुभव करने पर चार वर्णों[1] का प्रादुर्भाव हुआ और वर्णाश्रम धर्म का निर्वाह कर्मानुसार किया जाने लगा।[2]

समीक्षा—धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में वेदों को धर्म का मूल कहा गया है,[3] क्योंकि इनमें धर्म के मौलिक स्वरूप की विवेचना की गई है, इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक वातावरण (जलवायु, वनस्पति, जलाशय, स्थल की रचना आदि) द्वारा धार्मिक प्रक्रियायें (यज्ञ, हवन[4], तीर्थयात्रा, दान, व्रत, उपवास आदि) कम प्रभावित नहीं हुई हैं। धर्म का स्वरूप, यही कारण है, स्थान, समय तथा अन्य परिस्थितियों में परिवर्तित परिलक्षित होता है।

देवता—

प्राकृतिक शक्तियाँ—सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव अपनी अन्य धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ ही समस्त भौतिक दशाओं एवं सृष्टिक्रम को नियंत्रित तथा संचालित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों को देवता रूप में मानते हुए उनकी उपासना किया करते थे। प्राकृतिक शक्तियों के रूप में वर्णित अनेक देवता सामान्यतया द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के मनोरम प्राकृतिक दृश्यों से सम्बन्धित उनके अधिष्ठाता दृष्टिगत होते है। भौगोलिक वातावरण को प्रभावित करने वाले देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों) का यहाँ ऋग्वेद के आधार पर विवेचन किया जा रहा है।

---

१. वही, १०/९०/१२, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।

२. वही, ४/५०/८, तस्मैविशः स्वयमेवा नमन्ते''' राजनि पूर्व एति। (राजधर्म) ४/५०/९ अप्रतीतो जयतिसंधनानि—ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः। इन ऋचाओं में राजन्य धर्म निर्वाह का संकेत किया गया है। ऋग्वेद द्वितीय खंड, पृ० ६७३।

३. मनुस्मृति, २/६, वेदोऽखिलो धर्ममूलम् स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

४. म०म०डा० पी० बी० काणे ने भी तीर्थयात्रा को ऋग्वेद के सन्दर्भों (ऋग्वेद, १/१६९/६, १७३/११, ४/२९/३) के आधार पर महत्त्वपूर्ण प्राचीनतम धार्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत ग्रहण किया है। तीर्थस्थल प्रायः भौगोलिक वातावरण से पूर्णतया अनुप्राणित रहते थे, जो प्रायः पर्वतों के गह्वरों या नदियों के पवित्र संगमो में होते थे—ऋग्वेद, ८/६/२८, "उपगह्वरे गिरीणां संगमें चनदीनाम् धियो विप्रोऽजायत।"" धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, अनुवादक, अर्जुन चौबे काश्यप, पृष्ठ १३००-१३०४।

सूर्य—द्युलोक और अन्तरिक्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण यह देवता ताप और प्रकाश का अद्वितीय स्रोत है, जिसकी अन्तरिक्ष में द्यु-लोक के स्तम्भ के समान परिकल्पना की गई है।[1] सूर्य पूर्व में उदित[2] होकर अनेक प्रकार से पार्थिव विषों को अपनी किरणों से नष्ट करते ही हैं[3] इसके साथ ही अपनी रश्मियों से वाष्पीकरण द्वारा जल-वृष्टि भी करते हैं।[4] इसी जीवनदायिनी प्राकृतिक शक्ति के कारण सूर्य को स्थावर एवं जंगम जगत् के प्राणियों की आत्मा तथा उन्हें पोषण करने वाला कहा गया है।[5] प्राणियों के जीवन-आश्रय[6] सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गतियों से ऋतु-परिवर्तन होता है। सूर्य के दक्षिणायन होने पर शीत ऋतु कालीन वर्षा का एक ऋचा में तथ्यपूर्ण वर्णन किया गया है[7], जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भौगोलिक वातावरण में तापक्रम प्रमुख होने से यह जलवायु का अधिष्ठाता स्वरूप है।

ताप एवं प्रकाश पुंज सात रश्मि रूप[8] रथ पर समारूढ़ सूर्य आदित्य, सविता, पूषन्, मित्र आदि अनेक रूपों में भी समीकृत किये जा सकते हैं, जिसमें इनकी सूर्य के समान ही प्राणियों एवं वनस्पतियों को प्रसव करने के साथ ही पालन-पोषण करने की अलौकिक शक्ति समाहित है।[9]

ऋषि विश्वामित्र द्वारा सविता के तेजस्वी स्वरूप की वर्णना सावित्री (गायत्री) छन्द में करते हुए उनसे अन्न प्राप्ति की कामना की है। अन्य ऋचाओं[10] में भी सविता के लोक-हितकारी स्वरूप के अन्तर्गत उसकी सुनहली बाहुओं, अहिंसक

---

१. ऋग्वेद, ४/१३/४, ४/१३/५, दिवः स्कम्भः पति नाक···।
२. वही, १/१९१/९, उत्पुरस्तात् सूर्य एति विश्व दृष्टो अदृष्टहा।
३. वही, १/१९१/९, उदपप्तदसत सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्, १/१९१/१२ त्रिःसप्त विष्पुलिंगका विषस्य पुष्प भक्षत्।
४. वही, २/२७/९, त्री रोचना···धारपूताः। ५/५८/६, ७/३६/१, विरश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः।
५. वही, ७/६०/२, उभे उदेति सूर्यो अभिज्मन्। विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाः···।
६. वही, १०/२७/२४, सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि।
७. वही, ६/३२/५, स सर्गेण शवसा तक्तो अत्यैरपा दक्षिणतस्तुराषाड्।
८. वही, ६/४४/२४, अयं रथमयुनक्सप्तरश्मिम्।
९. वही, ३/६२/१०, ३/६२/११।
१०. वही, ६/७१/३,४,६ तथा ३/६२/११।

केश, सुवर्ण पाणि, सुनहली जीभ, लौह हनु का उल्लेख करते हुए उसकी स्तुति की गई है।

इसी प्रकार भरद्वाज की ऋचाओं में पूषन् को प्रायः पशुओं का पोषण एवं रक्षण करने वाला, सुनहले चक्र को चलाने वाला इन्द्र का सखा, भूलों को रास्ता बताने वाला, प्रकाशमान् आदि अनेक विशेषताओं से वर्णित किया गया है।[1]

विश्वामित्र ने मित्र को आदित्य से अभिन्न मानते हुए अनेक ऋचाओं[2] में सुन्दर स्तुति की है, जिससे इसका महत्व स्वतः एक व्यक्त होता है। यही मित्र (सूर्य) देवता सप्तसैन्धव प्रदेशीय आर्यों एवं ईरानी आर्यों के मित्र मिथ्र, मिहिर से सर्वथा अभिन्न हैं।[3]

इस प्रकार स्वरूपगत सामान्य मौलिक विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए हिरण्यगर्भ सविता, पूषन, मित्र को सूर्य के व्यापक स्वरूप से अभिन्न मानना चाहिये जो तापमान की सृष्टि करने के कारण भौगोलिक वातावरण (जलवायु) का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

इन्द्र—सप्तसैन्धव प्रदेश के देवताओं में सर्वाधिक लोकप्रिय देवता के रूप में इन्द्र की अनेक विशेषताओं का वर्णन भरद्वाज[4], वशिष्ठ[5], विश्वामित्र[6], वामदेव[7], प्रियमेध[8] विमद[9] आदि अनेक ऋषियों की ऋचाओं में किया गया है, जिसके अनुसार मानवीय स्वरूप को आरोपित किये जाने पर भी प्राकृतिक शक्ति के रूप में इनकी महत्ता व्यक्त होती है।

इन्द्र देवता को अभीष्ट वर्षा[10] करने वाला, पृथ्वी की रचना[11] करने वाला

---

१. ऋग्वेद, ६/५३/३, ६/५४/७, ६/५५/२, ६/५७/३, ६/५८/२।
२. वही, ३/५९/१,२, ५ तथा ८।
३. ऋग्वेदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १९२।
४. ऋग्वेद, ६/१७/२,।
५. वही, ७/२८/१, ७/३२/४, ७/१०४/२४।
६. वही, ३/३२/२,३,८, ३/४५/१।
७. वही, ४/१६/१४, १७, १८, ४/१७/१, २, ४/२२/२,३।
८. वही, ८/५८/७,८,९,१५,१६।   ९. वही, १०/२३/६।
१०. वही, १/५४/३,५,१०, ५७/६, ३/३०/२१, ४३/२,।
११. वही, १/५२/१२—चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः।

जल-युक्त मेघों को खोलने वाला[1], वृत्र, शुष्ण आदि राक्षस (सूखे) से युद्ध करने वाला[2], मेघों में अग्नि उत्पन्न कर पर्वतों को नष्ट करने मे समर्थ[3], नदियों के द्वारों को वज्र से खोल कर प्रवाहित करने में सक्षम[4], सूर्यमंडल को भी रोकने अथवा सिर पर धारण करने वाला,[5] मरुद्गण[6] का वृष्टिकर्म का साथी, अन्तरिक्ष एवं आकाश को धारणकर्ता[7] आदि अनेक प्राकृतिक शक्तियों के सूचक अभिधानों से वर्णित कर उसके भौगोलिक महत्त्व को प्रकट किया गया है। प्रारंभिक सप्तसैन्धव प्रदेश की पृथ्वी, जो पर्वतों को असंतुलित रूप में धारण कर भूकम्प से युक्त थी, इन्द्र की कड़कती वज्रशक्ति से ही संतुलित[8] होने के साथ ही सूखे के प्रभाव से मुक्त कर वृष्टि से सरस हो सकी थी। ऋग्वेद में व्यक्त इन्द्र को विशेषताओं से प्रतीत होता है कि यह वृष्टि-कर्त्ता, कड़कती बिजली वाला महिमावान् वही तेजस्वी देवता है, जो पर्जन्य से पृथक् नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इन्द्र के समान पर्जन्य भी मेघ और वृष्टि का देवता है। पर्जन्य को द्यौ का पुत्र, सिंचक (वृष्टि से) अन्न देने वाला, औषधियो आदि में गर्भ उत्पन्न करने वाला[9], अन्तरिक्ष मे जल को प्रेरित करने वाला[10] आदि विशेषताओं से वर्णित किया गया है, जो इन्द्र की विशेषताओ से भिन्न नहीं प्रतीत होता है।

मरुत—अन्तरिक्ष के अप्रतिम प्रभावशाली झंझावात या तूफान के देवता के रूप में ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं मे वर्णित हुए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सप्त-सैन्धव प्रदेश की भौगोलिक दशाओ को सामान्यतः निर्धारित करने मे इनका महत्त्व-पूर्ण योगदान था। मरुत् के वेगपूर्वक प्रवर्तित होने पर घोर शब्द होता था।[11] तथा पर्वत

---

१. ऋग्वेद, १/५१/४—त्वमपामपिधानावृणोरपधारयः पर्वते दानमद्वसु।
२. वही, १/५१/६, १/५४/५, १/१८१/१०, १/१०१/२, ५/३२/४, ३७/२।
३. वही, २/१२/७ तथा २/१२/६।
४. वही, ४/२१/८, २/१५/३। ५. ऋक्० २ १५/२, १७/२।
६. वही, ३/४७/१।
७. वही, ३/४७/४—धर्ता दिवो रजसस्पृष्ट ऊर्ध्वो....।
८. वही, २/१२/२ यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यो पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णाद्।
९. वही, ७/१०२/१,२ तथा ७/१०१/१,२।
१०. वही, ६/४९/६।
११. वही, १/३७/१३—यद्व यान्ति मरुतः...शृंणोति। १०/६७/९ सिंहमिव नानदत सधस्थे।

प्रकम्पित होते थे[1] और वृक्ष समूल नष्ट होकर उखड़ जाते थे। कभी-कभी वनों में दावाग्नि लग जाती थी[2] और धूल के साथ मेघों को उड़ाते हुए मरुभूमि तक में वर्षा कर जाते थे।[3]

मरुत का वात (वायु) अभिन्न रूप है, जिसके द्वारा मेघों को ऊपर उड़ा कर वृष्टि होती है[4], जिससे अन्नोत्पत्ति द्वारा प्राणियों का भरण-पोषण होता है। अनेक ऋचाओं में वात (वायु) इन्द्र, रुद्र, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के साथ मरुत् की महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं की चारु वर्णना की गयी है[5] जिससे इस प्राकृतिक शक्ति का महत्त्व स्वतः ही व्यक्त होता है क्योंकि भौगोलिक वातावरण (जलवायु) में ताप के पश्चात् वात (वायु) का ही व्यापक प्रभाव होता है।

वरुण—सप्तसैन्धव प्रदेश के प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण देवताओं में वरुण का अनन्य स्थान है, जिसे पारसियों ने अहुरमज्द (असुरमेध) तथा स्लावों (रूसियों एवं चेको) ने 'पेरुन' (परुन)[6] देवता के रूप में अभिहित किया है। यद्यपि आप एवं इन्द्र के व्यापक प्रभाव के कारण कालान्तर में वरुण का प्रभाव कुछ क्षीण हो गया तथापि वसिष्ठ जैसे ऋषियों की ऋचाओं में वरुण का प्राचीन महत्त्व व्यक्त होता है, जिसमें उन्हें सहस्र नेत्रों वाला, नदियों के रूप में जल को देखने वाला तथा राष्ट्रों का राजा कहा गया है।[7] वरुण की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए उन्हें आप[8] (जल के देवता) से अभिन्न कहा जा सकता है, जिनके अभाव में सारा संसार ही सूखा रहता और जीव एवं वनस्पतियाँ नहीं होतीं। अतएव भौगोलिक तथ्यों के आधार पर इनका महत्त्व अनुपेक्षणीय है।

अग्नि—सूर्य के अतिरिक्त ताप की दाहक शक्ति युक्त अग्नि अन्तरिक्ष में सूर्य, आकाश में विद्युत् तथा पृथ्वी में प्रदीप्त अग्नि के व्यापक रूप में विद्यमान है, जिसकी

---

१. ऋग्वेद, १/३९/३,५। २. वही, १/५८/५।
३. वही, १/३८/७,८ तथा ६४/६—पिन्वन्त्यपो....।
४. वही, ८/७/४।
५. वही, १/५२/९, १/६४/५, १/१२२/३, १/७१/८।
६. स्लाव्यान्स्के बृ—ब्रेबू नोस्ति (न० स० देर्झाविन्, मास्कवा, १९४५), तथा ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १९४।
७. ऋग्वेद, ७/३४/१०,११, ७/८६/१,३,४,५,७।
८. वही, १०/९/१,२,४।

भरद्वाज[1], विश्वामित्र[2], वामदेव[3], देववात[4] आदि ऋषियों ने सुन्दर स्तुति की है। भोजन-पाकादि गृहकार्यों के अतिरिक्त व्रतों एवं यज्ञों में घृतयुक्त हविष् (आहुति) से प्रदीप्त अग्नि की महिमा[5] स्वर्ग तक स्वतः ही व्यक्त होती है।

प्रदीप्त अग्नि स्वतंत्र रूप से तथा इन्द्र की सहायता से वृष्टि[6] करती है, किन्तु प्रधानतया देवताओं को यज्ञ में प्रदत्त की गई पूजा की सामग्री (बलि) को पहुँचाने के लिए ही अग्नि का उपयोग किया जाता था[7], जिसका व्यापक प्रभाव ग्रीक तक दृष्टिगत होता है, क्योंकि होमर ने देवाराधन के सरल विधान में अग्नि में घी अथवा भुने मांस आदि का हवन करना निर्दिष्ट किया है।

अन्य महत्त्वपूर्ण देवता—सप्तसैन्धव प्रदेश के प्राकृतिक वातावरण को प्रभावित करने वाले उपर्युक्त प्रमुख देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों) के अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओं का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है, जो मानवीय प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं जीवनधर्मों का प्रतिनिधित्व करते हुए जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का सम्यक् निर्वाह करते हैं।

मरुत, वात तथा वायु के समान रुद्र भी झंझड़ (तूफान) का देवता था जो प्रारंभ में भीषण एवं गौण, किन्तु कालान्तर में इसे कल्याणकारी तथा महत्त्वपूर्ण देवता माना गया।[8] रुद्र को ऋग्वेद में 'भिषकतम' एवं कपर्दी कहते हुए अग्नि का प्रतीक माना गया है।[9] विष्णु की गतिशीलता की कल्पना सूर्य से करते हुए उसे

---

१. ऋग्वेद, ६/८/२,४, ६/१५/८।

२. वही, ३/२६/१,३,७—अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं न आसन्। अर्कस्त्रिधातूरजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम।

३. वही, ४/३/२,२। ४. ऋग्वेद, ३/२३/४—नित्वा दधे वर···।

५. वही, ६/८/२—स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपाअरक्षत। व्यन्तरिक्षम-मिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरोमहिना नाकमस्पृत्॥

६. वही, ३/१२/८—इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि···। वही, ८/६०/१४,३/१/८—श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा···७/५/७, ६/७/६, ५/१२/२।

७. हरिसन्स स्टेज आफ ग्रेसियन लाइफ, पेज ८७,८८।

८. ऋग्वेद, २/३३/७, १/११४/१०।

९. वही, २/३३/४ (भिषक्तम), १/१४/१, १/११४/६, २/१/६। अग्नि।

पर्वतवासी स्वतंत्र विचरण करने वाले सिंह के समान[1] तीन पराक्रमपूर्ण डगों से विश्व को नापने वाला वर्णित किया[2] गया है। यही सूर्यात्मा विष्णु कालान्तर में स्वतंत्र और महत्त्वशाली देवता मान लिया गया था। यम मृत्यु के देवता के रूप में यमलोक का स्वामी एवं मृतात्माओं का उनके कर्मानुसार प्रबन्ध करता था[3] जिसे विवस्वान् का पुत्र होने से वैवस्वत् भी कहा गया है।

नासत्य अथवा अश्विन् दो संख्या[4] में अविभक्त रूप से रहने वाले, उषा का अनुमान करने वाले प्रेमी या पति के समान, विपत्तिग्रस्तों की विपत्ति को नष्ट करने वाले युग्म देवता रूप में वर्णित हुए हैं। विद्वानों[5] द्वारा इन्हें प्रात.काल और सायंकाल की अरुणिमा मे उदित होने वाले दो तारे माना गया है, जो अरुणिमा के समय ही दृष्टिगत होते हैं। वातोष्पति रोगनाशक घरो के देवता है, जो पिशंग वर्ण के माने गये हैं।[6]

अरण्य—सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव के पशुपालन आदि आजीविका मे अरण्य (प्राकृतिक वनस्पति) अवलम्ब होने के कारण देवता रूप मे ऋग्वेद में स्तुति को प्राप्त हुए है।[7] इसी प्रकार नदियों मे श्रेष्ठ महत्त्वशालिनी सरस्वती की वसिष्ठ[8] आदि ऋषियों ने सुन्दर स्तुति की है। नित्य प्रति स्वास्थ्यप्रद पान के अतिरिक्त यज्ञ में हवन की सामग्री के रूप में सोम का भी देवतारूप में[9] भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियो ने स्तवन किया है तथा ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम की प्रशस्ति में सर्वाधिक ऋचाएँ प्राप्त होती है। सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव को प्राकृतिक दृश्यों में सर्वाधिक प्रभावित प्रातःकालीन अरुणोदय (उषस्) के दृश्य ने किया। अतः उषस्[10] का भी देवता के रूप मे सुन्दर वर्णन किया गया है।

---

१. ऋग्वेद १/१५४/२ ।
२. वही, १/१५४/१, १/२२/७, १६-२३ ।
३. वही, १०/१४ ।
४. वही, ४/३६/१, ६/५०/१० ।
५. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० *विश्वेश्वरनाथ* रेउ, १९६७, दिल्ली, पृ० ३९ (पाद टिप्पणी) ।
६. ऋग्वेद, ७/५५/१, २ । ७. वही, १०/१४६/५, ६ ।
८. वही, ७/९५/१, २, ६ तथा ७/९६/१, २ ।
९. वही, ६/४७/१, २, ४ ।
१०. वही, ७/७५/१, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ३/६१/१- ३, ४/५१/१-६, ४/५२/१-६ । ६/५२/४ ।

मानवीय भावों में मन्यु[1] (क्रोध), श्रद्धा[2] आदि देवता रूप में वर्णित हुए हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण देवताओं में द्यावा-पृथिवी[3] (पितरौ), बृहस्पति (ब्राह्मणस्पति)[4], ऋतु[5] (प्रजापति)[6], पुरुष[7], विश्वकर्मा[8] आदि उल्लेखनीय हैं। कतिपय ऋचाओं में सामान्य देवताओं के अतिरिक्त युग्म देवताओं (इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणा, मित्रावरुणा आदि) का उल्लेख किया गया है। यथा—

"अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती-सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत् सोमो रुद्रो अदिति ब्राह्मणस्पतिः॥"[9]

(ऋक् १०/६५/१)

वैसे ऋग्वेद में ३४[10] तथा ३३३९[11] देवताओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है, किंतु अनेक सन्दर्भों को दृष्टि में रखने के साथ यहाँ महत्त्वपूर्ण देवताओं की विवेचना की गई है।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रमुख देवताओं की संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव प्राकृतिक शक्तियों के रूप में उनके भौगोलिक प्रभाव एवं उपयोगिता को दृष्टि में रख कर सामान्यतया ३३ देवताओं[12] की ही भक्तिपूर्वक उपासना करता था।

प्राकृतिक दृश्यों, दिव्य शक्तियों एवं मानवीय प्रवृत्तियों के आधार पर इन

---

१. ऋग्वेद, १०/८३/१-३, १०/८४/१-२।
२. वही, १०/१५१/१, १०/१५१/२, ३।
३ वही, ७,३५/५।   ४. ऋग्वेद, ७,४१/१, १०/६७/१।
५. वही, ४/३५/२ ४, ९।
६. वही, १०/१२१/१-१० तथा १०/१२९/१-६।
७. वही, १०/९०/१-१२।   ८. १०/८१/१-४।
९. वही, ७,३५/१, ४, ५ तथा १०/६५/१-२।
१०. वही, १०/५५/३ (वसु ८, रुद्र ११, आदित्य १२, प्रजापति, विराट् तथा वषट्कार, १, १, १)
११ वही, ३/९/९, १०/५२/६।
१२. ऋग्वेद १/१३९/११—ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्। ऋग्वेद, ३/६/९ एभिरग्ने सरथं··· पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमावह मादयस्व। १/३४/११, १/४५/२, ८/३५/३, ९/९२/४, १०/५५/३।

देवताओं में दिव्य गुणों की परिकल्पना करते हुए ऋग्वैदिक आर्यों ने इनकी भाव-विभोर होकर प्रशस्ति की है, जिसमें कतिपय विद्वानों[1] द्वारा इस प्रकृति-पूजन में उपयोगितावाद की भावना मानना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव अपने स्वार्थ (भौतिक अपरिहार्य आवश्यकताओं) की पूर्ति हेतु अथवा भय के निवारण के लिये ही देवप्रार्थना किया करता था। प्रत्येक देवता की शक्ति अथवा कार्य भिन्न था। अतः विशिष्ट कार्य के लिए[2] विशिष्ट देवता की प्रशस्तिपूर्ण प्रार्थना की जाती थी।

उपासना का स्वरूप—यद्यपि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी उपासना में ऋषियों द्वारा रचित उत्कृष्ट ऋचाओं से भावपूर्ण स्तुति की जाती थी, तथापि कालान्तर मे उपासना के अन्तर्गत सप्तसैन्धव प्रदेश के मानवों द्वारा अपनी भौगोलिक दशाओं की अनुकूलता से सुलभ होने वाली प्रिय वस्तुएँ भी बलि (उपहार या भेंट) के रूप में समर्पित की जाने लगी, किन्तु इससे पूजा में प्रार्थना (स्तुति) का महत्त्व कुछ भी क्षीण नहीं हुआ[3] तथा प्रत्येक पूजा के धार्मिक अनुष्ठान में श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक देव-स्तुति की जाती थी।

प्रतीत होता है, उस समय देवोपासना उतनी निष्कामभाव से नहीं की जाती थी, जितनी भौतिक प्रभावों और आवश्यकताओं के कारण सकाम भाव से।[4] अतएव देवताओं के लिए यज्ञ, हवन, स्तवन आदि में अपनी अभीष्ट कामनाओं को अभिव्यक्त कर देते थे।[5]

यज्ञ—देवोपासना मे यज्ञ एव हवन महत्वपूर्ण साधन था, जो ऋतु (काल), देवता (प्राकृतिक शक्तियाँ) एवं पदार्थ के आधार पर विभिन्न प्रकार के सम्पन्न होते थे। प्रमुख प्राकृतिक शक्तियो की प्रसन्नता के लिये विशिष्ट ऋतु अथवा काल[6] में विशिष्ट पदार्थों (सोम, पुरोडाश, हवि, गवाशिर, यवाशिर, करम्भ[7] आदि) को बड़ी

---

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, १९६७, दिल्ली पृ० ४५। २. ऋग्वेद, १०/२४/१, ४।
३. वही, ६/१४/४। ४. वही, १/१०४/६।
५. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २०४।
६. ऋग्वेद, ३/२८/१ (प्रातः सवन), ३/२८/४ (मध्याह्न सवन), ३/२८/५ (तृतीय या सायं-सवन)।
७. वही, ३/२८/१-५ (पुरोडाश एवं सोम), ३/४२/७ (गवाशिर एवं यवाशिर), ३/४२/८ (सोम), ३/५२/१ (करम्भ, अपूपयुक्त हवि), ३/५२/२, ३ (पुरोडाश)।

श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाता था। पुरोडाश प्रतीत होता है, दूध या घृत में पकाया हुआ यव है, जो खीर या हलुए की भाँति तैयार किया जाता था। सप्तसैन्धव प्रदेश में (व्रीहि) चावल न होने या अत्यन्त अल्प होने के कारण पुरोडाश में यह प्रयुक्त नहीं होता था। इस सम्बन्ध में श्री राहुल सांकृत्यायन[1] की यह धारणा तथ्ययुक्त नहीं कही जा सकती है कि आर्य उपेक्षा की दृष्टि से चावल को देखने के कारण पुरोडाश में इसका उपयोग नहीं करते थे[2], जबकि परवर्तीकाल में पुरोडाश दूध में पके चावल की खीर से भिन्न नहीं रहा है। भौगोलिक दशाओं की अनुकूलता से अधिक उत्पन्न दूध और यव से तैयार की गई हवि यवाशिर और गवाशिर, यव के भुने दाने (सत्तू या करम्भ) आदि के अतिरिक्त घृत एवं सोम को भी अधिकांशतः यज्ञाग्नि में श्रुवा[3] से हवन किया जाता था। वैदिक यज्ञीय उपासना में अपनी प्रियतम वस्तु को समर्पित करने की होड़ सप्तसैन्धव प्रदेश में यहाँ तक प्रचलित हो गई कि आर्य अपने अश्वों, वृषभों (बैलों), गायों, मेषों आदि पशुधन[4] का भी हवन करने लगे, किन्तु कालान्तर में यह पशु-बलि प्रथा सामाजिक एवं शास्त्रीय विरोध के कारण स्वतः समाप्त हो गई। मात्र शुनःशेप के आधार पर नरमेध यज्ञ के प्रचलन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता[5] तथापि प्रारंभ में अश्वमेध[6] आदि यज्ञों का प्रचलन अवश्य रहा था, किन्तु सोम याग का विशेष महत्त्व व्यक्त हुआ है।

देवमन्दिरों के निर्माण न होने पर भी सप्तसैन्धव प्रदेशीय देवोपासना के अन्तर्गत स्तुतिपाठ, यज्ञ-हवन के अतिरिक्त कालान्तर में प्रतीकात्मक देवपूजा का भी प्रचलन प्रारम्भ हो गया था, क्योंकि कतिपय देवताओं[7] (अग्नि, इन्द्र, मरुत, रुद्र आदि) के मानवोपम भौतिक स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त

१. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २०७।
२. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २०७।
३. ऋग्वेद, ५/१४/३, १०/६१/१५।
४. ऋग्वेद, १०/६१/१४—"यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः। कीलालपे सोमपृष्ठाय वेध से हृदा मतिं जनये चारुमग्नये।" वही, १०/६१/१५, १०/२७/२, १७, १/१६२/१२, १३।
५. ऋग्वेद, १/२४/१३-१५।   ६. ऋग्वेद, १०/६१/१४।
७. ऋग्वेद, ३/२६/७ (अग्नि), ४/३/१ (अग्नि), १०/२३/१ (इन्द्र), १०/८६/३ (इन्द्र), १/११४/१ (रुद्र), ७/३४/१० (वरुण)।

ऋग्वेद में एक ऋचा[1] के अन्तर्गत इन्द्र की (प्रतिमा) को क्रय करने का भी उल्लेख हुआ है।

जादू टोना—ऋग्वेद मे कतिपय स्थलों से प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के अधिकांश स्थलों में स्तुति, यज्ञीय हवि, सोम आदि से देवाराधन होता ही था, किन्तु इसके साथ मन्त्र-तन्त्र अथवा जादू-टोने से ही देवी तथा अन्य व्यक्ति से अभीष्ट सिद्धि की जाती थी। इस ओर आर्य स्त्रियों की विशेष अभिरुचि परिलक्षित होती है, जिसमे मन्त्र-तन्त्र के अतिरिक्त जादू-टोने मे वनस्पति (जडी-बूटी)[2] की औषधि प्रयुक्त होती थी जिससे उनका अभीष्ट प्रयोजन (सौतों से संघर्षजन्य परित्राण[3]) पूर्ण होता था। इस मन्त्र-तन्त्र, टोटके-टोनो का विकसित स्वरूप हमें अथर्ववेद में प्राप्त होता है।

समीक्षा—देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों) के प्रति हार्दिक भावना (श्रद्धा) व्यक्त करने की उपासना ही जनप्रिय साधन के रूप में ऋग्वैदिक काल से ही प्रचलित रहा है जिस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक प्रभाव परिलक्षित होता है। जिन प्राकृतिक शक्तियो के प्रतिमान देवताओं की उपासना की जाती थी वे भौगोलिक कारकों से भिन्न नही है तथा उन्ही के अनुकूल प्रभाव से अधिक उत्पन्न होने वाले पूजा के विविध उपकरणो—दूध, घृत, यव, गवाशिर, यवाशिर, सोम, अश्व, वृष, गो, मेष, अज आदि पशुधन को भी पूजा मे प्रस्तुत किया जाता था। अनुकूल जलवायु से अधिक मात्रा मे इन पूजा के साधनों से उत्पन्न होने के कारण ही सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव की देवोपागना सतत् सुचारुरूपेण सम्पन्न होती थी।

दर्शन—सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव ने धर्म एवं उपासना के अतिरिक्त दर्शन (तत्त्वज्ञान) के प्रति भी अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि को अभिव्यक्त किया है। जगत् एवं जीव की सृष्टि प्रक्रिया के साथ ही भौतिक विविध रूपों मे किन प्राकृतिक शक्तियों का क्या योगदान रहता है आदि रहस्यपूर्ण विषयों पर भी ऋग्वैदिक आर्यों ने गंभीर विचार कर दार्शनिक पक्ष को भी उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

---

१ ऋग्वेद, ४/२४/१० – क इमं दशभिः ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।

२. वही, १०/१४५/१—विशिष्ट वनस्पति की जड़ें खोद कर प्राप्त की जाती थी। १०/१४५/२ उठे (लम्बे) पत्तों वाली वनस्पतियों का उपयोग।

३. वही, १०।१४५/१—इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमां। यया सपत्नी बाधते, यया सविन्दते पतिम्। १४५/२ –उत्तानपर्णे सुभगे···सपत्नी मे परा। १०/१४५/३, ४, ५।

यहाँ सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव के जीवनदर्शन के साथ दार्शनिक विचारों पर भौगोलिक प्रभाव की भी विवेचना की जा रही है।

ऋग्वेदकालीन यज्ञीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत अनेक भौगोलिक कारकों (सूर्य = तापक्रम, पर्जन्य-इन्द्र = वृष्टि, आप-वरुण = जल, मरुत-वात = वायु आदि) को देवता स्वरूप शाश्वत प्राकृतिक शक्तियों से समीकृत करते हुए उनके सृष्टिप्रक्रिया में कारणभूत उनके पृथक्-पृथक् प्रभावी गुणों का भी वर्णन किया गया है, यद्यपि ऋग्वेद में अनेक भौतिक तत्त्वों (देवताओं) की सर्वशक्तिमत्ता के रूप में महत्ता प्रतिपादित हुई है, तथापि बहु-देवतावादी दृष्टिकोण से एक व्यापक सत्ता द्वारा सृष्टि सूत्र संचालन की संभावना विश्वकर्मा[1], हिरण्यगर्भ[2], पुरुष[3], प्रजापति[4] आदि सूक्तों में व्यक्त होकर 'एकेश्वरवाद'[5] का भी सिद्धान्त व्यक्त हुआ है जिसके अनुसार वह परमेश्वर इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार 'बहुदेववाद' से 'एकेश्वरवाद' की अनुभूति सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव के यथार्थ दर्शन की महान् उपलब्धि है।

सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित दार्शनिक विचारों में पूर्ण रहस्य और अनिश्चय व्यक्त करते हुए भी प्रत्येक सम्भाव्य तथ्य को यथार्थ के आधार पर उपस्थित करने का समीचीन प्रयास कतिपय ऋचाओं[6] में दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त अलंकृत भाषा में जीवात्मा एवं परमात्मा का भी स्पष्ट संकेत मिलता है[7], जिसमें जीवात्मा

---

१. ऋग्वेद, १०/८१/१—य इमा विश्वा भुवनानि जुहवदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। १०/८१/२—किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामोर्णोन्महिनाविश्वचक्षुः। १०/८१/३—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो०···। १०/८१/४, किं स्विद्वनं क उस वृक्ष।

२. वही, १०/१२१/१—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्, १०/१२१/२-१०।

३. वही, १०/९०/१, २, ६, १०, १२।

४. वही, १०/१२९/१—७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदिवा नवा यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंगवेद यदि वा न वेद।

५. वही, १/१६४/४६, एकं सद् विप्राः बहुधावदन्ति, ३/५५/१, महद्देवानामसुरत्वमेकम्, ५/८५/१।

६. वही, १/१६४/४-६, १०/१२९/१-७, १०/८१/२।

७. वही, १/१६४/२०।

को अमर कहा गया है[1] तथा परमात्म तत्व[2] की स्थापना द्वारा समस्त मत-मतान्तरों के भेदभाव को मिटा कर एकात्म-(सर्वात्म) वाद की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः भ्रमवश तत्वविदों ने एकत्व में बहुत्व की कल्पना कर ली है,[3] किन्तु ऋग्वैदिक एकत्ववाद की धारणा सर्वथा आधारयुक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है।

ऋग्वैदिक एकत्ववाद के अन्तर्गत न केवल जीवात्मा एवं परमात्मा की एकता अथवा अभिन्नता ग्राह्य है, अपितु अनेक भौगोलिक उपकरणों अथवा प्राकृतिक दशाओं में आत्यन्तिक एवं शाश्वत एकता (नियमितता) निहित है, जिसे सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, दिन-रात आदि के नियमित व्यापारों के द्वारा सत्य पाया जा सकता है। इन विविध प्राकृतिक शक्तियों के नियमबद्ध कार्य करने तथा इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी सप्तसैन्धव-प्रदेशीय मानव के द्वारा दार्शनिक जिज्ञासा[4] व्यक्त की गई है, साथ ही इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि-जैसी प्राकृतिक शक्तियों की सामान्य प्रभावशालिता के लिए 'असुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[5]

यद्यपि प्रारम्भ में सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव-मन में इन प्रभावशाली भौगोलिक कारकों (देवताओं) के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास विद्यमान था, तथापि कालान्तर में इनकी भी सत्ता के साथ उत्पत्ति के सम्बन्ध में तार्किक बुद्धि यथार्थ विवेचन में प्रवृत्त हो गई, परिणामतः इन्द्र (वर्षा एवं विद्युत् गर्जन का देवता) भी इस अन्धविश्वास से मुक्त बौद्धिक निरूपण से अछूता न रह सका[6] और सभी प्राकृतिक शक्तियों का नियामक एक ही परम तत्व (ईश्वर) ही माना गया[7] जिसके सम्बन्ध में गहरी जिज्ञासा रहस्यमयी पृष्ठभूमि[8] पर व्यक्त की गई है।

---

१. ऋग्वेद, १/१६४/३०।
२. वही, १/२७/८, १/१६४/६, २०, १०/३१/८।
३. वही, १०/११४/५-८, यजुर्वेद, ३३/२-४।
४. वही, १/२४/१-१४।
५. वही, १/५४/३ (इन्द्र), १/२४/१४ (वरुण), १/३५/७, (सूर्य), ४/२/५ (अग्नि), ३/५५/१, महद्देवानामसुरत्वमेकम्।
६. वही, २/१२/५।
७. वही, १०/१२१/१, १/१६४/४६, एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।
८. वही, १/१६४/४-६।

इस भौगोलिक तथ्य (एकत्ववाद) पर आधारित सत् तत्त्व (कारण) से स्थावर एवं जंगम की समुत्पत्ति[1] (क्रिया[2], अज्ञेय और अनिर्वचनीय स्वीकार की गयी है, जिसे तत्त्ववेत्ताओं ने अनेक अभिधानों से उल्लिखित किया है।[3] किस निमित्त एवं उपादान कारण से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुई, इसका ज्ञान देवताओं को भी नहीं है, यह सृष्टि कहाँ से हुई और किसने की, यह तथ्य परमधाम में रहने वाला इसका स्वामी (परमेश्वर) ही जानता होगा, संभव है वह भी न जानता हो जैसी जिज्ञासा दार्शनिक पुष्ठभूमि को पुष्ट करती है तथा हमें इस सम्बन्ध में और सोचने को प्रवृत्त करती है।

समीक्षा—सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव ने दर्शन के क्षेत्र में अनेक प्राकृतिक शक्तियों (भौगोलिक कारकों) की महत्ता स्वीकार करते हुये बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर चिन्तन कर प्रकृति की नियमबद्धता के आधार पर एकत्ववाद का जो उदात्त एवं विशाल दृष्टिकोण रखा, वह विश्व के दर्शनशास्त्रियों द्वारा भी ग्राह्य एवं अनुमोदित हुआ। ड्यूसन महोदय के मतानुसार प्राचीन मिस्र मे भिन्न-भिन्न देवताओं का पारस्परिक तादात्म्य मान कर तथा फिलिस्तीन में मात्र 'जेवोहा' की उपासना अनुमोदित कर 'एकेश्वरवाद' ही स्थापित किया गया।[4] मैक्समूलर महोदय की भी यह समीचीन अवधारणा है कि ऋग्वेद संहिता का चाहे जब संकलन हुआ हो, उस समय के पूर्व आर्य ऋषियों को जो 'सत् तत्त्व' का ज्ञान हो चुका था, वह तत्त्व सांसारिक बन्धनों, उपाधियों व्यक्तिगत बन्धनों आदि से परे था। यह वही ईश्वर तत्त्व (दर्शन) था, जिसे ऐलेक्जैण्ड्रिया के ईसाइयों ने भी स्वीकार किया था, किन्तु वे तत्त्वतः इसे नहीं जान सके हैं।[5]

वस्तुतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मानव प्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक वातावरण से पूर्ण प्रभावित होकर अपनी दार्शनिक विचारधारा से एकेश्वरवाद से आगे बढ़ कर 'एकत्ववाद' के निष्कर्ष पर पहुँचे थे, क्योंकि उन्होंने प्रकृति के विविध रूपों में दृश्यमान अनेकता के अन्तर्गत सन्निहित एकता (नियमबद्धता) को अन्वेषित कर लिया था।

---

१. ऋग्वेद, ३/५४/८-९।

२. ऋग्वेद, १०/१२९/१-७।

३. ऋग्वेद, १/११४/५, १६४/४६।

४. उद्धृत ऋग्वेद, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, दिल्ली, १९६७, पृ० ८७।

५. आउट लाइन्स, ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पेज १३।

ज्ञान-विज्ञान—सप्तसैन्धव-प्रदेश का मानव लौकिक, विविध विषयों के ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न परिलक्षित होता है। अपनी इसी ज्ञान-विज्ञान की विस्तृत पृष्ठभूमि पर वह अनेक आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एव सांस्कृतिक क्रियायें सम्पादित किया करता था, जिनके कारण महान् आर्य संस्कृति ने समृद्धि पाकर विश्व भर को आकृष्ट किया है। ज्ञान-विज्ञान के जिन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव की सामान्य पहुँच थी, उनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

लोक-परलोक—सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्यों का इस लोक (पृथ्वी) के अतिरिक्त अन्य सात[1] बाह्य लोकों का भी सम्यक् ज्ञान था। इस सन्दर्भ मे यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव को भली-भाँति ज्ञान था कि आकाश (अन्तरिक्ष) मे सब पदार्थों का धारण करती हुई पृथ्वी (दिन-रात चक्रके समान) घूमती है[2] तथा सूर्य से प्रकाशित है।[3] पृथ्वी के २१ नाम[4], उसकी तीन भूमियों और ६ से ८ तक दिशाओं[5] के साथ उत्पत्ति एवं प्राचीनता भी ज्ञात थी।[6] अन्तरिक्ष में पारस्परिक आकर्षण शक्ति[7] अवस्थित पृथ्वी के भूकम्प आदि के सम्बन्ध में आर्यों का गम्भीर ज्ञान अनेक स्थलों पर व्यक्त हुआ है।[8] पृथ्वी की उत्पत्ति के पूर्व जल का अस्तित्व[9], उसकी नाभि (Centre) में प्रकाशक एवं तापयुक्त अग्नि का होना[10] आदि अनेक लौकिक तथ्यों का भी सप्तसैन्धव प्रदेश के मानवों को सम्यक् ज्ञान था।

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्यों की परलोक सम्बन्धिनी अवधारणा भी अभिव्यक्त हुई है, जिसके अनुसार उन्हें सामान्यतया तीन से लेकर सात लोकों का ज्ञान था।[11] तीन लोकों के अन्तर्गत पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग को ग्रहण किया जा

---

१. ऋग्वेद, १/१२/६, पृथिव्याः सप्त धामभिः।
२. ऋग्वेद, १/१८५/१, विश्वात्मना विभृतो यद्धनाम विवर्तते अहनी चक्रियेव।
३. ऋग्वेद, ६/३२/२, समातरा सूर्येण कवीनाम्।
४. ऋग्वेद, ९/८७/४, त्रिः सप्तं नामाघ्न्या बिभर्ति।
५. ऋग्वेद, ७/८७/५, तिस्रो द्यावो...तिस्रो भूमारुपरा षड्विधानाः।
६. ऋग्वेद, ६/५४/९। ७. ऋग्वेद, ३/५४/७, १०/८५/१।
८. ऋग्वेद, ३/५५/१२ तथा ५/५८/७।
९. ऋग्वेद, १०/१२९/३, अप्रकेतः सलिलं सर्वमाइदम्।
१०. ऋग्वेद, ३/५/९३, उदुष्टतः समिधा यह्वो अद्यौद्वर्ष्मन्दितो अधिनामा पृथिव्या।
११. ऋग्वेद, २/२७/८, ६/५१/२, ३/५५/१४, ५६/२, ५, ४/५३/५, १/२२/६, १/६४/६, ५/६९/१, ६/८/७।

सकता है। एक ऋचा[1] में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि पृथ्वी अथवा आकाश ही अन्तिम नहीं हैं और कुछ भी उनके ऊपर विद्यमान है। सूर्य लोक को अन्तरिक्ष की पीठ मानते हुए[2] उसे तीनों लोकों के ऊपर तथा व्याप्त करने वाला बताया गया है,[3] जिनमें पृथ्वी प्रत्यक्ष तथा स्वर्ग और अन्तरिक्ष गुहानिहित (अप्रत्यक्ष) हैं।

व्यापक आकाश—अन्तरिक्ष को भी तीन भागों[4] मे विभाजित करते हुए ऋषियों ने अन्य तीन लोकों का भी संकेतात्मक परिचय दिया है, जिनका आविर्भाव सूर्य के द्वारा ही हुआ है।[5] इन प्रमुख तीन लोकों में पृथ्वी (मर्त्य लोक) के अतिरिक्त अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग का अनेक स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होता है। प्रतीत होता है, व्यापक अन्तरिक्ष के तीन भागों 'लोकों) में यमलोक[6] सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव द्वारा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, जिसके निर्देशानुसार उसी अपने पूर्वजों के द्वारा गमन किये मार्ग पर चल कर प्राणी यमलाक को प्रस्थ न करते हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा[7] से यमलोक को पितृलोक (जहाँ मृत होने पर पितर या पूर्वज निवास करते हैं), से सर्वथा अभिन्न माना जा सकता है, जहाँ तक पहुँचने वाले मार्ग में चार आँखों वाले काले कुत्ते भी मिलते हैं।

स्वर्गलोक को निरन्तर ज्योतिर्मय, अक्षय आनन्द एवं प्रमोदप्रद (नाक) देवताओं का निवास मानते हुये[8] वहाँ पहुँचने की मनोकामना व्यक्त की गई है। कक्षीवान् ऋषि ने भी देव-भक्तों का देवों के लोक स्वर्ग को प्राप्त होने का वर्णन किया है।[9]

ग्रह एवं नक्षत्र—सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव को लोक एवं परलोक के अतिरिक्त ग्रह एवं नक्षत्रों का भी गम्भीर ज्ञान था। अनेक ऋचाओं में इस ज्ञान को खगोलशास्त्रीय वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है। समस्त ज्योतिषपिण्डों (ग्रहों) में सूर्य सर्वश्रेष्ठ माना गया[10]

---

१. ऋग्वेद १०/३१/८, २. वही, ३/२/१२, १/३५/५।
३. वही, २/५५/१४, तथा ३/५६/२, १/१६४/१०।
४. वही, ५/४२/४, तथा ४/५३/५। ५. ऋक्० ३/५६/५।
६. ऋग्वेद, १०/१४/२। ७. वही, १०/१४/१०।
८. वही ९/११३/७ तथा ९/११३/११, यत्रानन्दाश्चमोदाश्च मुदःप्रमुद आसते।
९. वही, १/१२५/५।
१०. ऋग्वेद, १०/१७०/३—इदंश्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं·····।

है, जो सभी पदार्थों को प्रकाशित[१] एवं प्राणवान् करता है। सूर्य की महिमा से दिन-रात भी क्रमपूर्वक भ्रमण करते हैं।[२] सूर्य के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रहों में चन्द्रमा, बृहस्पति आदि उल्लेखनीय हैं। चन्द्रमा को अन्तरिक्ष में गगनचुम्बी ज्वालाओं के समान[३] (चमकता) बताते हुये सूर्य के समान निर्बाध परिभ्रमण करने वाला[४] वर्णित किया है। बृहस्पति को भी गमनशील, व्रज के समान चमकने वाले आयुध से युक्त संहारक एवं दर्शनीय बताया गया है।[५] सूर्य की १२ राशियों का भी[६] आदित्यरूप में संकेत करते हुये स्थानभेद[७] से उसे अनेक मानते हुये भी उसके २१ स्थान निर्दिष्ट किये हैं[८] जो सूर्य की हरी रंग की किरणों से युक्त हैं तथा जहाँ ऋभुगण आर्द्रा जैसे तर्षाकारक १२ नक्षत्रों के साथ रह कर वृष्टि द्वारा कृषि को धन-धान्य से परिपूर्ण और नदियों को प्रवहमान[९] बनाते है।

दिव्य लोक के निचले भाग (अन्तरिक्ष) में नक्षत्र प्रत्यक्ष[१०] परिलक्षित होते हैं तथा सूर्य के द्वारा ये सभी ग्रह नक्षत्र प्रकाशित होते है।[११] इन नक्षत्रों के तेजस्वी एवं कल्याणकारी होने की भी कामना की गई है[१२], इसके साथ ही एक ऋचा में महत्त्वपूर्ण नक्षत्रों में अघा या मघा के दोनों फाल्गुणी नक्षत्रों (पूर्वा तथा उत्तरा फाल्गुणी) का भी उल्लेख किया गया है।[१३] नक्षत्रो से आकाश को शोभावान् मान कर[१४] उनका वर्णन् किया गया है, अतएव स्पष्ट है कि आर्यों को ग्रह-नक्षत्रों का पूर्ण ज्ञान था।

-इसके अतिरिक्त कभी-कभी अन्तरिक्ष में ग्रह-नक्षत्रो की असमान्य गति से जो

---

१. ऋग्वेद, १०/१७०/३ तथा ६/३२/२, ३/३७/८।

२. वही, ३/३१/१७। ३. ऋग्वेद, २/२/४, तमुक्षमाणं···चन्द्रमिव सुरुचं /

४. वही, ५/५१/१५, स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

५. वही, २/३०/४, तथा ३/२०/५, ३/६२/६, ४/५०/१, ६/७३/१, तथा ७/९७/७,८।

६. वही, ३/८/८, तथा ४/३३/७। ७. ऋक्० ८/५२/२, ९/११४/३, ४/३३/७।

८. वही, ८/६९/७, तथा ८/५२/२।

९. ऋग्वेद, ४/३३/७।

१०. वही, ३/५४/५ तथा ३/५४/१९, द्यौरु ताप: सूर्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम्।

११. वही, ७/८१/२, उदस्रियाः सृजते सूर्यः सचां उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।

१२. वही, ९/९१/६—शं नः क्षेत्रमुरुज्योतींषि····।

१३. वही, १०/८५/१३— अघासु हन्यते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।

१४. वही, १०/६८/११—नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।

तारे परस्पर टकरा जाते हैं, उनके उल्कापात[1] के रूप में अन्तरिक्ष से नीचे पृथ्वी पर गिरने का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर आकाशीय अग्नि के रूप में पुच्छल तारे (धूमकेतु)[2] का भी उल्लेख इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद की धारा एक ऋचा (१/२४/१०) में उच्चाः शब्द द्वारा तथा अन्यत्र भी स्पष्ट रूप से सप्तर्षि मण्डल[3] के स्थान का समुल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें ध्रुवतारे का भी सुनिश्चित संकेत किया गया है, जिसके चारो ओर सात तारे एवं नक्षत्र कुम्हार के चक्र के समान चक्कर लगाते हैं। एक स्थल पर सूर्य अथवा इन्द्र का अपने तेज अथवा तारों (Stars) को रथ-चक्र के समान घुमाना कहा है।[4]

काल-निर्धारण—सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव खगोल-शास्त्र के साथ ही ज्योतिष शास्त्र से संबधित विविध मानदण्डों के आधार पर काल-निर्धारण द्वारा अपनी आर्थिक, धार्मिक (यज्ञ सम्बन्धी), सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनेक क्रियाओं को सम्पादित करता था। अन्तरिक्ष मे सूर्य की अवस्थिति एवं उसके समक्ष पृथ्वी के नियमित परिभ्रमण से आर्यों ने विभिन्न लघु और दीर्घ काल-स्वरूपों को निर्धारित किया था जिनमें संवत्सर[5], ऋतु[6], मास[7], दिन-रात[8] आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

संवत्सर—सामान्यतया सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती हुई पृथ्वी का एक चक्र, संवत्सर अथवा वर्ष (साल) कहा गया है, जो १२ मासों (महीनों) अथवा तीन प्रमुख ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) अथवा ३६० दिनों से परिपूर्ण होता है।[9] एक ऋचा में इस तथ्य को स्पष्ट वर्णित किया गया है। अन्य स्थलों[10] में भी संवत्सर का

---

१. ऋग्वेद, ४/४/२ तथा १०/६८/४, अवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्यौः।
२. वही, १०/४/५—वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
३. वही, १०/८२/२ तथा १/२४/१०—अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा। नक्तं ददृशे...... ।
४. वही, १०/८९/२—ससूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येवचक्रा।
५. वही, १/११०/४, १/१६१/१३, १/१४०/२—अभिद्विजन्मा...संवत्सरे।
६. वही, १/१५/२, १/१५/४, १/१५/५, ६, ८, १०, ११, १२।
७. वही, १/२५/८, ६/२४/७—न मं जरन्ति शरदो न मासा न द्याव...।
८. वही, १/११५/५, १/१२३/७, ३/५५/११, ७/१३/४, ५/४७/५, ६/५८/३, १०/१९०/२। ९. वही, १/१६४/४८—द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि...।
१०. वही, १/११०/४ तथा १/१६१/१३, १/१४०/२।

एक वर्ष के रूप में समुल्लेख मिलता है, जो ऋग्वैदिककालीन सप्तसैन्धव प्रदेश के निर्धारित काल-स्वरूप की सामान्यतः सबसे बड़ी इकाई प्रतीत होती है।

ऋतु—सामान्यतः भौगोलिक दृष्टि से सूर्य के समक्ष चारों ओर अण्डाकार मार्ग से प्रदक्षिणा करती हुई पृथ्वी पर तापक्रम एवं वर्षा जैसे जलवायु के कारकों के आधार पर जो वार्षिक काल-विभाजन किया गया, उसे ऋतु की संज्ञा दी गई है। एक संवत्सर अथवा वर्ष में प्रायः ३ से लेकर ६ ऋतुएँ मानी गई हैं, जिनमें तीन ऋतुएँ[1] (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) ही प्रमुख थी, किन्तु जलवायु (तापक्रम, वर्षा, वायुभार आदि) संबंधी सूक्ष्म परिवर्तन के आधार पर दो-दो महीनों की एक ऋतु मान कर छः ऋतुएँ[2] निर्धारित की गई है, जिसमे ग्रीष्म, वर्षा, शीत के अतिरिक्त शरद्, हेमन्त (शिशिर या शीत), तथा वसन्त उल्लेखनीय है।[3] सामान्यतः सूर्य के प्रभाव से[4] संवत्सर में छः ऋतुएँ मानी गई है, किन्तु कभी-कभी हेमन्त और शिशिर को एक कर देने पर पाँच ऋतुएँ[5] तथा मलमास सहित सात[6] ऋतुएँ निर्दिष्ट की गई हैं।

इन ऋतुओं का अधिष्ठाता सूर्य है तथा इनके प्रभाव से प्राकृतिक वनस्पति कृषि उपज, मानव-निवास (गृह), वेशभूषा आदि विविध रूप भी परिलक्षित होते हैं, इसके साथ ही सप्तसैन्धव प्रदेश मे मानव काल-गणना में ऋतुओं को ग्रहण करता है।

मास—एक संवत्सर मे सामान्यतः १२ मास[7] किन्तु कभी-कभी मलमास (अतिरिक्त महीने) को मिला कर १३ महीने[8] तक भी होते हैं। सूर्य के समक्ष पृथ्वी की दैनिक परिक्रमा के ही आधार पर जो दिन-रात निर्धारित किये हैं, इन ३० दिनों से एक मास पूरा होता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में[9] उषा द्वारा तीसों दिन आकाश

---

१. ऋग्वेद १/१६४/४८ तथा ५/४७/४, ७/१०१/२।
२. वही, ३/५६/२—षड्भारा एको अचरत्बिभर्त्यृतं···।
३. वही, १/१७३/३ तथा ६/१०/७, १२/६, १३/६, २४/१०, (हेमन्त) १०/९०/६ तथा ७/६६/१६ (शरद्), १०/१६१/४, ३/३२/९—ओजो नाह्रा नमासाः शरदो···वसन्त।
४. वही, २/३८/४, १०/१२४/३।
५. वही, ३/५५/१८····षोलहायुक्तापंच पञ्च वहन्ति।
६. वही, २/४/३—सप्तचक्रं रथमविश्वामिन्वम्···पंचरश्मि।
७. वही, १/१६४/४८, द्वादश प्रधयश्च चक्रमेकं।
८. वही, १/२५/८। ९. ऋग्वेद, १/१६४/११।

की परिक्रमा करने का उल्लेख हुआ है। विद्वानों द्वारा चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने के आधार पर २७॥ दिनों का नक्षत्र मास, पूर्णिमा से पूर्णिमा तक २९॥ दिनों का चान्द्रमास और तीस सूर्योदयों (दिनों) का अथवा एक राशि से दूसरी राशि तक का सावन मास या सौर मास माना जाता है।[1] ऋग्वेद में ३० दिनों के मास का सामान्य रूप में समुल्लेख हुआ है।[2]

दिन-रात—पृथ्वी की सूर्य के समक्ष दैनिक गति के कारण क्रमशः सूर्य का प्रकाश और अप्रकाश (छाया) दिन और रात होते हैं। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर[3] दिन-रात का काव्यात्मक एवं तथ्यपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है, जिसके अनुसार सूर्य द्वारा काले रंग की अन्धकारयुक्त रात को भगा कर दिन[4] लाने का उल्लेख हुआ है। दिन-रात को सूर्य की दो कन्याएँ[5] भी कहा गया है, जो परस्पर बँधी हैं तथा दो पावों के समान आकाश और पृथ्वी के मध्य व्याप्त हैं।[6] सूर्य के उत्तरायण (देवयान) की ओर चढ़ने पर तथा पृथ्वी के ६६½° झुके होने के कारण ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े और इससे विपरीत सूर्य के दक्षिणायन (पितृयान) की ओर होने पर ६६½° झुकी पृथ्वी पर शीत ऋतु में दिन छोटे होते हैं।

इस छोटी इकाई दिन-रात के अतिरिक्त काल-गणना में आगे प्रहर, घटी, पल आदि भी आविष्कृत हुए, जिनका ज्योतिष् में पूर्ण उपयोग होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, सप्तसैन्धव प्रदेश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में काल-निर्धारण ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो वायुमण्डल के वातावरण एवं भूगोलशास्त्र पर बहुत आधारित रहता है।

संख्या एवं तौल-माप—सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव आर्थिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक जीवन में निष्क[7] जैसी स्वर्ण-मुद्राओं के साथ ही संख्याओं एवं तौल-माप के प्रतिमानों से भी पूर्ण अवगत था क्योंकि इनका नित्यप्रति सामान्य रूप से लोक-व्यवहार होता था।

---

१. ऋग्वेद, पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, १९६७, दिल्ली, पृ० १४५।

२. ऋग्वेद, ३/३१/८, ६/६४/७, नवं जरन्ति शरदो न मासा न बाव इन्द्रमवकर्शयन्ति।

३. वही, ३/५५/११, ६/९/१, ३/५८/१, ६/३९/३, ८/१/२९, १०/१९०/२।

४. वही, ७/१३/४। ५. वही, ६/४९/३, ५/४७/५।

६. वही, ३/५५/१५। ७. वही, ५/१९/३, ७/५६/११।

संख्या—ऋग्वैदिक आर्य सभी संख्याओं के ज्ञान से संपन्न थे, क्योंकि ऋग्वेद में एक से लेकर[1] बीस तक तथा बीस से लेकर ९० तक दशिक[2] संख्यायें, तत्पश्चात् शत, सहस्र[3], दश सहस्र आदि संख्याओं का अनेक स्थलों में उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है, संख्या का अन्त अयुत[4] (दस सहस्र) तक ही था, किन्तु इससे आगे की संख्याएँ शत अथवा सहस्र लगा कर प्रयुक्त की जाती थी, जिसको वसिष्ठ ऋषि की एक ऋचा से पुष्ट किया जा सकता है, जिसमे साठ सौ, छः सहस्र, साठ और छः गौ लूटने के इच्छुक अनु और द्रुह्यु वीरों के सोने (मरने) का उल्लेख हुआ है।[5]

सप्तसैन्धव प्रदेशीय मनस्वी मानव उपर्युक्त संख्याओं के प्रयोग में परम प्रवीण थे। वे आवश्यकतानुसार इन सख्याओं को योग[6], गुणन[7] आदि क्रियाओ से भी आविष्कृत करते दृष्टिगत होते है। ऋग्वेद के आधार पर प्रतीत होता है आर्य लोग इन संख्याओं का प्रयोग अपने आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक (सैन्य) जीवन के विविध अवसरो पर अपने पशुधन (गायो, अश्वों, भेड़ों आदि) स्वर्णनिष्को, नावों की पतवारों, युद्ध मे भाग लेने वाले सैनिको, अनुचरो आदि की गणना मे किया करते थे।

तौल (भार के प्रतिमान)—यद्यपि वस्तुओं अथवा पदार्थों को विभाजित करने अथवा उनके परिमाण या भार को ज्ञात करने के लिए ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश मे तुला (तराजू) के प्रयोग के प्रमाण नही प्राप्त होते हैं तथापि तुला के स्थान पर परिमाण ज्ञात करने के लिए विशिष्ट आकार-प्रकार के परिमाणसूचक कतिपय पात्रों का उपयोग अवश्य ही किया जाता था, जिनमे खारी[8] और द्रोण[9] उल्लेखनीय है।

---

१. ऋग्वेद, ६/३०/१ तथा ६/४५/५ (एक, दो)।
२. वही, २/१८/५-६—(बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे)।
३. वही, ८/२१/१८, १/८०/९, १/५३/६—(सहस्र दश सहस्र) १०/८५/४५ (ग्यारह), ४/३३/७, १०/११४/७-८, २/१८/४ (अठारह)।
४. वही, ८/२१/१८ "'वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्। तथा पं० वि० ना० रेउ एवं श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अयुत को १० हजार स्वीकार किया है, ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २१८ तथा ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ९१।
५. वही, ७/१८/१४।
६. वही, १/५३/९।
७. वही, १/१३३/४।
८. वही, ४/३२/१७, सहस्रं व्यतीनां"'शतं सोमस्य खार्यः।
९. वही, १०/१०१/७, प्रीणीताश्वान्'''।

खार —डॉ० मेक्डानेल[1] व कीथ ने खारी को सोम की एक माप मानते हुए इसके निश्चित प्रतिमान को नहीं व्यक्त किया है। श्री राहुल सांकृत्यायन[2] ने १ खारी को ३ बुशल के बराबर माना है, जबकि श्री द्वारका प्रसाद शर्मा[3] एवं तारिणीश झा ने १ खारी की तौल को १२ मन ३२ सेर निर्दिष्ट किया है। बहुत संभव है, समय-समय पर खारी का आकार-प्रकार (प्रतिमान) परिवर्तित होता रहता था। कौटिल्य[4] ने मौर्यकालीन खारी की तौल को १६ द्रोण के बराबर बताया है, जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रोण (जो प्रायः लकड़ी या पत्थर के टब या नाँद जैसे आकार का पात्र, जिसमें प्रायः १६ से ३२ सेर की तौल की वस्तु भरी जा सकती थी) की अपेक्षा खारी बहुत बड़ी तौल की वस्तु मापने का पात्र था।

द्रोण—खारी की अपेक्षा अत्यन्त अल्प भार की वस्तु या सोमादि द्रव पदार्थ रखने का लकड़ी के कठौते अथवा टब या नाँद जैसे आकार का पात्र था, जिसकी सामान्यतः १६ से ३२ सेर तक की तौल रखने की क्षमता[5] मानी गई है। कौटिल्य की मान्यता[6] के आधार पर कहा जा सकता है कि इसका ४ रूपों में (आकार-प्रकारों में) प्रचलन होता था, किन्तु सामान्यतः २० द्रोण[7] एक कुम्भ को पूर्ण करते थे। इन बड़ी तौल के पात्रों से सिद्ध होता है कि छोटी तौल के पात्रों 'पसर' आदि का भी प्रयोग सप्तसैन्धव प्रदेश में होता होगा।

माप—स्थानादि का अन्तर (दूरी) को भी मापने के लिए सप्तसैन्धव प्रदेश में सुनिश्चित रूप से निश्चित मापों का भी उपयोग मानव द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में स्थल आदि के विस्तार को व्यक्त करने वाली विशिष्ट मापों का नारायण एवं कक्षीवान ऋषि द्वारा उल्लेख हुआ है, जिससे अंगुल[8] से लेकर

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, (अनु० रामकुमार राय), १९६२ बनारस, पृ० २४० आल्टिण्डिशे लेबेन, त्सिमर, २८०।
२. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ५२३ (परिशिष्ट)।
३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, १९५०, इलाहाबाद, पृ० ३७६।
४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २ अधिकरण, १९ अध्याय, ३७ सूत्र "षोडशद्रोणा खारी"।
५. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ५४१।
६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१९/३२–३५।
७. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ५२५, २१८।
८. ऋग्वेद, १०/९०/१, स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

योजन[1] तक की माप के छोटे-बड़े प्रतिमान ज्ञात होते हैं, जिसके अनुसार विराट् पुरुष भूमि को चारों ओर लपेट कर दस अंगुल अधिक बढ़ा कर अवस्थित हैं एवं उषाएँ तीस योजन तक जाती (कार्य करती) हैं।

वस्तु या स्थल की दूरी मापने में इस छोटी माप की इकाई अंगुल और सबसे बड़ी माप की इकाई योजन के बीच में, विद्वानों के अनुमान[2] के आधार पर हस्त (हाथ) और धनुष लट्ठे (गाँठें) आदि के विशिष्ट माप ग्रहण किये जा सकते हैं। उपर्युक्त मापों के आधार पर कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव अपने आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक जीवन में प्रायः खेतों[3], यज्ञ-वेदिकाओं, गृहों, मार्गों, राज्यों आदि के विस्तार को मापने के लिये इन मापों का उपयोग करता था।

यांत्रिक उपलब्धि—यंत्र-विज्ञान से संबंधित पर्याप्त प्रगति सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव ने प्राप्त की थी, क्योंकि उसका तत्कालीन आर्थिक, व्यापारिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में प्राकृतिक शक्तियों (भौगोलिक कारकों) को दृष्टि में रखते हुए भौतिक समृद्धि को भी अर्जित करना एक ध्येय रहा। इसकी पूर्ति करने में गमनागमन के उपयुक्त साधन (वाहनादि) ही सर्वाधिक सहायक समझे गये हैं। अतएव आर्यों के सर्व-प्रथम महत्त्वपूर्ण यांत्रिक आविष्कार पहियों वाले स्थलीय यानों के अतिरिक्त जलीय यान (नौकाएँ) हैं, शकटों (अश्व द्वारा परिचालित) जिनमें तीन खम्भों एवं तीन पहियों वाले रथों[4], ऋभुओं का बिना अश्वों के चलने वाले (स्वचालित[5]) रथों के अतिरिक्त पतवारों से खेई[6] जाने वाली तथा बिना पतवारों के स्वयं चलने वाली परों (पंखों) वाली नौका उल्लेखनीय है।[7]

---

१. ऋक्०, १/१२३/८—अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः। वही०, १०/८६/२०, धन्व···कति स्वित् ता वियोजना।
२. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २१८।
३. ऋक्०, १/११०/५—(खेतों को मापदण्ड से नापने का उल्लेख), १०/१३०/३—कासीत् प्रमा प्रतिमा ···· (यज्ञ वेदी की नाप)।
४. ऋग्वेद, १/११८/२—त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्। ८/८/२३—त्रीणि पदान्यश्विनोराविः···।
५. वही, ४/३६/१—अनश्वो जातो अनभीशु रुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।
६. ऋक्० १०/१०१/२—नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
७. ऋग्वेद, १०/१४३/५—युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम् यातमच्छापतत्रिभिः।

समीक्षा—इससे यह स्पष्ट है कि उस समय के आर्य मनस्वी वैज्ञानिकों ने अश्वचलित पहियों वाले रथों तथा शकटों आदि विविध यानों का आविष्कार कर लिया था। यांत्रिक परिकल्पना ऋभुओं के बिना अश्वों के खींचे यंत्रवत् आकाश में चलने वाले रथ से तथा अन्य स्थल पर वायु मार्ग से पहुँचने से स्पष्ट[1] व्यक्त हुई है।[2] पंखों वाली नौका भी स्वचालित जलयान है, जो पाल वाली नौका से भिन्न नहीं प्रतीत होती है। इस प्रकार उस समय के प्राकृतिक साधनों को देखते हुये पर्याप्त यांत्रिक उपलब्धि अश्वचालित यानों के आवश्यक आविष्कार से मानी जा सकती है।

ललितकलाएं—ऋग्वेद की अनेक[3] ऋचाओं में सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव द्वारा अपनी आजीविका के निर्वाह हेतु धातुकला, काष्ठकला, वास्तु एवं हस्तशिल्प आदि अनेक उपयोगी कलाओं के अपनाने का उल्लेख हुआ ही है, किन्तु इनके साथ ही कतिपय स्थलों पर प्रमुख ललित-कलाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उपयोगी कलाएँ अपना स्थूल आधार (तत्संबंधित कार्य) रखने के कारण प्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक परिस्थितियों पर पूर्णतया आधारित रहती हैं, जबकि ललित कलाएँ भौगोलिक वातावरण (प्राकृतिक दृश्यादि) से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होकर स्वतः ही पनपती रहती हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश में निम्नलिखित प्रमुख ललित कलाएँ विकसित हुई थीं, जिन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक वातावरण का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

मूर्ति एवं चित्रकला—प्राकृतिक दृश्यों एवं भौगोलिक वातावरण (जलवायु ऋतुओं आदि) से प्रत्येक मूर्तिकार अथवा चित्रकार विशेष रूप से प्रभावित होता है तथा प्रकृति की स्वाभाविक क्रियाओं से प्रेरित होकर रूप-रंग अथवा आकार-प्रकार को अपनी कला के द्वारा साकार करने का प्रयास करता है। सप्तसैन्धव प्रदेश के कतिपय मूर्तिकार और चित्रकार मानव यहाँ के मनोरम प्राकृतिक वातावरण से प्रेरित होकर अपनी कला से उसे व्यक्त करने लगे थे। यद्यपि उस समय आर्यों में उपासना के अन्तर्गत मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी, तथापि एक ऋचा में कलात्मक

---

१. ऋक्०, ३/१४/३ । १/२५/८, १/११६/३—तमूह थुर्नौभिरात्मन्वतीभि··· ···।
२. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १८७।
३. ऋग्वेद, ३/५३/२२, ६/३/४, ५/८/५ (धातुकला), ५/७३/१०, ७/३२/२०, १०/३८/१४ (काष्ठकला), २/४१/५ (वास्तुशिल्प), ४/३५/२, ३, ४/३५/८ (हस्तकला)।

इन्द्रप्रतिमा[1] का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जो शत्रुनाशक थी। इससे यह प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में मूर्तिकार शिल्पी अन्य कलात्मक मूर्तियों का भी निर्माण इन्द्र की प्रतिमा के समान ही करते थे, जो मिट्टी या पत्थर से तैयार होती थी, क्योंकि कतिपय देवों (प्राकृतिक शक्तियों) का विशिष्ट आकार तत्सम्बन्धित ऋचाओं[2] में वर्णित हुआ है। मूर्तकला और चित्रशाला परस्पर सापेक्ष एवं समान प्रकृति की कलाएँ हैं। अतः सिद्ध होता है कि मूर्तकला के समान सप्तसैन्धव प्रदेश में चित्रकला भी अस्तित्वयुक्त थी, भले ही चित्रों को भित्तियों पर बनाया जाता हो, किन्तु उनमे रंगो का प्रयोग होता था क्योंकि अनेक रंगों[3] का ऋग्वेद मे उल्लेख हुआ है।

संगीत—सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव अपने अनिर्वचनीय आनन्द के अवसर पर संगीत-कला का आश्रय लेता था, जिसे उसने विविध प्राकृतिक रूपों अथवा भौगोलिक कारकों के (पर्जन्य या मेघों की गड़गड़ाहट, पवन से वन में पत्तों की खरखराहट, पशुओं एवं पक्षियों की ध्वनियों, नदी निर्झरों के प्रवाह-रव आदि) से पूर्ण अनुकरण की प्रेरणा पाकर सांस्कृतिक निधि के रूप में अंकित किया था। इस दृष्टि से संगीत कला विशेष रूप से वाद्य एवं गान पर भौगोलिक प्रभाव प्रत्यक्षतः परिलक्षित होता है। स्थल-विशेष में भौगोलिक वातावरण में पनपी वनस्पति (बाँस आदि के वनों) से प्राप्त काष्ठ तथा पशुओं के चर्म एवं तन्तु (ताँत) से नाली (बाँसुरी), ढोलक, मृदंग, डफ आदि वाद्य निर्मित किये जाते हैं। ऋग्वेद के कतिपय स्थलों पर संगीत के सर्वाङ्गों का समुल्लेख प्राप्त होता है, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

नृत्य से सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव पूर्ण परिचित था। ऐसा प्रतीत होता है, स्त्री तथा पुरुष दोनों समान रूप से नृत्य एवं गान मे भाग लेते थे तथा इस कला में वे पूर्ण दक्ष होते थे। प्रायः नृत्य (अंग-विक्षेप) में 'आघाति[4]' (झांझ जैसे वाद्य) से

---

१. ऋग्वेद, ४/२४/१०।

२. वही, ६/१७/२, ८/५८/१६ (इन्द्र), ६/५५/२ (पूषन), १/११४/५ (रुद्र), ७/३४/१० (वरुण), ६/७१/४ (सविता)।

३ वही, ३/८/९ (हंस जैसा श्वेत रंग), ३/४५/१ (मयूर पंखों के समान विविध वर्ण), १०/९६/३ सोऽस्य वज्रो हरितो य आयसो'' हरिता मिमिक्षरे (हरा, सुनहला, लाल) १०/९६/८, हरिश्माशरुर्हरिकेश (सुनहला), १/११५/५।

४. ऋक्० १/१४६/२।

साथ भी किया जाता था। आंगिरस सव्य ऋषि द्वारा भी एक ऋचा[1] में नृत्य-क्रिया का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र[2] भरद्वाज ऋषि ने भी इन्द्र को 'चतुर नर्तक' कह कर स्तुति की है। इन सन्दर्भों से उस समय भी नृत्य कला की दुरूहता अभिव्यक्त होती है, जिसमें सामान्य व्यक्ति दक्षता नहीं प्राप्त कर पाता था।

वाद्यों—का भी नृत्य एवं गान में उस समय प्रचुर प्रयोग होता था, क्योंकि अनेक स्थलों पर सप्तसैन्धव प्रदेश में प्रचलित लोकप्रिय वाद्यो मे से दुन्दुभि[3] (ढोल या नगाड़ा), कर्करी[4] (सारंगी या केंकड़ी), क्षोणी[5] (वीणा), वाण[6] (वाद्य विशेष, जिसमें सप्तस्वर सुस्पष्ट थे), नाली[7] या नाड़ी (बाँसुरी), गर्गरी[8] (गगरी या घड़े का बाजा, जिसे आज भी गावों में धोबी लोग सूप के साथ बजाते हैं), गोधा (गोह की चर्म से मढ़ा वाद्य) पिंगा (तन्तु वाद्य) आदि उल्लेखनीय हैं। इन वाद्यों के उल्लेख से सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश में मुँह से फूँक कर बजाये जाने वाले (सुषिर), चर्म से मढ़े (आनद्ध) हुए, तांतों से बने हुए तत (तन्त्री या तन्तु) वाद्यों के अतिरिक्त गर्गरा जैसे लोक वाद्य भी संगीत में प्रचलित थे।

गीति या गान (गायन) को नृत्य एवं वाद्य के साथ सामान्यतया किया जाता था, जिस पर प्राकृतिक वातावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था यह घोरपुत्र कण्व ऋषि की एक ऋचा[9] से पुष्ट होता है, जिसमें गायत्र गान को पर्जन्य (मेघ) की भाँति विस्तृत करने को कहा गया है। इससे प्रतीत होता है, तीन पदों का आठ-आठ वर्णों का गायत्र छंद ही सामान्य रूप से सप्तसैन्धव प्रदेश में गान-साधन था, जो श्री राहुल सांकृत्यायन[10] के मतानुसार आज भी हिमांचल प्रदेशीय (किन्नर आदि पहाड़ी) एवं मैदानी लोकगीतों के तीन पदों के छन्दों से कुछ मिलता-जुलता सा है। प्रायः ऋग्वेद के नवम मण्डल के सोम सम्बन्धी ललित गान जो सामवेद में संग्रहीत हैं, संगीत में अधिक गाये जाते थे। सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी भाग की

---

१. ऋक्०, १/१७/३, स सेत चिद्विभदायावहो वस्वाआर्वाद्रि वावसानस्यनर्तयन्।
२. वही, ६/२६/३, प्रिये ते पादा ···स्वर्णनृतविषिरोवभूव।
३. वही, १/२८/५।   ४. वही, २/४३/३।
५. वही, २/३४/१३।   ६. वही, १०/३२/४।
७. ऋग्वेद, १०/१३५/७।
८. वही, ८/५८/९, अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् पिंगा परि च निष्कददिन्द्राय ब्रह्मणोद्यतम्॥
९. वही, १/३८/१४, मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः।
१०. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १६३।

जलवायु सोमोत्पादन में अत्यन्त अनुकूल थी, अतः उस। क्षेत्र से ही सोम सम्बन्धी गानों का अन्यत्र भी विकास कालान्तर में हुआ था।

काव्य एवं साहित्य - साहित्य एवं काव्यकला प्रायः सभी ललित कलाओं में उत्कृष्ट मानी गई है, जिस पर प्राकृतिक वातावरण (स्थल के भौतिक रूपों, नदियों, पर्वतों, वनों आदि का प्रभूत प्रभाव कवि अथवा साहित्यकार पर पड़ता है। यही कारण है, ऋग्वेद के कतिपय[1] सूक्तों में सप्तसैन्धव प्रदेश की मनोरम प्रकृति की हृदयावर्जक वर्णना वैदिक कवियों (ऋषियों) ने प्रस्तुत की है। यद्यपि सम्पूर्ण ऋग्वेद छन्दोबद्ध (काव्यमयी) रचना है, तथापि काव्य की दृष्टि से ये सूक्त बहुत बेजोड़ हैं, क्योंकि इनमें भावों के साथ ही भाषा का भी स्वाभाविक सौन्दर्य विद्यमान है। अतः ऋग्वेद का आज भी विश्वसाहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है।

काव्य की दृष्टि से गृत्समद, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव आदि की ऋचाएं अत्यन्त उत्तम बन पड़ी हैं, जिनमें मार्मिक भावों को अलंकारमयी भाषा द्वारा व्यक्त किया गया है। गृत्समद के एक पूरे सूक्त[2] में अनुप्रास के साथ ही उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग परिलक्षित होता है। इसी प्रकार विश्वामित्र[3] की कविता विपाश एवं शुतुद्रि के अतिरिक्त उषा की दिव्य स्तुति में मुखर हो उठी है। इस प्रकार स्पष्ट है, ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश में काव्य एवं साहित्य अन्य ललित कलाओं के साथ समृद्धि को प्राप्त किये था।

शिक्षा एवं स्वास्थ्य—सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव ने शिक्षा एवं स्वास्थ्य की उच्च सांस्कृतिक आवश्यकता का अनुभव करते हुए इन्हें अपने जीवन में यथेष्ट स्थान प्रदान किया था—ऋग्वैदिक शिक्षा और स्वास्थ्य की सामान्य स्थिति पर भौगोलिक वातावरण (प्राकृतिक दशाओं) का जो प्रभाव पड़ा, उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

1. द्रष्टव्य, नदी-सूक्त (३/३३/१—१३), पुरुरवाउर्वशी-सूक्त (१०/९५), उषस्-सूक्त (३/६१/३, ७/७५/१-८, ४/५१/१-६, ४/५२/१-६), पर्जन्य-सूक्त (७/१०२/१-३, ५/८३/१-८) आदि यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति०, ५/८३/५।
2. ऋग्वेद, २/३९/१-८, उदाहरणार्थ—नावेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव-प्रधीव। श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः पातमस्मान् २/३९/४।
3. वही, ३/६१/१-३—उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व०, ३/३३/१-१३।

शिक्षा का महत्त्व समझते हुए बस्तियों से दूर नदी-तटों या सघन वनों में अवस्थित शान्त ऋषि-आश्रमों अथवा ऋषि-कुलों, गुरु-कुलों, में तत्त्ववेत्ता ऋषियों द्वारा शिष्यों को उनके वंशजों (पूर्वजों) अथवा अपनी शाखाओं से सम्बन्धित वेद-पाठ[1] का ही अध्ययन कराया जाता था, जिसे शिष्य रट कर कण्ठस्थ कर लेते थे। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में एक मेढक का दूसरे मेढक के शब्द के समान ही शिष्य का गुरु के शब्दों के अनुकरण करने का उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है, तत्कालीन शिक्षा में पाठ के उच्चारण और स्वर की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस सन्दर्भ में उच्चारण के सात प्रकारों[2] अथवा सप्त स्वरों का ऋग्वेद में संकेत किया ही गया है, इसके साथ ही चार प्रकार की वाक्[3] का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

आर्य-शिक्षा से अन्तर्गत गणित-ज्योतिष आदि अनेक शास्त्रों का भी अध्ययन करते थे। ऋग्वेद में अयुत[4] (दस हजार) के ऊपर की संख्याओं के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय अंकगणित विद्या में पर्याप्त दक्षता प्राप्त थी, किन्तु इन शास्त्रों थी शिक्षा की अपेक्षा धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था तथा ज्ञान या विद्या प्राप्ति के लिए व्रत, प्रायश्चित एवं तप परम आवश्यक माने जाते थे, जिससे तत्त्व (आत्म) ज्ञान की प्राप्ति होती थी।[5] यही कारण है, आत्म-ज्ञान से सम्पन्न विप्र, ऋषि आदि समाज में श्रेष्ठ समझे जाते थे।[6] सामान्य पठन-पाठन मात्र से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता था, वरन् कठिन तप-व्रत द्वारा यह प्राप्त किया जाता था[7], किन्तु फिर भी मौखिक रूप से दी गई[8] तात्त्विक एवं व्यावहारिक शिक्षा की महत्ता लोकप्रिय थी, जिसमें परम्परागत परिवार में प्रचलित वास्तुशिल्प, हस्तकला, औद्योगिक, सैनिक एवं कृषि शिक्षा के अतिरिक्त ऋतु आदि लोक-ज्ञान को भी दिया जाता था।

---

१. ऋग्वेद, ७/१०३/५, यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदे समृधेव पर्व यत्त सुवाचो वदनाध्यप्सु ॥

२. वही, १/१६४/३।

३. ऋक्०, १/१६४/४५। ४. वही, ८/५६/२२।

५. ऋग्वेद, १०/१९०/१।

६. वही, ४/२६/१।

७. ऋक्०, ७/१०३/१।

८. वही, ३/५३/१२, य इमे रोदसी उभे.................।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।

स्वास्थ्य—भूगोलवेत्ताओं के अनुसार स्वास्थ्य पर किसी देश की जलवायु[1] (भौगोलिक वातावरण) का प्रत्यक्ष प्रभाव जन-जीवन में परिलक्षित होता है। उत्तम जलवायु (सम-शीतोष्ण) प्रायः सभी वर्ग के प्राणियों के स्वास्थ्य का संरक्षण-संवर्धन करते हुए विविध क्षेत्रों की उत्कृष्ट क्रियाओं में प्रवृत्त करने में परम सहायक सिद्ध होती है, यद्यपि सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु सामान्यतया मानवीय जीवन के लिये उस समय अत्यन्त अनुकूल थी, तथापि पर्वतीय तराइयों, नदी-घाटियों आदि कतिपय भागों में वर्षा जैसी ऋतुओं में अस्वास्थ्यकर वातावरण उत्पन्न होने के कारण अनेक रोग हो जाते थे, जिनके निवारण के लिये ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव सतत चेष्टाशील रहता था, ताकि स्वस्थ रह कर वह अपनी आजीविका निर्वाह हेतु आर्थिक क्रिया कर सके और अपने शत्रुओं को परास्त कर सके।

उस समय भौगोलिक वातावरण के दूषित होने से जो रोग उत्पन्न हो जाते थे, उनमें हृद्.रोग[2], यक्ष्मा और राज-यक्ष्मा[3], चर्म (कुष्ठ)[4] रोग, पीलिया[5], विसूचि (हैजा), दुर्नामा (बवासीर), अगद, अजका, नेत्र रोग[6] आदि अनेक रोग उल्लेखनीय हैं। इन पाँच प्रकार के रोगों के निवारण (शमन) करने के लिए समुचित चिकित्सा के साथ ही सम्बन्धित प्राकृतिक शक्तियों (सूर्य, जल, अग्नि, सोम, रुद्र, वास्तोष्पति आदि) की भावपूर्ण स्तुति[7] किया करते थे। इससे प्रतीत होता है, अनेक ओषधियों एवं भिषगों (वैद्यों) के होते हुये भी सामान्य लोगों का प्राकृतिक-चिकित्सा (अनुकूल जलवायु के नियमित सेवन) पर ही अधिक विश्वास था, क्योंकि कतिपय स्थलों[8] में आप[9], अग्नि[10], सूर्य आदि से नीरोगता प्राप्त करने की कामना की गई है। यक्ष्मा

---

१. इन्वायरेनमेण्ट ऐण्ड ह्यूमैन प्रोग्रेस, डॉ० एस०डी० कौशिक, १९६६, चैप्टर फिफ्थ। तथा प्रिंसिपिल्स आफ ह्यूमैन ज्यौग्राफी, हंटिंगटन ऐण्ड शा, १९५६, पेज १०१।
२. ऋग्वेद, १/५०/११ (हृद्रोग एवं पीलिया)।
३. वही, १०/९७/११-१२, १०/१६१/१, १६३/१-६, १/१२२/९
४. वही, १/११७/७। ५. ऋक्०, १/५०/११, १२, १३।
६. ऋग्वेद, १/११६/१६, ११७/१७, ११८/७।
७. ऋक्०, ६/२/५, ६/७४/२, ७/५४/१, ५५/१, ७/४६/२, ३, ८/१८/९, १०, १०/९/४।
८. वही, १०/३७/७।
९. वही, १०/९/४—आपो भवन्तु पीतये, ३७/४, ६/५०/७।
१०. वही, ८/१८/९, १०।

(अथ) रोग से ग्रसित रोगी के अतिरिक्त गर्भस्थ शिशु को कीटाणुओं से हानि पहुँचाने वाली दूषित वायु के शमन किये जाने का भी उल्लेख हुआ है ।[1]

स्वास्थ्य को सुधारने के लिए ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के परिवारों मे भिषक्[2] (वैद्य) भी होते थे, जो आजीविका के रूप में चिकित्साकार्य किया करते थे । सामान्यतया प्राकृतिक चिकित्सा[3] में जल-चिकित्सा[4] के अतिरिक्त ओषधि-चिकित्सा[5] (जड़ी-बूटियों, वनस्पति के विविध अवयवों) का प्रचलन अधिक था । अनेक ऋचाओं में ओषधियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिनमें अश्मावती, सोमावती, ऊर्जयन्ती, उदोजस आदि उल्लेखनीय हैं ।[6] ओषधिस्तुति-सूक्त के अन्तर्गत ओषधियों के वर्ण[7] एवं गुणों की वर्णना की गयी है, इसके अतिरिक्त अन्यत्र विषनाशक[8] (कूटी-पोसी जाने वाली) ओषधियों के अतिरिक्त गुणवती लतारूपिणी ओषधि के खोदने का भी उल्लेख हुआ है ![9] विषनाशक ८८ क्रियाओं को भी निर्दिष्ट किया गया है ।[10] एक स्थल पर ओषधियों के पूर्व अस्तित्व को व्यक्त किया गया है ।[11]

ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों से स्पष्ट है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के कुशल भिषग् (वैद्य) शल्य-चिकित्सा में भी निष्णात् थे । प्रतीत होता है, छोटे घावों पर पट्टियाँ बाँधी जाती थीं[12], किन्तु अंग-भंग होने पर शल्य कार्य (चीर-फाड़) द्वारा अंगों को जोड़ने का उपचार[13] किया जाता था । अंग-भंग होने पर कभी-कभी कृत्रिम[14]

---

१. ऋग्वेद, ४/२७/२ —ईर्मां पुरन्धिरजहादरातीरुत वातां अतरच्छूशुगनः ।

२. वही, २/३३/४, ९/११२/३—कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।

३. वही, १/५०/११, १२, सूर्य द्वारा हृद्रोग और पीलिया का नाश, "हृद्रोगं मम हरिमाणं च नाशय ।"

४. वही, ६/५०/७ । ५. ऋक्०, ८/२०/६ ।

६. वही, १०/९७/७ ।

७. ऋग्वेद, १०/९७/१, १५—याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणी ।

८. वही, १/१९१/२, ३, १ ।

९. वही, १०/१४५/१, इमां खनाम्योषधिं वलवत्तमाम् ।

१०. ऋक्०, १/१९१/१३, नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम् ।

११. वही, १०/९७/२, या ओषधीः पूर्वा जाताः ।

१२. वही, १/२५/३, वि मृलीकाय ते मनो रथीरश्वं न सन्दितम् ।

१३. ऋग्वेद, १/११७/२४, ११७/४ । १४. ऋक्०, १/११६/१५, जंघमायसी···

अंगों को भी लगाया जाता था। इस संदर्भ में विश्पला की टूटी टाँग के स्थान पर अश्विनों (देव वैद्यो) द्वारा लोहे की टाँग लगाने का उल्लेख किया गया है। वृद्धावस्था (वार्द्धक्य) आदि[1] अन्य साध्य रोगों के अतिरिक्त नेत्र-ज्योति[2] (अन्धापन), बधिरपन[3], बंध्यापन[4] (बाँझपन) आदि का भी उस समय उपचार किया जाता था। राजयक्ष्मा-नाशक सूक्त, चक्षुप्राप्ति सूक्त, गर्भरक्षणसूक्त, सर्वाङ्गरोगनाशक आदि सूक्तों[5] के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक चिकित्सा प्रणाली उत्कृष्ट एवं अद्भुत थी, जिनमे स्थानीय ओषधियो (जड़ी-बूटियो) के अतिरिक्त प्राकृतिक चिकित्सा का अधिक सफल प्रयोग होता था।

सप्तसैन्धव प्रदेश के अनुकूल भौगोलिक वातावरण (उत्तम जलवायु, सम ताप-क्रम, स्वच्छ जल, खुली हवा आदि के अतिरिक्त यथेष्ट मात्रा मे सुलभ पौष्टिक आहार (दूध, घी, मास, सोम आदि) के सेवन करने के साथ ही आर्य परिश्रमपूर्ण उत्पादक आर्थिक क्रियाये किया करते थे। अतएव उनका शरीर सर्वाङ्ग स्वस्थ (हृष्ट-पुष्ट) होता था। इस सम्बन्ध मे श्री राहुल साकृत्यायन[6] की भी यह समीचीन अवधारणा है कि नृत्यकला एव घुडसवारी जैसे व्यायाम के अतिरिक्त सप्तसिन्धु के मैदानी भाग की खुली हवा मे वास, दूध, घी, मास प्रधान भोजन आर्यो को स्वास्थ्य सम्बर्द्धन के सर्वोत्तम साधन समुपलब्ध थे।

अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों के होने पर भी आकस्मिक अस्वस्थता के निवारणार्थ आर्य सदैव सचेष्ट रहते थे और सुयोग्य भिषग् (वैद्य) द्वारा रोग का यथेष्ट उपचार प्रभावी ओषधियो से करके उसे समूल शान्त कर देते थे। स्वास्थ्य की ओर सप्तसैन्धव प्रदेश के मानव का सतत ध्यान रहता था क्योंकि शरीर-पुष्टि से सुरक्षित पौरुष के द्वारा वे अपने प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त करते थे। यही कारण है, उत्तम स्वास्थ्य अर्थात् नीरोगता प्राप्ति हेतु आर्य सदैव सम्बन्धित प्राकृतिक शक्तियो (देवताओ) की प्रार्थना किया करते थे[7] तथा सौ वर्ष का आदर्श, स्वस्थ जीवन व्यतीत करते थे।[8]

---

१. ऋक्०, १/११६/१०। २. वही, १/११६/१६—शत मेषम् वृक्ये···।
३. वही, १/११७/७—८। ४ वही, १/११६/१३, १७/२०, ११८/८।
५. वही, १०/१६१, १६३ (राजयक्ष्मा), १०/१५८ (चक्षुप्राप्ति), १०/१६२ (गर्भरक्षण), १०/१६३ (सर्वाङ्गरोग नाशक)।
६. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १४९।
७. ऋक्०, १/११४/१, विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्नानातुरम्। १/८७/७, १/३४/६, त्रिर्नो अश्विना दिव्यानिभेषजा त्रिः पार्थिवानि, ७/४६/२, ५४/१, ६/७४/२, ८/२०/२६। ८. वही, १०/१६१/३।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश का न केवल मानवीय जीवन उत्तम स्वास्थ्ययुक्त था, अपितु उनके पालतू पशु (गो, बैल, अश्व, अजा, अवि, कुत्ते आदि) भी स्वस्थ एवं नीरोग रहते थे, क्योंकि एक स्थल[1] पर पशुओं के निमित्त रोगरहित, स्वास्थ्यप्रद अन्नों को उत्पन्न किये जाने का भी उल्लेख हुआ है।

आमोद-प्रमोद (मनोरंजन के साधन)—संघर्षशील मानव के लिए आमोद-प्रमोद (मनोविनोद) उच्च सांस्कृतिक आवश्यकता है, बिना मनोरंजन के जन-जीवन अत्यन्त नीरस और विषण्ण होकर भार-सा हो जाता है। अतः व्यस्तता-पूर्ण जीवन की समस्त चिन्ताओं, समस्याओं, आदि से विस्मृत होकर वह कुछ क्षण आमोद-प्रमोद (मनोविनोद) में भी व्यतीत करता है। भौगोलिक वातावरण (स्थल की संरचना, पहाड़ी स्थल, जलाशयों, नदी-निर्झरों के सुरम्य तट, वनस्पति-सघनरमणीय वन-उपवन आदि) तथा उसमें उत्पन्न होने वाले अनेक उपकरणों का आमोद-प्रमोद पर प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। सप्तसैन्धव प्रदेश का उन्नतमना मानव भी अपना आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। जिसमें निम्नलिखित अनेक मनोरंजन के साधन विद्यमान थे।

ललितकलाओं में से संगीत (वाद्य, नृत्य एवं गान) और कविगोष्ठियों के द्वारा स्त्री-पुरुष अपना मनोविनोद करते ही थे, इनके अतिरिक्त सोमपान गोष्ठी[2], प्रतियोगितात्मक रथ और घोड़ों की दौड़[3], खेल-कूद (क्रीड़ा)[4], द्यूत-क्रीड़ा[5], समन[6] (मेले), सैर-सपाटे (परिभ्रमण), हास-परिहास आदि भी आमोद-प्रमोद के साधन के रूप में उल्लेखनीय हैं।

सोमपान गोष्ठी—सोम, सप्तसैन्धव प्रदेश का सर्वाधिक स्वास्थ्य, आनन्द, स्फूर्ति एवं मददायक लोकप्रिय पान था, जिसे विधिपूर्वक[7] तैयार करके यज्ञ जैसे समारोहों में देवताओं को[8] समर्पित करने के पश्चात् गोष्ठियों में पान कर आमोद-

---

१. ऋग्वेद, ३/६२/१४, द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्कर।
२. वही, ८/७१/७-८, ९/११३/१, २, ७, ९, ११ आदि।
३. वही, १/११६/१७, आ वा रथं दुहिता सूर्यस्य···, १०/१५६/१।
४. वही, १/११६/१५।   ५. वही, १०/३४/१-१३।
६. वही, २/१६/७, ६/६०/२, ७/२/५, ८/१२/८, ९/९७/४७, १०/५५/१०, अथर्व०, २/३६/१।
७. ऋग्वेद, ९/१०१/१६।   ८. ऋग्वेद, ९/११५/११।

प्रमोद मनाते थे। प्रतीत होता है, ऐसी संगीत, काव्य एवं सोमपान की गोष्ठियाँ यदा-कदा सर्व-साधारण व्यक्ति भी अपने प्रियजनों के साथ समायोजित कर लेते थे।

रथ-दौड़ एवं घुड़-दौड़—रथों अथवा घोड़ों की प्रतियोगितात्मक दौड़ को भी सामयिक समारोहों में समायोजित किया जाता था, जिसे 'आजि'[1] तथा दौड़ के मैदान की अंतिम परिधि (गन्तव्य स्थल = लक्ष्य) को 'काष्ठा' अथवा 'सता'[2] कहा जाता था। पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[3] भ्रमवश दौड़ के सम्पूर्ण मैदान को काष्ठ समझते हैं, जबकि काष्ठा से पूरे मैदान का तात्पर्य न होकर केवल उसकी अन्तिम सीमा (पहुँचने का लक्ष्य) से ही तात्पर्य है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि घुड़दौड़ अथवा रथदौड़ के मैदान के अन्तिम पहुँचने के स्थल पर काष्ठ के चिह्न (तख्ते अथवा लकड़ी के खम्भे) लगे होते थे, जिसके पास सर्वप्रथम तेजी से आकर प्रतियोगी रथ या घुड़सवार खड़े हो जाते थे। रथ-दौड़ में प्रायः चार घोड़ों का रथ में जोतने का उल्लेख प्राप्त होता है[4]। लकड़ी के तख्ते या खम्भे (विजय-चिह्न) के पास पहुँचने वाला प्रतियोगी ही विजयी घोषित किया जाता था। घुड़दौड़ में प्रायः द्रुतगामी घोड़े ही दौड़ाये जाते थे तथा विजेताओं को धनादि से पुरस्कृत किया जाता था, जिसका एक स्थल पर[5] उल्लेख किया गया है।

खेल-कूद—सप्तसैन्धव प्रदेश के अनेक भागों में स्त्री-पुरुषों के द्वारा विविध प्रकार के दौड़ जैसे खेल आमोद-प्रमोद हेतु खेले जाते थे। ऋग्वेद के एक स्थल[6] पर 'खेल' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे पाश्चात्य विद्वान् पिशेल[7] 'विवस्वन्त' देवता के सम्मान में आयोजित दौड़ प्रतियोगिताओं से अभिन्न मानते हैं तथा 'आजाखेलस्य' वाक् पद की व्याख्या खेल की दौड़ में करते हैं, जबकि राथ[8] एवं सायणाचार्य खेल को व्यक्तिवाचक संज्ञा (एक राजा) बताते हैं, किन्तु ऋग्वैदिक राजनैतिक संदर्भों में आर्य अथवा अनार्य किसी महत्त्वपूर्ण राजा या व्यक्ति का खेल नाम प्रतीत नहीं होता है।

---

१. ऋग्वेद, ५/३५/७। २. ऋक्०, ८/४१/४।
३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २०३।
४. ऋग्वेद, १/१२६/४।
५. वही, १०/१५६/१, सस्निमाजुभिवाजिषु। तेन जेष्म धनन्धनम्।
६. वही, १/११६/१५।
७. वेदिशे स्टुडियन, १, १७१-१७३।
८. सेण्टपीटर्स वर्ग कोश, ब०स्था०।

अतः पिशेल की धारणा तथ्ययुक्त मानी जानी चाहिये, क्योंकि आज भी खेल शब्द क्रीड़ा अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि उस समय भी आमोद-प्रमोद हेतु अनेक सामान्य खेल (जल-क्रीड़ा, कन्दुक-क्रीड़ा, दौड़ आदि) प्रचलित रहे होंगे।

द्यूत क्रीड़ा (जुआ)—उस समय द्यूत-क्रीड़ा भी अधिक होती थी। पासों (अक्षों) पर शर्त (दाँव) लगा कर जुआ खेला जाता था। पासों की संख्या ५३[1] तथा उनका रंग बभ्रु[2] (भूरा या पीला) होता था, जो सामान्यतया विभीदक[3] (बहेरे की काष्ठ) से बनाये जाते थे। जुआरी की जुए को आदत इतनी बढ़ जाती थी कि उसके कुटुम्ब और स्वयं उसकी दशा बड़ी शोचनीय[4] हो जाती थी। अतः इस निन्द्य द्यूत-क्रीड़ा को निषिद्ध करते हुये कृषि करने का परामर्श दिया गया है।[5] इससे ज्ञात होता है, मनोविनोद का साधन होते हुये भी निन्द्य माना जाने के कारण जुआ बहुत कम अवसरों पर ही खेला जाता रहा होगा।

समन—सप्तसैन्धव प्रदेश के विशिष्ट रमणीय स्थलों पर प्रतीत होता है, सामयिक मेले जैसे भी आयोजन होते थे, जिन्हें समन कहा गया है। समन के स्वरूप निर्धारण करने मे विद्वानो मे काफी वैमत्य है तथापि आमोद-प्रमोद के लिये सामान्य जनों के परस्पर मिलने-जुलने के उत्सव मेले से भिन्न नही मानना चाहिये। इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे राथ[6] युद्ध अथवा उत्सव की संदिग्ध धारणा रखी है, जबकि पिशेल[7] इसे ऐसा सामान्य उत्सव मानते है जिसमे स्त्रियाँ अपने मनोरंजन के लिये, कविगण अपनी प्रसिद्धि पाने के लिये, धनुर्धर अपनी धनुर्विद्या का पुरस्कार प्राप्त करने के लिये तथा घुड़सवार अश्वदौड़ के लिये जाते थे। सामान्यतः यह उत्सव उस समय रात भर चलता था तथा इसमें युवतियाँ और अधेड़ स्त्रियां पति या प्रेमी ढूंढने का प्रयास करती थीं, जबकि नर्तकियाँ (वेश्यायें) अवसर से लाभ उठा कर अर्थोपार्जन

---

१. ऋग्वेद, १०/३४/८।   २. ऋक्० १०/३४/५।

३. ऋक्०, १०/३४/१—सोमस्येव···विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।

४. ऋग्वेद, १०/३४/१०।

५. वही, १०/३४/१३, अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्तेरमस्व बहुमन्यमानः।

६. सेण्टपीटर्स वर्ग कोश, व० स्था० (ऋक्० २/१६/७, ६/६०/२, ७५/२ के आधार पर।

७. वेदिशे स्टूडियन, २/३१४।

करती थीं। पिशेल की अवधारणा यहाँ समीचीन प्रतीत होती है तथा इसे दृष्टि में रख कर कहा जा सकता है कि नदियों के सुरम्य तटों पर आयोजित ऐसे समनों में आर्य मनोविनोद करते थे।

आमोद-प्रमोद के अन्य तत्कालीन साधनों में सैर-सपाटे, हास-परिहास आदि भी उल्लेखनीय हैं। धार्मिक दृष्टिकोण के साथ ही सैर-सपाटे या सामान्य परिभ्रमण हेतु भी स्त्री-पुरुषों की उस समय तीर्थयात्रा[1] (नदियों के संगमों, पर्वतों की घाटियों आदि) रमणीय स्थलों में हुआ करती थी। पारस्परिक हास-परिहास से भी उद्विग्नता एवं गम्भीरता को दूर करके मनोविनोद किया जाता था, किन्तु शिष्ट हास-परिहास भी अच्छा समझा जाता था, जबकि अश्लील परिहास के भी उदाहरण[2] इन्द्र-इन्द्राणी और आसंग की भार्या शश्वती के उद्गार[3] में प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक वातावरण से प्रभावित हुआ था।

सामान्य रीति-रिवाज--सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव अनेक सामाजिक परम्पराओं अथवा रीति-रिवाजों का भी अपने जीवन में पूर्ण अनुसरण करता था। ये सामाजिक परम्परायें—आर्थिक एवं सांस्कृतिक—जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित दृष्टिगत होती है, जो बहुत-कुछ भौगोलिक वातावरण से भी प्रभावित हुई हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश में अधिक सुलभ होने के कारण खान-पान में मांस एवं सोम जैसा मादक पान वर्जित नहीं था किन्तु पं० रेउ के मतानुसार अनिन्द्य पशुओं का ही मांस खाया जाता था[4]। गाय का वध करना तथा सुरापान करना निन्द्य माना जाता था।[5] वेशभूषा में अच्छे आकर्षक वस्त्रों को धारण करने के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष दोनों सिर पर कपर्द[6] (जूड़ा) बनाते थे, किन्तु स्त्रियाँ कई कपर्द या वेणियाँ रखती थीं। एक ऋचा में एक युवती की चार कपर्दा (चोटियों या जूड़ों) का उल्लेख हुआ है।[7]

---

१. ऋग्वेद, १/१६८/६, १/१७३/११, ४/२८/३—करन्न इन्द्र:सुतीर्थाभयं च।
२. वही, १०/८६/१६—१७।
३. वही, ८/१/३४।
४. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २०१।
५. ऋग्वेद, ८/४/१५-१६, ८/२/१२।
६. वही, ७/३३/१ (वशिष्ठों के दाहिनी ओर कपर्द)।
७. वही, १०/११४/३।

तत्कालीन समाज में अनेक अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणायें भी व्याप्त थीं, जिनमें जादू-टोने, अपशकुन, दुःस्वप्न आदि उल्लेखनीय हैं। कपोत और उलूक का घर में आकर बोलना अशुभ समझा जाता था। अन्य पक्षियों के भी अमंगलजनक शब्दों, दुःस्वप्नों आदि के निवारणार्थ मंत्र-पाठ होता था, यह तथ्य ऋग्वेद के कतिपय[1] सूक्तों से पुष्ट होता है। पति का वधू के वस्त्रों से अपने अंगों को ढकना भी हानिकारक समझा जाता था [2]।

मृतक के अंतिम संस्कार के समय सप्तसैन्धव प्रदेश के कतिपय भागों में सामयिक भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर मुर्दों को धरती में गाड़ा जाता था[3] तथा कहीं इन्हें जलाया जाता था [4]। प्रतीत होता है, जिन चट्टानी भू-भागों (पर्वतीय क्षेत्रों) में भूमि का उत्खनन कठिन था तथा प्रचुर ईंधन (वनों की लकड़ी का) सुलभ था, वहाँ मृतक का दाह-संस्कार होता था, किन्तु मैदानी भागों में वर्षा अधिक समय तक होने से ईंधन के भीग जाने अथवा इनके अभाव के कारण कुछ वर्ग के व्यक्ति मृतक का भूमि-संस्कार करते थे जिसमें शव के सुरक्षित रखने की भावना भी सन्निहित थी जैसा कि मिस्र आदि देशों की परम्परा से यह तथ्य पुष्ट किया जा सकता है [5]।

अतएव स्पष्ट है, सप्तसैन्धव प्रदेश के रीति-रिवाजों पर भी किसी-न-किसी रूप में भौगोलिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. ऋग्वेद, १०/१६५ (कपोतोलूक अमंगलनाशक सूक्त), २/४२, ४३ (पक्षियों के अमंगलजनक शब्दों का निवारण), १०/६४ (दुःस्वप्ननाशक सूक्त)।

२. ऋग्वेद, १०/८५/३०।

३. वही, १०/१८/१२, उच्छ्वंचमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।··········विश्वाहास्मै शरणः सन्त्वत्र। १०/१८/१३, उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोमं···निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोति।

४. ऋग्वेद, १०/१६/१, मैनमग्ने विदहो माभि शोचो, मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।

५. सागरिका, १० वर्षे, १ अंके, पृ० ३२-३७—'भारते शवस्य भूमिशयनं वा दाहोवा' श्री शिव नारायण शास्त्री का लेख।

समीक्षा—उपर्युक्त विवेचन से यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के धर्म, देवता, प्राकृतिक शक्तियाँ, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, ललित कलाएँ, आमोद-प्रमोद, शिक्षा, स्वास्थ्य का सामान्य रीति-रिवाज आदि सांस्कृतिक भूगोल के महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य अंगों पर किसी-न-किसी रूप से भौगोलिक वातावरण (जलवायु, स्थल की संरचना, जलाशय, वनस्पति आदि) का व्यापक प्रभाव पड़ता ही है तथा ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश का सांस्कृतिक भूगोल भी स्थानीय भौगोलिक प्रभावों से अत्यधिक मात्रा में प्रभावित दृष्टिगत होता है। यही कारण है, प्राकृतिक दशाओं (भौगोलिक वातावरण) से पूर्णतया समझौता कर अपना अस्तित्व एवं स्वरूप ग्रहण करता हुआ ऋग्वैदिक आदर्श सांस्कृतिक जीवन आज भी अशेष विश्व-संस्कृतियों में जीवन्त होने के कारण मूर्धन्य एवं महिमामय माना जाता है।

———

॥ ८ ॥

सांस्कृतिक भूगोल
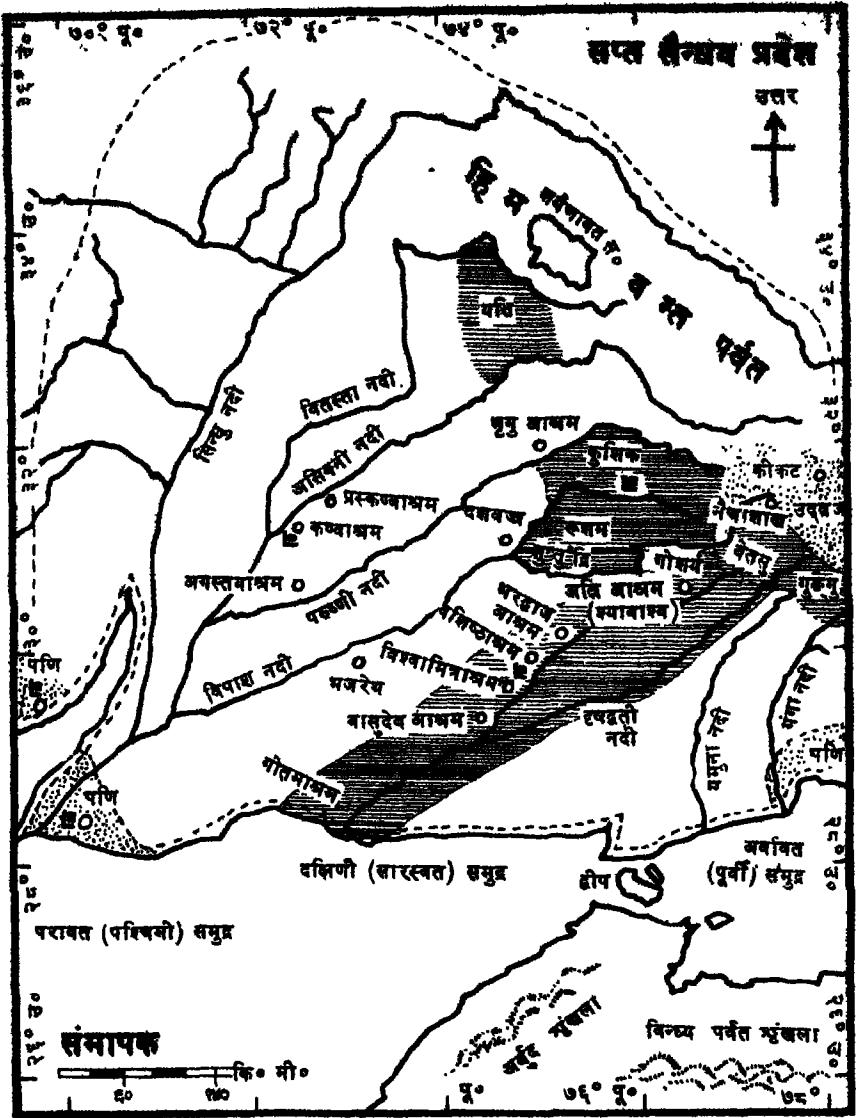
राजनैतिक क्षेत्र एवं अन्य विशिष्ट स्थल

अष्टम अध्याय

ऋग्वैदिक राजनैतिक भूगोल (राज्य व्यवस्था, आर्य-अनार्य, प्रमुख जनपदों एवं कबीले आदि)

प्राचीन काल से ही मानव अपने जीवन में आवश्यक आवश्यकताओं को अधिगत करने के लिये निरंतर व्यावसायिक, आर्थिक क्रियाओं को करता ही है, इसके साथ ही उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताओं के विविध पक्षों की पूर्ति हेतु सतत प्रयासशील रहता है। राजनीति प्रशासन एवं तत्सम्बंधित संस्थाएँ मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ (उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताएँ) हैं, जिन पर स्थल की संरचना, जलाशयों का स्वरूप, जल-वायु आदि भौगोलिक दशाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए एल्सवर्थ हण्टिंगटन[1], जीन ब्रुंश[2] जैसे प्रसिद्ध भूगोलवेत्ताओं ने मानव भूगोल के मूल सिद्धान्तों का वर्गीकरण करते हुए सिद्धान्तों के चतुर्थ वर्ग के अन्तर्गत उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताओं के रूप में राज-नैतिक भूगोल को भी समुचित स्थान प्रदान किया है।

राजनैतिक भूगोल मानव-भूगोल की एक शाखा के रूप में विशेषतः राज्यों (प्रदेशों या राष्ट्रों) तथा इनकी भौगोलिक परिस्थितियों के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन का ही अपर अभिधान है[3]। वस्तुतः राजनैतिक जीवन, राजनैतिक संस्थाओं और प्रशासनिक स्वरूप पर किसी देश की जलवायु, भौमिक संरचना, वनस्पति, (नदियों, समुद्रों) जैसे जलाशयों की अवस्थिति आदि भौगोलिक वातावरण का अतिशय प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है, जिसका समर्थन अरस्तू, बोदां, रूसो, माण्टेस्क्यू आदि पाश्चात्य विचारकों द्वारा भी किया गया है[4]। राजनीति और

---

१. ह्यूमेन ज्योग्राफी, ई० हंटिंगटन ऐण्ड ई० बी० शा, १९५६, पे० १२।

२. वही, जीन ब्रुंश, १९५७, पेज ३१।

३. मानव भूगोल के सिद्धान्त, प्रो० विश्वनाथ, रामलखन द्विवेदी तथा डॉ० लेखराज सिंह कनौजिया, इलाहाबाद, १९५६, पृ० २८।

४. राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त (प्रथम भाग), प्रो० सभरवाल एवं डॉ० गुप्त, कानपुर, १९७२, पृ० ३६।

भूगोल के पारस्परिक (सापेक्ष) सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर ही सम्प्रति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा राजनैतिक भूगोल (पौलिटिकल ज्योग्राफी) अथवा भौगोलिक राजनीति (Geopolitics) के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश के राजनैतिक भूगोल के कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्षों (राज्य व्यवस्था, आर्यों के प्रमुख जनपदों, राज्य-कबीलों, अनार्यों के राज्य क्षेत्रों एवं पारस्परिक-राजनीतिक संघर्ष आदि) का विवेचन किया जा रहा है।

राज्य-व्यवस्था—जन-सामान्य के जीवन के साथ ही उनके विभिन्न हितों की विधिपूर्वक रक्षा करने की उदात्त भावना से जो विविध भौगोलिक (इकाइयों के) क्षेत्रों में किसी सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा किसी सुनिश्चित प्रक्रिया से कार्य किया जाता है, उसे सामान्यतः राज्य-व्यवस्था कहा जाता है। वैसे शासक और शासित की भावना आदिकाल से विश्व में व्याप्त रही है, जिसे किसी निश्चित उद्देश्य से जन संख्यायुक्त विविध भौगोलिक क्षेत्रों में शासनात्मक[1] (आदेश क्रिया एवं प्रभुता से युक्त) रूप में शासक (राजा) अथवा प्रजा का निर्वाचित प्रतिनिधि व्यक्त करता है। इसके लिये जो सर्वस्वीकृत प्रणाली या विधि-सम्मत पद्धति अपनाई जाती है, उसे शासन की राज्य-व्यवस्था के ही रूप में जाना जाता है।

ऋग्वेद के अध्ययन से यह पता चलता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश में सुनिश्चित जन एवं सामन्तवादी राज्य व्यवस्था प्रचलित थी[2], जिसे निम्नलिखित विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में प्रभुता प्राप्त अधिकारी नियमानुसार संचालित करते थे।

कुल—तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई थी, जिसे कुटुम्ब या परिवार कहा जाता है। प्रत्येक कुल के सभी सदस्य (कुटुम्बी), कुलपति अथवा 'कुलप'[3] के आश्रय में प्रायः एक ही घर में रह कर उसकी आज्ञाओं एवं निर्देशन का पालन करते थे। प्रत्येक परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति (पिता अथवा ज्येष्ठ भाई) 'कुलप' होता था जो सभी सदस्यों से राज-व्यवस्था

---

१. राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त, १९७२, पृ० ६६, द्रष्टव्य—मेकाइवर की मान्यता "The state is essentially an order creating organization. It exists to establish order...for the sake of all the potentialities of life." (Modern State, R. M. Mechaever)

२. श्री राहुल सांकृत्यायन ने आर्यों में प्रथम जन-व्यवस्था तत्पश्चात् सामन्ती राज-व्यवस्था प्रचलित माना है— ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १३३।

३. ऋग्वेद, १०/१७९/२।

(राजनियमों) एवं आन्तरिक आर्थिक गृह व्यवस्था से संबंधित निर्देशों का पूर्णतया पालन कराता था। प्रतीत होता है, 'कुलप,' 'व्राजपति'[1] की अपेक्षा कम प्रभावी होता था तथा उसके अधीन रह कर समादर करता था।

ग्राम—अनेक कुलों अथवा गृहों के समूह को 'ग्राम' कहा गया है, किन्तु प्रारंभ में इसका अभिप्राय झुंड मात्र से था। कालान्तर में मानवों के झुंड के स्थान पर गृहों के झुण्ड को ग्राम कहा जाने लगा। भौगोलिक वातावरण के आधार[2] पर ही बस्तियों का आकार-प्रकार निर्धारित होने के साथ ही जनसंख्या, वनस्पति, पशुओं आदि का वितरण होता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि प्राचीन सप्तसैन्धव प्रदेश की मानव बस्तियों में ग्रामों[3] का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा राज्य-व्यवस्था के सुचारुरूप से संचालन में इनका अनुपेक्षणीय योगदान रहता था। ग्रामों की राज-व्यवस्था अथवा आन्तरिक प्रबन्ध एवं प्रशासन का उत्तरदायित्व ग्रामणी[4] नामक अधिकारी का होता था, जिसे गाँव के मुखिया (ग्रामिक) अथवा ग्राम प्रधान (रत्नी) से अभिन्न माना जा सकता है। "सहस्रदा ग्रामणीर्मा···" ऋचा[5] से यह ज्ञात होता है कि ग्रामाधिकारी 'ग्रामणी' अथवा 'ग्रामिक' अत्यन्त प्रभुता-सम्पन्न एवं प्रभावी व्यक्ति होते थे तथा सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था का भौगोलिक कारकों (प्राकृतिक साधनों) की अनुकूलता से लाभ उठाते हुये सम्यक् रूप से संचालन करते थे। डॉ० पी० वी० काणे[6] ने इन ग्रामों को स्थानीय स्वायत्त शासन से संचालित स्वीकारा है।

पुर—सप्तसैन्धव प्रदेश में सामान्यतः ग्रामों की संख्या भौगोलिक परिस्थितियों के कारण पुरों की अपेक्षा अधिक थी, किन्तु राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से दोनों का कम महत्त्व नहीं था। जहाँ राज्यव्यवस्था के सुसंचालन हेतु ग्राम गमनागमन के साधन (रथ, घोड़े, बैल आदि), खाद्य-पदार्थ (खाद्यान्न-दूध, घी, मांस आदि), सैनिक एवं धन-सम्पत्ति शासक को दिया करते थे, वहाँ ये पक्के पत्थरों, ईंटों आदि से निर्मित विशाल दुर्ग (किले) जैसे—राजपुरुष निवास केन्द्र पुर पूरे राज्य को दस्युओं से सुरक्षा

---

१. ऋग्वेद, १०/१७०/२—कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्।
२. मानव-भूगोल, डॉ० एस० डी० कौशिक, मेरठ, १९६९ पृ०, ५२१।
३. ऋग्वेद, १/४४/१०, १/११४/१ यथा असद्···ग्रामेऽस्मिन्ननातुरम्।
४. वही, १०/१०७/५।
५. वही, १०/६२/११, सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः···(सहस्र गौवों या धनों के दाता ग्रामणी)।
६. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ६४९-६५१।

देने में सर्वथा समर्थ थे। ऋग्वेद में पुरों का अनेक स्थलों[1] में उल्लेख हुआ है तथा इनके अधिकारी को 'पौर' कहा गया है। पौर शब्द के अतिरिक्त स्पष्ट रूप से इन पुरों (दुर्गों अथवा नगरों) के अधिकारियों को 'पूर्पति' (पुरपति) की संज्ञा प्राप्त थी[2]।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल[3] ने पौर को अधिकारी अथवा पुरवासी (नागरिक) न मान कर पौर और जानपद को नागरिकों की निर्वाचित संस्थाएँ माना है, जिन्हें सर्वोच्च प्रभुसत्ता (राजा को पदच्युत करने, उत्तराधिकारी को घोषित करने तथा नीति को निर्धारित करने का) अधिकार प्राप्त था, किन्तु डॉ० बी० के० सरकार[4], डॉ० बेनी प्रसाद[5], डॉ० पी० बी० काणे[6] प्रभृति विद्वानों ने इस तथ्य पर वैमत्य व्यक्त किया है। इसे दृष्टि में रखते हुये पौर शब्द को नागरिकों द्वारा निर्वाचित संस्था न मान कर प्राचीन पुरों (पत्थर के दुर्गों या नगरों) के (निवासी) अधिकारी "पूर्पति" से अभिन्न माना जा सकता है। प्रतीत होता है, पौर अथवा पूर्पति को पुर (पक्के दुर्ग या नगर) के अतिरिक्त अन्य वाह्यक्षेत्रीय राज्यव्यवस्था से सम्बन्धित उच्च अधिकार प्राप्त थे।

ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि आर्यों के शत्रु (दस्यु एवं दास) जनों के पुर आर्यों की अपेक्षा अधिक थे, शम्बर के १०० दुर्गों का उल्लेख हुआ है जो अनेक भौगोलिक कारकों[7] (जलवायु-वर्षादि ऋतुओं, जलाशय, वनस्पति इत्यादि) को दृष्टि में रखते हुए वनों, नदियों अथवा पर्वतीय शृंखलाओं से घिरे हुए सुरक्षात्मक[8] दृष्टि से प्रायः पत्थर आदि से निर्मित किये जाते थे राज्य-व्यवस्था में इन पुरों का भी विशेष योगदान रहता था।

---

१. ऋग्वेद, १/१७४/२, ८, १/१७६/२, २/१६/६, ३/१२/६, ३/१५/४, ३४/१, ५१/२, ४/१६/१३, ४/३०/२०, ५/१६/२, ५/४१/१२, ६/१८/५, २०/७, १०, ३२/३, ७/६६/५, ८/६८/६, १०/३८/४।

२. ऋग्वेद, ५/७४/४ (पौर), १/१७३/१० (पूर्पति)।

३. हिन्दू पालिटी, भाग २, पृ० ६०-१०८।

४. पौलिटिकल इन्स्टीट्यूशन ऐण्ड थ्योरीज ऑफ द हिन्दूज, पृ० ७१।

५. द स्टेट इन ऐन्शियंट इंडिया, पेज ४६८-५००।

६. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग दो, अनु०, अर्जुन चौबे काश्यप, १९६५, पृष्ठ ६१८।

७. ऋग्वेद, ६/२०/१०, सप्त तत्पुरः शर्म शारदीः। १/१७४/२, २/१४/६।

८. वही, ४/३०/२०, शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यनस्यत्। २/१४/६, पुरो वि भूवाश्मनेव पूर्वीः।

विश्—ग्रामों और पुरों में निवास करने वाली जनता को सामान्य रूप से 'विश्'[1] कहा गया है, किन्तु प्रतीत होता है कि कालान्तर में इसका प्रयोग ग्रामों से बड़ी बस्ती अथवा कई ग्रामों के समूह (वर्ग या संघ) के लिए होने लगा था[2]।

श्री राहुल सांकृत्यायन 'विश्' का अर्थ सामान्य जनता ग्रहण करते हुए कालान्तर में इसे शक्तिशाली जन का वाचक स्वीकार करते हैं,[3] जिसे राजा को भी पदस्थ अथवा अपदस्थ करने का अधिकार प्राप्त था। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[4] संदिग्ध दृष्टिकोण रखते हुए ग्रामों की बड़ी बस्ती अथवा कोई स्थानीय (राजनीतिक) विभाग या गोल-विभाग होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं, किन्तु ऋग्वेद की कतिपय[5] ऋचाओं के आधार पर विश् को ग्रामों एवं पुरों की सामान्य जनता (Commoners) अथवा तत्संबंधित क्षेत्र से राजनैतिक इकाई के रूप में अभिन्न मानना समीचीन प्रतीत होता है। विश्' के अधिपति (मुखिया) को 'विश्पति'[6] अथवा 'विशाम्पति' कहा गया है, जो राज्यव्यवस्था को लागू करने के लिए सर्वथा उत्तरदायी होता था। डॉ० पी० एल० भार्गव[7] 'विश्' को 'जन' की अपेक्षा बड़ी राज० इकाई प्रतिपादित करते हैं। ऋग्वेद के कतिपय[8] सन्दर्भों के आधार पर दृष्टिकोण को समीचीन कहा जा सकता है।

जन—सामान्यतः पं० वि० ना० रेउ जैसे विद्वानों द्वारा विशों के समूहों को 'जन'[9] कहा गया है किन्तु ऋग्वेद के कुछ सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए इसे पूर्णतया समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

यास्क ने अपने निरुक्त में तथा सायणाचार्य ने अपने भाष्य में पंच 'जनाः'[10] का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद अथवा देव, पितर, गन्धर्व, असुर और

१. ऋग्वेद, ६/८/४, अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत् विशो राजानमुपतस्थुऋग्मियं।
२. वही, ४/४/३, प्रतिस्पशो····पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
३. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, १९५७, इलाहाबाद, पृष्ठ १३५।
४. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, दिल्ली, पृ० २११।
५. ऋग्वेद, ६/८/४। ६. वही, १/३७/८।
७ इण्डिया इन द वैदिक एज, १९७१, पृ० २६२।
८. ऋग्वेद, १०/११/४ (आर्य विश्), ४/२८/४, ६/२५/२ (दासी-विश)।
९. वही, २/२६/३—सइज्जनेन स विशा। ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० २११। १०. ऋग्वेद, १/८९/१०।

राक्षस किया है, जबकि ऋग्वेद के अन्य स्थलों में 'भारत जनम्'[1] एवं 'याद्व जनम्'[2] के स्पष्ट उल्लेख से पुरु, अनु, द्रुह्यु, यदु और तुर्वश को पंच-जनों के अन्तर्गत ग्रहण करना समीचीन है। इसकी राज्यव्यवस्था का उत्तरदायी स्वयं राजा होता था, जिसे 'जन का गोप्ता' कहा गया है।

श्री आर० सी० मजूमदार[3] ने पंचजनों को जातीय राज्य के संघ (द ऑरगनाइजेशन ऑफ दी ट्राइबल स्टेट) के रूप में ग्रहण करते हुए जन को जनपदों (डिस्ट्रिक्ट्स) से निर्मित सर्वोच्च राजनीतिक इकाई स्वीकार्य किया है। (द हाइयस्ट पोलिटिकल यूनिट), जबकि डॉ० एस० एस० भट्टाचार्य[4] ने जन को ट्राइब (जाति) के रूप में ग्रहण किया है। अतः विश के अतिरिक्त जन को भी बड़ी राजनैतिक इकाई गण अथवा जनपद से अभिन्न माना जा सकता है।

राष्ट्र—अनेक जनों (जनपदों) से मिल कर प्रभुसत्ता सम्पन्न विशाल राज्य अथवा देश को राष्ट्र[5] कहा गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है, उस समय सप्तसैन्धव प्रदेश में प्रभावशाली आर्यों के अनेक जन (जनपद) स्वतंत्र राज्य के रूप में विद्यमान थे तथा अनार्यों के अतिरिक्त आर्यों में स्वयं सत्ता जमाने के लिये पारस्परिक संघर्ष होते रहते थे, अतः ऐसी परिस्थिति में सप्तसैन्धव प्रदेश को एक राष्ट्र के रूप में मानना कम तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है तथापि तत्त्वदर्शी वसिष्ठादि ऋषियों ने परस्पर प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण जनों के संकुचित दृष्टिकोण से ऊँचे उठ कर एक अखण्ड राष्ट्र की परिकल्पना[6] करते हुए उसकी स्थिरता हेतु देवों से प्रार्थना की थी। अतः वसिष्ठ[7] के अतिरिक्त महिला ऋषि जुहू[8] ने सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न अखण्ड राज्य के रूप में राष्ट्र का उल्लेख किया है, जिसका शासक रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय सम्राट् होता था। वैसे ऋग्वेद के एक स्थल पर स्वराज्य[9] का भी उल्लेख हुआ है, जो सर्वप्रभुता सम्पन्न शासन

---

१. ऋग्वेद, ३/५३/१२। २ ऋग्वेद, ८/६/४८।

३. ऐंशियंट इंडिया, आर० सी० मजूमदार, १९५२, बनारस, पृ० ४४-४६।

४. मौडर्न रिव्यू, वाल्यूम ११३, नं० ३, मार्च १९६३, पेज २१०-१५, "ज्योग्राफी ऑफ द ऋग्वैदिक इंडिया शीर्षक लेख।"

५. ऋग्वेद, ४/४२/१; १०/१७३/५। ६. ऋग्वेद, १०/१७३/५।

७. ऋग्वेद, ७/३४/११, राजा राष्ट्राणां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायुः।

८. ऋग्वेद, १०/१०९/३, हस्तेनैव ग्राह्य···न हताय प्रह्ये तस्थ एषा यथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।

९. ऋग्वेद, ५/६६/६।

(जनों अथवा राष्ट्र) से भिन्न नहीं है, जिसकी राज्यव्यवस्था किसी बाहरी केन्द्रीय क्षेत्र (राज्य) के अधिकारी द्वारा संचालित न होकर स्वयं ही संचालित की जाती है।

समीक्षा—इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न छोटी-बड़ी प्रशासनिक इकाइयों के विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश की राज्य-व्यवस्था भौगोलिक दशाओं एवं जनसंख्या के वितरण के आधार पर विभाजित विविध आकार-प्रकार के क्षेत्रों में स्वायत्त अथवा सापेक्ष रूप में (सम्बन्धित या अधीन होकर) लागू होती थी। इन कुल, ग्राम, पुर, विश्, जन, राष्ट्र के अतिरिक्त व्रज[1], गण[2] आदि राजनैतिक इकाइयों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनसे सम्बन्धित राज्याधिकारियों (कुलप, ग्रामणी, पौर, व्राजपति गणपति, विश्पति राजा (सम्राट् आदि) से तत्कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश की राज्य-व्यवस्था अत्यन्त उच्चकोटि की कही जा सकती है।

शासनयंत्र का गठन—जन (जनपदों) एवं राष्ट्रों (राज्यों) की सम्पूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व राजा पर होता था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर राजा[3] के अतिरिक्त पतिराजा[4], सम्राट्[5], एकराट्[6], साम्राज्य[7] आदि शब्दों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थल पर[8], दस राजाओं ने अपना मंडल (संघ) बना कर सुदास के प्रति युद्ध छेड़ दिया था, किन्तु उसे पराजित नहीं कर सके थे, तथ्य व्यक्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है, तत्कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश में आर्यों और अनार्यों अथवा अन्य आर्य दलों मे अनवरत संघर्ष छिड़े रहने के कारण प्रजा की रक्षा हेतु राजा का होना

---

१. ऋग्वेद, १०/१७०/२—(व्राजपति, जो कुलप से उच्च अधिकारी होता था)··· "कुलपा न व्राजपतिश्चिरन्तम्।"
२. वही, ५/५३/११।
३. वही, १/२४/१२,१३; ७/६४/२, १०/१७३/५ (राजा), १/६५/७, ३/४५/५ (राजा का अर्थ), ६/१०/३, १०/७८/१।
४. वही, ८/८४/३ (विशों के पतिराजा)।
५. वही, ६/६८/६, ८/१६/१ (सम्राट्)।
६. वही, ८/३७/३ (एक राट्), अथर्व० ३/४/१, ६/६८/१।
७. वही, १/२५/१०।
८. वही, ७/८३/७-८—दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासम्···।

अपरिहार्य समझा जाता था [1]। राजा सामान्यतः वंशक्रमागत ही होता था, किन्तु कतिपय स्थलों पर उसके निर्वाचित किये जाने का उल्लेख [2] हुआ है। प्रजा राजा का अनुशासन मान कर उसे बलि (कर) [3] भी देती थी। पराजित शत्रुओं से भी राजा बलि प्राप्त करता था [4]। वह राज्य-व्यवस्था को सम्यक् रूप से संचालित करने के लिए गुप्तचरों [5] से शत्रु-मित्रों के रहस्यों को ज्ञात करता था।

राजा के अतिरिक्त राज्य-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करने वाले मंत्रिमण्डलीय स्तर के अधिकारियों में पुरोहित [6], सेनापति [7] (सारथी) या सेनानी, ग्रामणी [8], व्राजपति [9] आदि उल्लेखनीय हैं। पुरोहित राजा का धर्मोपदेष्टा, हितचिन्तक तथा प्रधानमंत्री के रूप में सद्परामर्शदाता होता था, जो यज्ञादि धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त राज्य-कार्यों एवं युद्ध में भी भाग लेता था और विजय हेतु प्रार्थनाएँ कर राजा का उत्साहवर्धन करता था [10]। विश्वामित्र, वसिष्ठ, कवष, देवापि आदि ऐसे ही विख्यात राज-पुरोहित (प्रधान मंत्री) थे, जिनके प्रभाव से ही राज-सत्ता का अस्तित्व था।

राज्य-व्यवस्था एवं शासन यंत्र के गठन में उपर्युक्त राज-अधिकारियों के अतिरिक्त सभा [11] एव समिति [12] का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता था जिसमें प्रजा के प्रतिनिधि अपना मन्तव्य साधिकार व्यक्त करते थे।

पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ [13] सभा और समिति को अभिन्न संस्थाएँ स्वीकार करते है, जबकि श्री राहुल सांकृत्यायन [14] आदि विद्वान् इनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं। ऋग्वेद के एतत् संबंधित [15] सन्दर्भों के अतिरिक्त अन्य परवर्ती [16] संहि-

१. ऋग्वेद, १०/१७४/२, १०/१२४/८।
२. वही, १०/११३/१,२। ३. वही, १०/१७३/६।
४. वही, ७/६/५। ५. वही, ८/४७/११।
६. वही, ४/५०/१, ७/८३/४। ७. वही, ९/९६/१।
८. वही, १०/१०७/५। ९. वही, १०/१७९/२।
१०. वही, ७/१८/१३। ११. वही, २/२४/१३, ८/५/९
१२. वही १०/९७/६, ९/९२/६, १०/१९१/३।
१३. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० वि० ना० रेउ, १९६७, पृ० २१४।
१४. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १३९-१४०।
१५. ऋग्वेद, १०/३४/६,२/२४/१३, ८/४/९, ६/२८/६ (सभा) १०/९७/६, ९/९२/६, १०/१९१/३। १६. अथर्व० ७/१२/१।

सार्यों में भिन्न रूप में उल्लिखित सभा और समिति को भिन्न संस्थायें ही स्वीकारना समीचीन प्रतीत होता है। सभा का स्वरूप व्यापक था, जिसमें ग्राम से लेकर जन तक सामान्य लोग[1]) किसी भी उद्देश्य[2]से कहीं भी एकत्रित होकर कार्य करते थे जबकि समिति का अभिप्राय युद्ध से न होकर राज्य-अधिकारियों[3] अथवा प्रजा के प्रतिनिधियों का निश्चित विषय पर परामर्श या ,मन्त्रणा[4] हेतु एक निश्चित स्थान में एकत्रित होने वाली संस्था से है। प्रतीत होता है, ऋग्वैदिक राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने वाली ये दोनों राज सभाएँ राष्ट्रीय संसद से भिन्न नहीं कही जा सकती हैं।

राज्य-व्यवस्था मे सामान्य प्रशासन के साथ ही न्याय-व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। ग्राम से लेकर जन तक स्थानीय अधिकारियों (ग्रा-मणी, व्राजपति आदि) के द्वारा विभिन्न विवादों पर न्याय किया ही जाता था, इसके साथ ही राजा और पुरोहित द्वारा भी यथोचित दीवानी एवं फौजदारी के मामलों का न्याय कर अपराधियों को दण्ड दिया जाता था। विवादों में मध्यस्थता करने वाला व्यक्ति 'मध्यमशी' कहा गया है[5] प्रतीत होता है, न्याय में प्राणदण्ड के स्थान पर जुर्माने मे गाये या स्वर्णमुद्राएँ देने के अतिरिक्त समझौता ही प्रचलित था, क्योंकि ऋग्वेद में "शतदाय"[6] एवं "वेरदेय"[7] शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है।

विशिष्ट राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं को गठित करने में महत्त्वपूर्ण कारक रूप में उत्पन्न परिस्थितियों की अवस्था

सृष्टि के उषःकाल से ही किसी भी देश की सभ्यता-संस्कृति के निर्माण मे मानवीय सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं का अपरिहार्य योग रहता है। इन संगठनों एवं संस्थाओं को गठित करने में उस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कारक रूप में प्राकृतिक (भौगोलिक) एवं मानवीय परिस्थितियाँ ही मूलभूत रही हैं। ऋग्वैदिक

१. ऋग्वेद, ७/१/४ (सुजात), ४/२/५ (धनाढ्य सभावान्), १०/७१/१०।
२. वही, १०/७१/६, १०/३४/३ (जुए की सभा)।
३. वही, १०/९२/६ (राजा न सत्य समितीरियानः) ।१०/९७/६—राजनः समिताविव।
४ वही, १०/१९१/३—समानो मन्त्रः समितिः समानी।
५. वही, १०/९७/१२।
६. वही, २/३२/४। ७. वही, ५/६१/८।

सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तर्गत विशिष्ट राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं की समुत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण कारक (फैक्टर) रूप में उत्पन्न ऐसी परिस्थितियों की अवस्था पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

स्थलीय संरचना, जलाशयों का स्वरूप, जलवायु, वनस्पति आदि प्राकृतिक (भौगोलिक) परिस्थितियाँ सप्तसैन्धव प्रदेश के राजनैतिक संगठनों[1] (ग्राम, विश्, जन आदि) एवं संस्थाओं[2] (सभा, समिति) को गठित करने में महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में उल्लेखनीय हैं। सामान्यतः समान प्राकृतिक परिस्थितियों में समान स्वरूप के राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं का सप्तसैन्धव प्रदेश में गठन दृष्टिगत होता है। यही कारण है, उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय तथा मध्यवर्ती मैदानी क्षेत्र के संगठनों के आभ्यन्तरिक स्वरूप में मूलभूत वैषम्य होने के कारण परस्पर आर्य-अनार्यों में अनवरत संघर्ष छिड़ा रहा। पर्वतीय क्षेत्र में विषम भू-रचना होने से संचार-साधनों के अभाव के कारण परस्पर जनसम्पर्क न होने या कम होने से राजनैतिक संगठन एवं संस्थाएँ शिथिल होने के साथ ही परस्पर निरपेक्ष तथा स्वतंत्र बनीं, वहीं मैदानी भू-भाग के अधिकांश आर्यों के जनों (कबीलों) के राजनैतिक संगठन एवं संस्थायें प्राकृतिक संचार-साधनों के सुलभ होने से परस्पर घनिष्ठ जनसम्पर्क होने के कारण सक्रिय, सापेक्ष तथा अधिक शक्ति सम्पन्न सिद्ध हुईं कि अन्ततोगत्वा भीषण संघर्षोपरान्त पर्वतीय क्षेत्र के अनार्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में ये (संस्थायें) समर्थ सिद्ध हो सकीं।

जीवन सुरक्षा[3] की मूल भावना ने ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्य-अनार्य कबीलों को राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं को गठित करने की प्रेरणा दी, जिसमें भूसंरचना, जलाशय एवं वनस्पति जैसी अनुकूल प्राकृतिक परिस्थितियों का भी पूर्ण ध्यान रखा गया। यही कारण है कि तत्कालीन जनों, ग्रामों एवं पुरों (दुर्गों) आदि की सीमायें शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिये अलंघ्य सघन वनों, उत्तुंग पर्वतों या गहरी नदी-धारा से घिरी रहती थीं।

---

१. ऋग्वेद, १/११४/१, २/२६/३, ३/५३/१२, ४/२८/४, ४२/१, १०/१७३/५, (ग्राम, जन, विश्, राष्ट्र आदि)।

२. वही, २/२४/३३, ८/४/६, १०/६७/६, ६/२८/६, १०/६२/६, ६७/६ (सभा समिति)।

३. वही, १०/१७४/२, १०/१२४/८, ७/३/७।

सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्य-अनार्यों में सजातीयता[1] अथवा रक्तसम्बन्ध की भावना न केवल सामाजिक अपितु राजनैतिक संस्थाओं को भी गठित करने में महत्त्व-पूर्ण कारक मानी जा सकती है। ऋग्वैदिक आर्यों के पितृसत्तात्मक परिवार एक ही क्षेत्र में स्थायी रूप से बसकर इसी रक्त सम्बन्ध अथवा सजातीयता की भावना से विक-सित एवं संगठित होकर आगे अनेक शक्तिशाली जनों (कबीलों या राज्यों) की राजनैतिक इकाई रूप में परिणत हो गये। आर्यों की (यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, पुरु जैसी) प्रत्येक राजनैतिक इकाई (जन या कबीला) सजातीय अथवा सनाभि होने से परस्पर संगठित रहती थी।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानवों में उपासना एवं धार्मिक भावना की समानता[2] (एकता) एवं असमानता[3] (भिन्नता) ने भी राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं के गठन में महत्त्वपूर्ण योग दिया। पितृ-पूजा, प्राकृतिक शक्तियों (इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, मरुत्, पर्जन्य आदि) की उपासना तथा अन्य समान यज्ञादि धार्मिक विधियों एवं प्रवृत्तियों ने आर्यों के अनेक जनों (कबीलों) को पारस्परिक भेदभाव अथवा वर्ग-स्वार्थ को भुलाकर व्यापक रूप से अनार्यों के विरुद्ध धार्मिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि पर संगठित करने में विशेष अनुकूल परिस्थिति उपस्थित की थी।

आर्यों में इसी धार्मिक भावना की प्रबलता के कारण तत्कालीन राज-पुरोहितों (प्रधान मंत्रियों) का धार्मिक नेताओं के रूप में अमोघ प्रभाव[4] तत्सम्बन्धित जन (कबीले) की समस्त प्रजा तथा राजा दोनों पर व्यापक रूप में होता था कि राज्य-व्यवस्था में राज्याधिकारी के रूप में उनके राजनीतिक दाँव-पेंचों से पूर्ण निर्देशों का परिपालन राज्य में तत्काल होता था। भरद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऐसे प्रभावी धार्मिक नेताओं (राज पुरोहितों) के रूप में उल्लेखनीय हैं, जिनका राजनैतिक संगठनों के बनाने-बिगाड़ने में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा था।

ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश की भौतिक समृद्धियों के प्रति आसक्त[5] एवं

---

१. ऋग्वेद, १/१३०/८, (आर्य यजमान की रक्षा, काले अनार्य का नाश), १/१०८/८, ६/४६/८, ७/३३/१।
२. वही, १०/१९१/३, समानो मंत्रः समितिः समानी।
३. वही, ७/२१/५, ३/३१,२१, २/२०/७।
४. वही, ७/३३/६।
५. वही, १/४७/६, ८/४०/४, ५/३०/१४।

स्वार्थपरायण मानव में वर्ग-संघर्ष (युद्ध) की प्रवृत्ति ने भी "अर्थसिद्धि"[1] के लिये स्थायी रूप से राजनैतिक संगठन एवं सुयोग्य-स्वामी नेतृत्व की आवश्यकता[2] का अनुभव कराकर स्वाभाविक राजनीतिक चेतना के आधार पर तत्कालीन आर्य-अनार्यों को जनों (राज्यों) तथा राजाओं को बनाने के लिये बाध्य किया था।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश में विशिष्ट राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं को गठित करने में विविध प्राकृतिक परिस्थितियो के साथ ही मानवीय परिस्थितियों की अवस्था भी कम महत्त्वपूर्ण कारक नहीं थी।

राज्य-व्यवस्था एवं शासन यंत्र पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव

ऋग्वेदकालीन् सप्तसैन्धव प्रदेश की राज्य-व्यवस्था एवं शासन-यंत्र बहुत कुछ भौगोलिक दशाओं से दो रूपों में प्रभावित परिलक्षित होता है।

१. स्वरूपगत प्रभाव। २. स्वभाव (प्रकृतिगत प्रभाव)।

राज्य-व्यवस्था अथवा शासनयंत्र का वाह्य स्वरूप भौगोलिक दशाओं से पूर्णतया अनुप्राणित एवं नियंत्रित रहता है।

स्थल की संरचना, जलाशयों का स्वरूप, वनस्पति एवं जलवायु आदि भौगोलिक कारक राज्यों के आन्तरिक प्रखण्डों (ग्राम, व्रज, परगना, विश या जनपदों आदि) के विभाजन को सर्वथा प्रभावित करते है। यही कारण है, भूमि की बनावट (पहाड़ी, मैदानी, रेतीली, कँकरीली आदि) नदियों के प्रवाह की दिशा, जनसंख्या का घनत्व (सघन जनसंख्या उत्तम जलवायु से होती है) आदि तथ्यों को दृष्टि में रख कर जनपदों या राज्यों का विभाजन किया जाता है। जनपदों या राज्यों की अलंघ्य प्राकृतिक सीमाओं के रूप मे पर्वत-शृंखलाओं, घने वनों एवं नदियों की अवस्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि इससे संचार (यातायात) के साधन प्रभावित होने के कारण राज्य-व्यवस्था अथवा शासनयंत्र भी प्रत्यक्षतः प्रभावित रहता है। यह तथ्य सप्तसैन्धव प्रदेश की राज्य-व्यवस्था से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अनेक नदियों के प्रवाहों के प्राकृतिक व्यवधान से तत्कालीन जनों में पारस्परिक ताल-मेल न होने के कारण अखण्ड राज्य का स्वरूप सर्वथा दृष्टिगत नहीं होता है।

भौगोलिक दशाओं से न केवल राज्य-व्यवस्था का वाह्य स्वरूप ही प्रभावित

---

१. ऋग्वेद, ७/१८/१३, ७/१९/८। २. वही, ६/८/४।

होता है, अपितु आन्तरिक प्रकृति, राज्य की क्षमता (कार्य प्रणाली) भी प्रभावित होती है। यही कारण है, मैदानी, समतल, उपजाऊ जनपदों या राज्यों की अपेक्षा पर्वतीय अथवा उजाड़ प्रदेशों की कार्य-क्षमता अथवा (राज्यव्यवस्था, गमनागमन के साधनों के अतिरिक्त आर्थिक-समृद्धि के अभाव के कारण अप्रभावी होती है। तत्-कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश की अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करने के कारण बलि (कर) का प्रमुख स्रोत ये ग्राम ही थे और जनों या राष्ट्र के राजा की समस्त राज्यव्यवस्था जनयुगीन अर्थतंत्र के आधाररूप इन छोटे ग्रामों पर ही अवलम्बित रहती थी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश की राज्य-व्यवस्था प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक वातावरण से प्रभावित थी तथा प्रभावी भौगोलिक दशाओं को दृष्टि में रख कर उनके अनुकूल शासनयन्त्र संचालित होकर मानव की इस उच्च सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति करता था। यह तथ्य आगे विवेचित अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश्, पुरु, तृत्सु (भरत), पक्थ, अलिन, शिव, भलानस् विषाणी आदि आर्य जनों (कबीलों) तथा अज, शिग्रु, यक्षु, शिम्यु, दास, दस्यु, पणि, असुर, पिशाच आदि अनार्यों के कबीलों के क्षेत्रों के निर्धारण से स्पष्ट हो जाता है।

प्रमुख जनों (राज्यों) एवं आर्य-अनार्य कबीलों का क्षेत्र निर्धारण

सप्तसैन्धव प्रदेश का मानव ग्राम से लेकर जनों तक के व्यापक क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण अपने विशिष्ट राजनीतिक स्वरूप से युक्त दृष्टिगत होता है। भौगोलिक दृष्टि से भौमिक विभाजन के आधार पर प्रतीत होता है, ऋग्वैदिक ऋषियों ने सप्तसैन्धव प्रदेश का निम्नलिखित तीन भागों में प्रादेशिक विभाजन[1] था—(१) अर्वावत, (२) परावत, (३) अन्तरवर्ती (मध्यभाग)।

(१) अर्वावत्—ऋग्वेद[2] की अनेक ऋचाओं में उल्लिखित इस क्षेत्र के अन्तर्गत सप्तसैन्धव प्रदेश के समीपवर्ती पूर्वी भाग (अर्वावत् समुद्र की दिशा) से सम्बन्धित जनों (राज्यों) एवं आर्य-अनार्य कबीलों को ग्रहण किया गया है, जिसमें पुरु (तृत्सु एवं भरत), शिग्रु, यक्षु, अज, शिम्यु आदि कबीलों के राज्य उल्लेखनीय हैं।

---

१. ऋग्वेद, ३/४०/८—अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्र हन्। ३/४०/९—यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे।

२. वही, ३/४०/८, ९, ९/६५/२२—ये सोमासः परावति ये अर्वावति......

(२) परावत— पश्चिमी समुद्र की ओर का सुदूरवर्ती पर्वतीय भूभाग परावत प्रदेश के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, जिसमें सिन्धु नदी के पार शिव, अलिन, पक्थ, भलानस्, विषाणी आदि जनों का राज्य था, जिसका ऋग्वेद में प्रायः उल्लेख प्राप्त होता है[1]।

(३) अन्तरा या अन्तर्वर्ती (मध्यभाग)—अर्वावत् और परावत के मध्य में सप्तसैन्धव प्रदेश का अधिकांश मैदानी भाग अन्तरा (मध्यभाग) कहा जाता है, जिसमें यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु आदि जनों का राज्य था।

उपर्युक्त विस्तीर्ण राजनैतिक प्रादेशिक विभाजन में धरातलीय संरचना के अतिरिक्त नदियों के प्रवाह की दिशा का भी विशेष ध्यान रखा गया है। इसे स्वीकार करते हुए श्री श्रीराम शर्मा[2] ने अन्तरा (मध्य) क्षेत्र से दूरी के आधार पर क्रमशः अर्वावत् पूर्व में पास और दूर (पश्चिम में) परावत् को निर्दिष्ट किया है। इस प्रादेशिक विभाजन से सम्बन्धित निम्नलिखित आर्य जनों (राज्यों) एवं कबीलों की राजनीतिक अवस्थिति भौगोलिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है।

पुरु—प्रभावशाली आर्य जाति अथवा जन (राज्य) के रूप में अनु,द्रुह्यु, तुर्वश और यदु जनों के साथ इसका ऋग्वेद[3] में उल्लेख हुआ है। अनेक स्थलों[4] पर सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्य प्राचीन जनों एवं कबीलों पर पुरुओं की विजय का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है।

त्सिमर[5] और हिलेब्राण्ट[6] पुरुओं के राज्य को सिन्धु क्षेत्र से संबंधित बताते हैं, किन्तु ऋग्वेद[7] में स्पष्टरूप से इनका सरस्वती के तट पर निवास होने का उल्लेख हुआ है। इसी आधार पर डॉ० मैक्डानेल और कीथ[8] ने भी पुरु जन को सरस्वती

---

१. ऋग्वेद, ६/४४/१५—गन्ता यज्ञं परावतः ···६/४५/१, ५/३०/५, ८/१२/६, ८/३२/२२, १०/५८/११, १०/१३७/२, १०/१४४/४।
२. वही, (द्वितीय भाग), १९६७ बरेली, पृ०५२३।
३. वही १/१०८/८, १/३६/१।
४. वही १/५९/६, ४/१७४/२, ४/२१/१०, ३८/१, ६/२०/१०, ७/५/३, १९/३। ५. आल्टिन्डिशे लेबेन, १२४।
६. वेदिशे माइथोलाजी, १/११४। ७. ऋग्वेद, ७/९६/२।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, द्रष्टव्य—मानचित्र, भाग २, पृ०११-१४।

के पश्चिमी तट से संबंधित स्वीकार किया है। ऋग्वेद[1] में इनके प्रतापी राजाओं में पुरु आदि का भी उल्लेख हुआ है। कालान्तर में पारस्परिक संघर्ष के कारण पशुओं का जन[2] (राज्य) कई शाखाओं में विभाजित हो गया, जिनमें भरत, तृत्सु और कुशिक जन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भरत जन के प्रमुख राजाओं में प्रवयश्व, दिवोदास एवं सुदास को पुरुभरत भी कहा जाता था। प्राचीन पुरु जन पश्चिम में परुष्णी (रावी) से लेकर पूर्व में सरस्वती तक विस्तृत था, किन्तु कालान्तर में इसका विभाजन होने पर पुरु कुरु रूप में सरस्वती के आस-पास कुरुक्षेत्र में ही सीमित रह गये और भरतों एवं तृत्सुओं का परुष्णी नदी तक प्रभाव अधिक व्यापक दृष्टिगत होता है।

प्रतीत होता है, पारस्परिक संघर्ष के पश्चात् पुरु जन के संकुचित (कुरुक्षेत्र में) रह जाने पर भरत जन का प्रभुत्व परुष्णी से लेकर समस्त सारस्वत प्रदेश पर छा गया।

भरत जन के पूर्व पुरोहित (प्रधान मंत्री) वसिष्ठ[3] और कुशिक जनों के प्रमुख विश्वामित्र[4] में पौरोहित्य के कारण उत्पन्न विद्वेष से इन जनों (राज्यों) में परस्पर संघर्ष छिड़ा था, तथापि अनेक संदर्भों[5] से यह सिद्ध होता है कि भरतों की ही एक शाखा तृत्सु थी, क्योंकि सुदास को भरतों एवं तृत्सुओं से सर्वथा अभिन्न बताया गया है।

पं० बलदेव उपाध्याय की अवधारणा है[6] कि भौतिक स्थिति की गड़बड़ी के कारण भरतों को तृत्सुओं से अभिन्न मानना ठीक नहीं जँचता। वे भरतों को सारस्वत मण्डल में एवं तृत्सुओं को परुष्णी तट पर अवस्थित मानते हैं, जबकि श्री राहुल सांकृत्यायन[7] तृत्सुओं को भरतों की एक शाखा और पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ[8] इन दोनों जनों को निकटतम सम्बन्धी मानते हैं।

---

१. ऋग्वेद, १/१०८/८ (पुरु)।
२. वही, ७/८/४ (भरतों का पुरुओं से युद्ध तथा पुरुओं की पराजय)।
३. वही, ७/३३/६। ४. वही, ३/५३/९—विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम-प्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः।
५. वही, ७/३३/६, ८३,६,८, ७/१८/१३।
६. वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, २०१९ वि०, पृ० ४०२।
७. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १८-१९।
८. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १०५।

समीक्षा—प्रारम्भ में परुष्णी और सरस्वती नदियों के मध्यवर्ती भू-भाग में पुरु राज्य प्रभावी था, किन्तु कालान्तर में भरतों तथा उनकी शाखा तृत्सुओं का राजनैतिक प्रभाव समस्त पूर्वी सप्तसैन्धव प्रदेश (अर्यावत) में परुष्णी से लेकर सारस्वत क्षेत्र तक व्याप्त हो गया। सरस्वती नदी इनके राज्य की पूर्वी सीमा होने के कारण उसके तट पर[1] यज्ञादि विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य किया करते थे। यज्ञाग्नि भरतों से ही विशेष रूप से सम्बंधित होने के कारण 'भारती'[2] अथवा 'भारत' कही गयी है। इस प्राचीनतम राज्य की आदर्श ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की छाप इस राष्ट्र पर ऐसी पड़ी कि इसके अथवा इसके वंश में उत्पन्न यशस्वी राजा भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। विश्वामित्र की एक ऋचा[3] से प्रतीत होता है, ऋग्वैदिक काल में ही यह राज्य 'भारत' कहा जाने लगा था।

यदु—इस जन का प्राय: तुर्वशों के साथ अनेक स्थलों[4] में उल्लेख प्राप्त होता है। इससे तुर्वशों की यदुओं से अत्यन्त समीपता एव घनिष्ठता व्यक्त होती है। परुष्णी के पूर्व में अवस्थित भरत अथवा तृत्सुओं के जन से इनका घोर विरोध था तथा भरतों के राजा सुदास पर पश्चिम के दस राजाओं के हुए सामूहिक आक्रमण में इन्होंने भी योग दिया था। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदुओं का जन परुष्णी (रावी) के पश्चिम में वितस्ता के आस-पास अवस्थित था। श्री राहुल सांकृत्यायन[5] भी सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तर्गत काफी पश्चिम में इनका निवास स्वीकार करते हैं तथा वहाँ से परवर्तीकाल में शूरसेन राज्य (मथुरा) से लेकर सुदूर दक्षिण में इनके विस्तृत होने का तथ्य व्यक्त करते हैं।

तुर्वश—यदु जन के साथ ऋग्वेद के अनेक स्थलों[6] में तुर्वशों का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है, यदुओं के साथ ये घनिष्ठ संबंधित थे तथा तृत्सुओं

---

१. ऋग्वेद, ३/२३/४, ११-१२।

२. वही, ३/४/८—आ भारती भारतीभि: सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्नि:।

३. वही, ३/५३/१२,—विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।

४. वही, १/३६/१८, ५४/६, १७४/६, ४/३०/१७, ५/३१/८, ६/४५/१, ८/४/७।

५. ऋग्वैदिक आर्य, पृष्ठ १६।

६. ऋग्वेद, १/३६/१८, ५४/६, १०८/८, ६/२०/१२, ४५/१, ८/४/७, ७/१८, ६/१४, ५६/२७, १०/४६/८।

(भरतों) से स्वाभाविक शत्रुता मानते थे। यही कारण है कि इन्होंने राजा सुदास पर अन्य विरोधी राजाओं के साथ पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ कर आक्रमण किया था, जिसमें विफल होकर ये यदुओं के साथ बच कर भाग निकले थे। अतः सिद्ध होता है कि तुर्वश जन भी परुष्णी के सुदूर पश्चिम में अर्थात् वितस्ता (झेलम) और असिक्नी के मध्यवर्ती भू भाग में विद्यमान था। मैक्डानेल[1] एवं कीथ ने मानचित्र में इस जन को असिक्नी और परुष्णी ने मध्य में प्रदर्शित किया है।

इनके राज्य की अवस्थिति विषयक ग्रिफिथ[2] की अर्ण और चित्ररथ के सन्दर्भ में सरयु के तट की तथा त्सिमर[3] की तुर्वशों का वृचीवन्तों से समीकरण करते हुए यव्यावती एवं हरियूपीया के तट की अवधारणा तथ्ययुक्त न होने से स्वीकार्य नहीं है। श्री राहुल सांकृत्यायन[4] इन्हें मूलतः पश्चिम में सिन्धु के समीप का मानते हैं, किन्तु कालान्तर में ये दोनों जन पश्चिम से आकर सृंजयों के समीप शुतुद्रि और परुष्णी के निचले भागों में बस गये। एक ऋचा[5] में तुर्वश और यदु का परावत (पश्चिम के प्रदेश) से आने का स्पष्ट उल्लेख है।

समीक्षा—यदुजनों की अवस्थिति के अतिरिक्त भरतों (तृत्सुओं) के जन के विस्तार को भी दृष्टि में रखते हुए तुर्वशों के जन को परुष्णी नदी के पश्चिम में असिक्नी और वितस्ता के मध्यवर्ती क्षेत्र में विस्तृत मानना समीचीन प्रतीत होता है।

अनु—ऋग्वेद के अनेक स्थलों[6] पर प्रायः द्रुह्यु एवं भृगुओं के साथ इनका उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि द्रुह्यु जन से मित्र पड़ोसी राज्य के रूप में तथा भृगु लोगों से पुरोहित (प्रधान मंत्री) के रूप में अनुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सुदास (तृत्सु-भरतों के राजा) पर पश्चिम से विरोधी दस राजाओं के हुए आक्रमण में अनु और द्रुह्यु भी सम्मिलित थे, जो कि विफल होकर वापस भागने में सफल न हो सके; क्योंकि उनके श्रुत, कवष जैसे प्रमुख व्यक्ति परुष्णी की गहरी धारा में डूब गये थे और युद्ध में ६६०६६ आदमी मारे गये। श्री राहुल सांकृत्यायन[7] इनके जन

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १ (मानचित्र)।
२. ऋग्वेद के सूक्त, ग्रिफिथ, १, ४३३ (नोट)।
३. आल्टिण्डिशे लेबेन, १२४।
४. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २०।
५. ऋग्वेद, ६/४५/१,—स-आनयत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्।
६. वही, १/१०८/८, ७/१८/१४, ८/१०/५, ७४/१५, ७/६७/१४।
७. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २२।

को द्रुह्यु जन के समीप परुष्णी (रावी) के पश्चिम में वितस्ता (झेलम) तक विस्तृत मानते हैं, जबकि डा० मैक्डानेल[1] एवं कीथ ने मानचित्र में अनुजन को परुष्णी और असिक्नी (चेनाब) के मध्य (निचले प्रवाह-क्षेत्र) में प्रदर्शित किया है।

ऋग्वेद के एक स्थल[2] पर, अनुओं के उल्लेख के आधार पर इन्हें परुष्णी नदी (रावी) से ही सम्बन्धित स्वीकार करना समीचीन है और यह नदी इनके राज्य की पूर्वी प्राकृतिक सीमा था, जबकि पश्चिम में असिक्नी को ही सीमा के रूप में निर्धारित किया जा सकता है। ग्रासमैन एवं राथ[3] इन्हें अनार्य जाति से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं, जबकि त्सिमर[4] ने इनको अन्य यदु, तुर्वश, पुरु आदि आर्यजनों के ही समान जनजातीय बोधक बताया है।

समीक्षा— सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तरा (मध्यवर्ती) भाग में परुष्णी और असिक्नी नदियों के निचले प्रवाह क्षेत्र का यह प्रमुख आर्य जन है, जो भरतों का महान् प्रतिद्वन्द्वी एवं द्रुह्युओं का पड़ोसी मित्र राज्य था।

द्रुह्यु—अनुओं के साथ ऋग्वेद में अनेक स्थलों[5] पर इनका उल्लेख हुआ है। इन्होंने परुष्णी पार कर पश्चिम से भरतों के राजा सुदास पर दस विरोधी राजाओं के साथ आक्रमण किया था, जिसमें पराजित होकर अपने सहायकों (अनुओं) सहित द्रुह्यु भागने में सफल नहीं हुए और परुष्णी के जल में डूब कर मर गये थे[6]। अन्य कबीलों एवं जातियों के क्षेत्र निर्धारित करने पर राथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वान्[7] इन्हें (सप्त-सैन्धव प्रदेशीय) पश्चिमोत्तर भाग में रहने वाली जाति से सम्बन्धित मानते हैं, जबकि पौराणिक एवं परवर्ती महाकाव्य परम्परा को समर्पित करने वाले विद्वान्[8] गान्धार और द्रुह्यु को सम्बद्ध स्वीकार करते हैं।

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १।
२ ऋग्वेद, ८/७४/१५ (तुलनीय ७/१८/१४)।
३. सेण्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। ४. आल्टिण्डिशे लेबेन, १२५।
५. ऋग्वेद, १/१०८/८, ६/४६/८, ७/१८/१२, १४, ८/१०/५।
६. वही, ७/१८/१४, निगव्यवोऽनुवो द्रुह्यव च षष्ठि शता सुषुपुः षट् सहस्राः। षष्ठिर्वीरासो अधिषड् दुवोयु······।
७. Zur Litheratur und geschiste Des weda, 131-133.
८. पार्जिटर, जर्नल आफ अमेरिकन सोसाइटी, १६१०, पेज ४६। मैक्डानेल, वैदिक माइथोलाजी, पृ० १४०, लुडविग, ऋग्वेद का अनुवाद, ३,२०५। पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३६७, पं० वि०ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १०६।

तृत्सु या भरतों के जन पर परुष्णी नदी पार कर द्रुह्युओं द्वारा आक्रमण किया गया था। अतः द्रुह्युओं का जन निश्चित रूप से परुष्णी नदी के पश्चिम में असिक्नी (चिनाब) तक फैला हुआ था। श्री राहुल सांकृत्यायन[1] ने इनके उत्तर में अनुओं को निर्दिष्ट करते हुये राज्य का विस्तार पश्चिम में असिक्नी के आगे वितस्ता (झेलम) तक माना है, जबकि मैक्डानेल और कीथ ने अनुओं के उत्तर ने द्रुह्यु जन को मानचित्र में परुष्णी और असिक्नी के मध्यवर्ती भाग में ही प्रदर्शित किया है।

समीक्षा—'यदु और तुर्वश जनों की अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए द्रुह्यु जन को पूर्व मे परुष्णी और पश्चिम में असिक्नी के मध्य भाग में विस्तृत मानना समीचीन प्रतीत होता है। अनुओं का जन इसके दक्षिणी पड़ोसी भाग में अवस्थित था तथा उत्तरी भाग में हिमवन्त पर्वत की प्राकृतिक सीमा प्राचीर की भाँति सुरक्षा प्रदान करती थी। यह जन भी यदु, तुर्वश और अनुओं की भाँति सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्तरा (मध्य) भाग का महत्त्वपूर्ण राज्य था, जो नदियों की प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित था। इन्होने अनु, यदु, तुर्वश, पक्थ, भलानस्, विषाणी, शिव, अलिन आदि मित्रजनों का ही साथ देते हुए अपनी पूर्वी सीमा निर्धारक नदी परुष्णी को पार कर तृत्सुओं की भूमि पर राजा सुदास पर आक्रमण करने का सफल प्रयास किया था, जिसमें वे अधिकांश डूब कर विनष्ट हो गये थे[2]।

पक्थ—ऋग्वेद के तीन[3] स्थलों में पक्थ जन का उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार आश्विनों के आश्रित च्यवान के विपक्षी, त्रसदस्यु (पुरु) के सहायक आर्य ही प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त तृत्सु-भरतों पर आक्रमण करने वाले विरोधी राज्य के रूप में भी यह उल्लिखित हुये हैं।[4] त्सिमर[5] पक्थों को हेरोडोटस द्वारा निर्दिष्ट भारत के उत्तर-पश्चिम में बसी 'पक्ट्यूस' (पक्टुइके देश की) जाति के साथ ही पूर्वी अफगानिस्तान की आधुनिक पक्त्तून जाति (पख्तून) से समीकृत करते हैं। भारतीय बिद्वानों[6] ने भी इन्हें आधुनिक अफगानों का पूर्वज (पठान) मानते हुए सिन्धु पार

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २२।

२. ऋग्वेद, ७/१८/१४,—निगव्यवोऽनुवो द्रुह्यव च षष्ठि शताःसुषुपुः षट् सहस्राः। षष्टिर्वीरासो अधिषड् दुवोयु ।

३. वही, ८/२२/१०, ८/४९/१०, १०/६१/१।

४. वही, ७/१८/७।

५. आल्टिण्डिशे लेबेन, ४३०-४३१।

६. पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, ४०२। म० पं० राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २३।

के पश्चिमी भूभाग वर्तमान अफगानिस्तान से सम्बन्धित स्वीकार किया है। अतएव पक्थों का जन सप्तसैन्धव प्रदेश के परावत (पश्चिमी) प्रदेश के पर्वतीय भूभाग में क्रुमु (कुर्रम) नदी के आस-पास अवस्थित मानना चाहिये। हिमवन्त की ही उत्तर-पश्चिमी शृंखलाओं से सम्बन्धित होने के कारण इसे भौगोलिक रूप में प्राकृतिक सुरक्षा प्राप्त थी।

भलान—पक्थों के साथ भलानों के जन का वर्णन[1] किया गया है, जिससे प्रतीत होता है, यह जन पक्थों का ही निकट वा पड़ोसी था तथा राजा सुदास के प्रतिद्वन्द्वी रूप में पक्थ, अलिन, विषाणिन् आदि जनों के साथ रहे थे। भलानों का मूल आवास पूर्वी अफगानिस्तान का कबूलिस्तान मानते हुए त्सिमर[2] बोलन (दर्रे) के नाम के साथ इनका समीकरण करते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन[3] भी भलानों के नाम को बोलन दर्रे में सुरक्षित पाते हैं।

ऋग्वेद में इनके सन्दर्भ के साथ ही उपर्युक्त तथ्यात्मक मतों को दृष्टि में रखते हुये भलान जन को सिन्धु के पश्चिम में कुभा और क्रमु के मध्यवर्ती पर्वतीय निचले प्रवाह क्षेत्र में अवस्थित मानना सर्वथा समीचीन है।

अलिन—ऋग्वेद के एक स्थल[4] पर ही इनका पक्थों, भलानों, विषाणिन् और शिवों के साथ उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है, अलिन जन भी सिन्धु नदी के पश्चिमी पर्वतीय भूभाग (पख्तूनिस्तान) से सम्बन्धित थे। त्सिमर[5] की अवधारणा है कि अलिनों का जन काफिरिस्तान के उ० पूर्व से सम्बन्धित था, जबकि राथ[6] इनको तृत्सुओं के मित्र यहाँ तक उनके एक उपभेद होने की निराधार कल्पना करते हैं। ऋग्वेद में व्यक्त तथ्यों के आधार पर ये भी सिन्धु के पश्चिमी क्षेत्र से सम्बन्धित सुदास के पराजित प्रतिद्वन्द्वी थी, इसे लुडविग[7] ने भी स्वीकार किया है तथा मैकडानेल[8] एवं कीथ ने भी सिन्धु में गिरने वाला महेलु के समीप मानचित्र में इन्हें प्रदर्शित किया है।

१. ऋग्वेद, ७/१८/१, आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
२. आल्टिण्डिशे लेबेन, ४३१, तुलनीय लुडविग, ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७३, २०७।
३. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २३।
४. ऋग्वेद, ७/१८/७। ५. आल्टिण्डिशे लेबेन, १२६, ४३१।
६. Zur Litheratur und geschiste Des Weda, 95.
७. ऋग्वेद, का अनुवाद, ३, २०७।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृष्ठ १ (मानचित्र)।

अतः अलिनों को सिन्धु के पश्चिम (काफरिस्तान के उ० पू०) में अवस्थित मानना संगत प्रतीत होता है।

विषाणिन्—इनका सिन्धु के पश्चिमी भाग की पर्वतीय आर्य जातियों के साथ तृत्सुओं (भरतों) के शत्रुओं के रूप में[1] उल्लेख हुआ है। डा० मैकडानेल एवं कीथ[2] ने इस जाति का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करते हुए इनके द्वारा सींग के आकार का शिरस्त्राण धारण करने की संभावना की है तथा मानचित्र में इस जन को गोमती (गोमल) और क्रमु के मध्यवर्ती पर्वतीय क्षेत्र में प्रदर्शित किया है।

समीक्षा—प्राचीन भारतीय शिल्प-चित्र[3] में नागों के फणाकार मुकुट के तथ्य को दृष्टि में रखते हुए डा० मैकडानेल एवं कीथ की इस संभावना को तथ्ययुक्त मानना समीचीन प्रतीत होता है कि विषाणिन् लोग अपने शिरों पर सींगों का अलंकृत मुकुट अथवा शिरस्त्राण धारण करते थे। इनका राज्य सिन्धु के पश्चिमी पर्वतीय भूभाग में भलानों और पक्थों के समीप (पख्तूनिस्तान में) था।

शिव—तृत्सुओं के राजा सुदास के प्रतिद्वन्द्वियों में शिवों का भी ऋग्वेद (७/१८/७) में उल्लेख हुआ है, जिसे यूनानियों[4] ने 'सिबै' अथवा 'सिबोई' रूप से समीकृत करते हुए सिन्धु और असिक्नी के मध्यवर्ती क्षेत्र में बसा बताया है। भारतीय आचार्यों में पाणिनि[5] ने इनका उत्तरी देश में उल्लेख किया है, जिसे भाष्यकारों ने आधुनिक[6] 'शिवपुर' ग्राम से समीकृत किया है।

श्री राहुल सांकृत्यायन[7] ने भी शिवों के जन को जेहलम् (वितस्ता) और सिन्धु के मध्य में विस्तृत मानते हुए परवर्ती शिवि राज्य से सम्बन्धित स्वीकार किया है, जिसके नाम का उल्लेख एक अभिलेख में हुआ है, जो शोरकोट में प्राप्त किया गया था।

समीक्षा—उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में रखते हुये निश्चित रूप से शिवों के जन को सिन्धु के पूर्वी तट से सम्बन्धित मानना सर्वथा समीचीन है। इनके पश्चिम में सिन्धु के दूसरे तट से लगे हुये अलिन और विषाणिन् के राज्य थे। शिवों की पूर्वी सीमा, प्रतीत होता है कि वितस्ता (झेलम) नदी बनाती थी।

---

१. ऋग्वेद, ७/१८/७। २. वैदिक इं० भाग २, पृ० ३५०, अनु०रा० कु० राय।
३. अजन्ता की ११वीं गुहा में बैठे एक नाग का पृष्ठभाग का चित्र।
४. अरियन-इण्डिका, ५/१२, डियोडोरस, १७/८६।
५. अष्टाध्यायी, ४/२/१०८। ६. वेबर, इण्डिशेस्टूडियन, १३, ३७६।
७. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० २३।

पक्थ—इस जन का अनेक स्थलों पर ऋग्वेद में[1] उल्लेख हुआ है, जिसमें कक्षीवन्त (पज्रिय तथा भाव्य) उत्पन्न हुए थे। पिशेल[2] की अवधारणा है कि इस जन के लिये प्रयुक्त 'प्रक्षयाम' उपाधि से इनकी उत्कृष्ट यज्ञीय कार्य करने की प्रवृत्ति प्रकट होती है। पज्रवंशीय राजा भाव्य के सन्दर्भ से पं० बलदेव उपाध्याय[3] इस जन को सिन्धु नदी के तट पर अवस्थित स्वीकार करते हैं। अतएव इस जन को ऋग्वेद में उल्लिखित राजा भाव्य के सन्दर्भ[4] के आधार पर सिन्धु नदी के आस-पास ही मानना समीचीन है।

क्रिवि—ऋग्वेद के अनेक स्थलों[5] में क्रिवि का अनिश्चित रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु कतिपय ऋचाओं[6] में निश्चित रूप से क्रिवि शब्द जन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसे डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ सिन्धु और असिक्नी के तट से संबंधित मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण[7] में राजा 'क्रैव्य पांचाल के' नाम के आधार पर क्रिवि को पांचाल का प्राचीन नाम बताया गया है। इस आधार पर त्सिमर[8] का अनुमान है कि कुरुओं के साथ क्रिवि लोग मिलकर बाद में वैकर्ण बन गये, जबकि हापकिन्स[9] की संभावना है कि क्रिवियों के साथ अंशतः सम्बद्ध होकर पांचाल हो गये थे, किन्तु यह तथ्य अप्रामाणिक होने के कारण पार्जिटर[10], ग्रियर्सन[11], लुडविग[12] आदि विद्वानों के द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। अतएव 'क्रिवि' जन को पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त भारतीय विद्वानों[13] के तथ्यपूर्ण मत पर विचार करते हुये असिक्नी के पश्चिम में सिन्धु एवं वितस्ता तक विस्तृत माना जा सकता है।

---

१. ऋग्वेद, १/११७/१०, १२२/७, ८, १२६/१, ४, ५।
२. वेदिशे स्टूडियन, १, ९७-९८।
३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३९७।
४. ऋग्वेद, १/१२६/१, "सिन्धावधि क्षियताभाव्यस्य।"
५. वही, १/३०/१, ८/२०/२४, २२/१२, ८७/१, ९/९/६।
६. वही, ८/२०/२४, २२/१२।
७. शत० ब्रा०, १३/५/४/७, १६ (क्रिवि = पांचाल)
८. आल्टिण्डिशे लेबेन, १०३।
९. जर्नल अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, १५/२५८।
१०. जे० ए० सो० १९१०, ४८, नोट ४, ५। ११. वही, १९०८, ६०२, ६०७।
१२. ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५२, ५३।
१३. पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४०० तथा पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १०६।

वैकर्ण—दशराज्ञ-वर्णन-प्रसंग[1] में वैकर्ण का जन के रूप में उल्लेख हुआ है, जहाँ राजा सुदास द्वारा दो वैकर्ण राजाओं की २१ जातियों को उन्मूलित कर दिया था। त्सिमर[2] का इस संबंध में अनुमान है कि यह जन कुरु एवं क्रिवि जनों से मिल कर अस्तित्व में आया था। जबकि रॉथ[3] ने विकर्णों को कश्मीर क्षेत्र में बसा बताया है जो कुरुओं के राज्य के उत्तरी भाग (उत्तर कुरु) से भिन्न नहीं था। तृत्सुराज सुदास की समर-स्थली (परुष्णी तट) के साथ ही क्रिवियों के क्षेत्र (असिक्नी सिन्धु का मध्यवर्ती भाग) को दृष्टि में रखते हुये वैकर्ण जन को भी क्रिवि जन के उत्तर में असिक्नी और वितस्ता की ऊपरी घाटी में अवस्थित मानना समीचीन प्रतीत होता है।

आर्जीक—ऋग्वेद के स्थलों में[4] आर्जीक राज्य का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह राज्य ऋजीक पर्वतीय क्षेत्र, जहाँ से आर्जीकीया नदी निकलती थी, से संबंधित था तथा सोमोत्पादन के लिये सम्पूर्ण सप्तसैन्धव प्रदेश में सुविख्यात था। हिलेब्राण्ट[5] एवं पिशेल[6] आदि पाश्चात्य विद्वानों के मत के औचित्य को देखते हुये डा० मैक्डानेल एवं कीथ इसे देश या जाति मानते हुये सिन्धु और वितस्ता के ऊपरी भाग में कश्मीर क्षेत्र से पृथक् अवस्थित नहीं निर्दिष्ट करते हैं। अत. इसी कश्मीर क्षेत्र में आर्जीक को मानना उचित है।

पस्त्यावन्त—आर्जीक के साथ ही पस्त्यावन्त राज्य का भी उल्लेख है।[7] इससे ज्ञात होता है कि यह पक्थ जन से सर्वथा भिन्न एवं दूर स्थित आर्जीक के आस-पास वर्तमान कश्मीर क्षेत्र का ही सोमोत्पादक, अधिक घरों या ग्रामों वाला पर्वतीय जन था। पिशेल[8] इसे 'मध्येपस्त्यानाम्' के आधार पर 'जल-धाराओं के मध्य स्थित' पतियाल (पटियाला) क्षेत्र से अभिन्न होने की संभावना करते हैं, किन्तु पटियाला से आर्जीक की अधिक दूरी होने के कारण पिशेल महोदय का मत मान्य नहीं कहा जा सकता और पस्त्यावन्त जन को आर्जीक के पास सिन्धु की ऊपरी घाटी में दूसरी ओर (उ०-प०) अवस्थित मानना अधिक समीचीन है।

१. ऋग्वेद, ७/१८/११—एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या वैकर्णयोर्जनान्···
२. आल्टिण्डिशे लेबेन, १०३। ३. सेण्टपीटर्स वर्ग कोश, वा० स्था०।
४. ऋग्वेद, ८/७/२९, ९/६५/२३, ९/११३/२।
५. वे० माइ०, १, १२६, १३७। ६. वेदिशे स्टूडियन, २, २०९, २१७।
७. ऋग्वेद, ८/७/२९, ९/६५/२३, आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्।
८. वेदिशे स्टूडियन, १ २, २०९।

वृचीवन्त—इसका एक जाति या जन के रूप में ऋग्वेद[1] के अन्तर्गत वर्णन हुआ है जिसके अनुसार सृंजयों के राजा दैवरात ने तुर्वशों के साथ होते हुये वृचीवन्तों को विजित किया था तथा इसके अतिरिक्त यव्यावती (हरियूपा) के पास भी इसके राजा को चायमान के पुत्र अभ्यावर्ती के द्वारा युद्ध में पराजित किया गया था। वृचीवन्तों की तुर्वशों से घनिष्ठ मैत्री एवं निकटस्थ होना स्वतः सिद्ध होता है। इसी आधार पर त्सिमर[2] इन्हें तुर्वशों से भ्रमवश अभिन्न मानते हैं। यह अवधारणा पाश्चात्य एवं पौरस्त्य[3] विद्वानों द्वारा अनुमोदित नहीं की गयी है। अतएव यदुओं और तुर्वशों की अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुये वृचीवन्तों को भी इनके ही समीप वितस्ता और सिन्धु के मध्य भाग में अवस्थित माना जाना चाहिये। प्रतीत होता है कि पूर्व में परुष्णी पार कर तुर्वशों के साथ भरतों की भूमि में बढ़ने पर इन्हें भरतों के मित्र सृंजयों से युद्ध करने पर उनके राजा दैवरात से पराजित होना पड़ा था।

सृंजय—तृत्सुओं (भरतों) के सहायक एवं समीपस्थ जन के रूप में सृंजयों का ऋग्वेद[4] में उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार इनके राजा दैवरात ने तुर्वशों के साथ वृचीवन्तों को भी पराजित किया था तथा इनकी यज्ञाग्नि के अतिरिक्त प्रस्तोक नामक एक सृंजय की दानस्तुति एवं देवोदास के साथ इसकी भी प्रशस्ति प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है, सृंजय जन सप्तसैन्धव प्रदेश के पूर्वी भाग में तृत्सुओं के राज्य के निकट अर्थात् सरस्वती नदी के दक्षिण-पूर्व में दृषद्वती के निचले भाग में अवस्थित था। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुये पाश्चात्य विद्वानो[5] द्वारा सृंजयो को सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी से संबंधित मानना सर्वथा असमीचीन है। कालान्तर में सृंजय जन कुरु-राज्य मे समाहित होकर ओर प्रबल हो गये थे।

मत्स्य—राजा सुदास के शत्रुओ के रूप में मत्स्यों की भी ऋग्वेदिक[6] सप्त-

---

१. ऋग्वेद, ६/२७/५,८। २. आल्टिण्डिशे लेबेन, १२४।
३. डा० मैक्डानेल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३५८।
पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४००।
४. ऋग्वेद, ४/१५/४, ६/२७/७, ४७/२२, २५।
५. त्सिमर-आल्टिण्डिशे लेबेन १३२-१३३, वेबर, इण्डिशे स्टूडियन, १,२३२।
६. ऋग्वैदिक आर्य राहुल सांकृत्यायन, पृ० २३। ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, पृ० १०४।

सैन्धव प्रदेश में अवस्थिति का कुछ विद्वानों ने उल्लेख किया है, किन्तु डॉ० पी० एल० भार्गव[1] इससे सहमत नहीं हैं।

डॉ० एस० एस० भट्टाचार्य[2] ने मत्स्यों को पंजाब के दक्षिण में राजपूताना क्षेत्र में अवस्थित माना है। ऋग्वेद में चेदि के उल्लेख एवं महाकाव्यकालीन ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत निर्दिष्ट मत्स्यों की अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस जन को सृंजयों के समीप दृषद्वती के पूर्व में मानना उचित प्रतीत होता है।

चेदि—ऋग्वेद (८/५/३७) की दान स्तुति में चेदि जन के राजा कशु की दानशीलता की प्रशंसा की गयी है, जिसने ब्रह्मातिथि नामक ब्राह्मण को एक सौ ऊँट एवं दस हजार गायों को भेंट में दिया था। डा० भार्गव[3] चेदि को यमुना के दक्षिण (बुन्देलखंड) में तथा डॉ० एस० एस० भट्टाचार्य[4] इसे राजपूताना[5] क्षेत्र में निर्धारित करते है। ऊँटो और गायों को दान में देने से अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक चेदियों का राज्य सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी भाग में विद्यमान था, जिसका कुछ दक्षिणी भाग मरुस्थली में और उत्तरी भाग सरस्वती-दृषद्वती नदियों की निचली घाटियो मे अवस्थित था। संबंधित स्थलों में उल्लेख से प्रतीत होता है कि चेदि जन मत्स्य जन के समीपस्थ था।

अनार्यों के कबीलों में निम्नलिखित कबीले राजनैतिक भूगोल की दृष्टि से उल्लेखनीय है :—

यक्षु—दाशराज्ञ युद्ध के पूर्वी मोर्चों मे यमुना के तटों पर यक्षुओं ने राजा भेद के नेतृत्व मे तृत्सुओं के विरुद्ध अजो और शिग्रुओं की सहायता से भाग लिया

---

१. India in the vedic Age, 1971, p. 220।
२. मार्डन रिव्यू, वाल्यूम ११३, सं० ३, मार्च १९६३। ज्योग्राफी आफ दि ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० २१०-२१५।
३. India in the Vedic, Age, 1971, p. 223।
४. वही, पेज २१५।
५. ऋक्० ८/५/३७ में चेदि राजकशु द्वारा दान में १०० ऊँटों को देने से मरुस्थलीय भूमि चेदि की प्रतीत होती है। इस दृष्टिकोण से डा० भट्टाचार्य की अवस्थिति ऋग्वैदिक द० सप्तसैन्धव मे होने से समीचीन ज्ञात होती है। जब कि डा० भार्गव महाकाव्य कालीन चेदि की स्थिति निर्दिष्ट करते है, जो इस सन्दर्भ मे स्वीकार्य नही है।

था[1]। हापकिन्स[2] की धारणा है कि यक्षु यदुओं के स्थान पर किसी स्थानापन्न अनार्य जाति से संबंधित हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन[3] यक्षुओं को आर्येतर मानते हुए इनके राज्य को गंगा-यमुना के मध्य भाग में निर्धारित करते हैं। तृत्सुओं के द्वारा पूर्वी शत्रुओं के रूप में यमुना तट पर पराजित किये जाने के आधार पर इन्हें यमुना के पूर्वी तट पर बसा मानना उचित प्रतीत होता है।

अज—ऋग्वेद की एक ऋचा[4] में सुदास तृत्सु द्वारा इनके पराजित होने का यक्षु और शिग्रु के साथ ही उल्लेख है। यक्षु और शिग्रु की अवस्थिति को ध्यान में रखते हुये इन्हें भी यक्षुओं के निकटस्थ यमुना तट से संबंधित किया जा सकता है।

शिग्रु—ऋग्वेद (७/१८/१९) में अज और यक्षुओं के साथ शिग्रुओं का भी उल्लेख हुआ है, जो राजा भेद के नेतृत्व में एक संघ राज्य बना कर तृत्सुओं के विरुद्ध यमुना तट पर लड़े थे तथा पराजित हुये थे। अतः इन्हें यमुना और गंगा नदियों के मध्य भाग में अज और यक्षु के समीपस्थ मानना समीचीन है। मैक्डानेल आदि पाश्चात्य विद्वानों[5] के अतिरिक्त डॉ० एस० एस० भट्टाचार्य सदृश भारतीय विद्वान्[6] इनकी अनार्य जाति से संबंधित होने की सम्भावना करते हैं, जिसे तथ्ययुक्त कहा जा सकता है।

शिम्यु—दाशराज्ञ युद्ध में सुदास के पराजित शत्रुओं में शिम्युओं का भी उल्लेख हुआ है[7]। इसके अतिरिक्त अन्य स्थल पर भी हुए इनके उल्लेख के आधार पर पाश्चात्य[8] विद्वान् शिम्युओं को आर्यों का शत्रु मानते हुए अनार्य जाति से सम्बन्धित करते हैं, अतः शिम्यु लोगों को अज-यक्षु-शिग्रु के उत्तर में पर्वतीय क्षेत्र से अवस्थित माना जा सकता है।

---

१. ऋग्वेद, ७/१८/६,१९। २. ज० अ० ओ० सो० १५, २५९।
३. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २४।
४. ऋग्वेद, ७/१८/१९।
५. डॉ० मैक्डानेल ऐण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, अनु० रामकुमार राय, पृ० ४२०, वेदिश माइथालोजी, १५३।
६. ज्यौग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, मौर्डर्न रिव्यू, वाल्यूम ११३, नं० ३, पेज २१०-२१५। ७. ऋग्वेद, ७/१८/५।
८. राथ-सेण्टपीटर्स वर्गकोश व० स्था०, त्सिमर-आल्टिण्डिशे लेबेन, ११८-११९। हापकिन्स-ज० अ० ओ० सो०, १५, २६१।

दास—सप्तसैन्धव प्रदेश की अनार्य जातियों में दासों एवं दस्युओं का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। ये दास लोग अनेक उपजातियों[1] अथवा विशों के कबीलों में रह कर आर्यों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये दुर्गम स्थानों (घने वनों या पर्वतीय भागों) में सुदृढ़ पुर[2] बना कर रहा करते थे। प्रतीत होता है, पर्वतीय गुहाओं[3] में रहने एवं शीत, ग्रीष्म को सहने के कारण सामान्यतया इनका वर्ण कृष्ण (काला)[4] होता था। ऋग्वेद[5] के अनेक स्थलों में आर्यों के मानव शत्रुओं के रूप में दास वर्णित हुए हैं, जिसके अनुसार इनकी शारीरिक-गठन एवं स्वभावगत प्रवृत्तियों का पता चलता है कि ये अयाज्ञिक एवं अदीर्घकाय होने के साथ ही चपटी नाक होने के कारण 'अनासू'[6] एवं असत्य और रूक्षवाणी का व्यवहार करने के कारण 'मृध्रवाक्'[7] तथा शिश्न (लिंग) की उपासना करने के कारण 'शिश्नदेवाः'[8] कहे गये हैं।

राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से आर्यों की इन अनार्य दासों से स्वाभाविक शत्रुता थी तथा समय-समय पर इनसे भयंकर संघर्ष कर आर्यों के पराक्रमी नेता दिवोदास और सुदास के द्वारा अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की गयी थी। सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग तथा तराई के सघन वनों में इन दासों के कबीलों को पूर्णतया परास्त तथा अस्तित्वहीन कर दिया गया था, किन्तु उत्तर हिमवन्त जैसी पर्वतीय[9] शृंखलाओं में शम्बर जैसे दासों का प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि इन्हें वर्षों के संघर्ष में समाप्त किया जा सकता था। दासों में शम्बर के अतिरिक्त वर्ची[10], शुष्ण[11], कुयव, पिप्रु, नमुचि[12] वृषशिप्र[13] आदि अनेक दास प्रमुख उल्लेखनीय हैं।

प्रतीत होता है, कृष्ण वर्ण के इन अनार्य दासों के मैदानी भाग एवं तराई के

---

१. ऋग्वेद, २/११/४, दासं वर्णम्···· २. वही, २/२०/८।
३. वही, २/१२/४। ४. वही, १/१०४/२, १/१३०/८, ९/४१/१, ७/५/३,६।
५. वही, १/१५८/५, २/१३/८, ४/३०/१४, ५/३४/६, ६/२२/१०, ३३/३।
६. वही, ५/२९/१०।
७. वही, ५/२९/१०। ८. वही, ७/२१/५, १०/९९/३।
९. वही, २/१२/११, ४/३०/१४—उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि।
१०. वही, ४/३०/१५—उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शता वधीः।
११. वही, १/१०३/८, ६/१८/८, ७/१९/२।
१२. वही, ५/३०/७—अत्रा दासस्य नमुचेः, ६/२०/६, १०/७३/७।
१३. वही, ७/९९/४,—दासस्य चिद् वृष शिप्रस्य·· ।

जंगलों में बसे कबीलों को सरलता से अपने अधीन कर लिया था, किन्तु हिमवन्त (बृहद् पर्वत) की अगम्य शृंखलाओं में सुदृढ़ (दुर्ग) पुर बना कर रहने वाले शम्बर, नमुचि, वर्ची जैसे अनेक दास सरदारों को पर्वतीय प्राकृतिक सुरक्षा स्वतः सुलभ होने के कारण कठिनता से परास्त कर पाये थे।

दस्यु—दासों के अतिरिक्त ऋग्वेद के अनेक स्थलों[1] में दस्युओं का भी उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार ये दासों के समान ही काले, व्रतहीन, यज्ञ न करने वाले, देवों में विश्वास न रखने वाले आदि अनेक विशेषणों से अभिहित किये गये हैं[2]। यास्काचार्य[3] ने दस्यु का अर्थ कृषि आदि कर्मों को नाश करने वाला किया है, जिसे ग्रहण करते हुए सायणाचार्य[4] ने इन्हें सामान्यतया "कर्मनाशक" ही स्वीकार किया है। ईरानी में दस्यु 'दन्हु' दक्यु समान हैं जो एक प्रांत का द्योतक है तथा अवेस्ता मे दस्यु शब्द 'दाह्यु' के रूप में प्राप्त होता है, जो जातिवाचक है तथा अरवेमीनियाँ के शिलालेखों में उत्कीर्ण होने से अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है। यद्यपि दस्युओं के किसी विशिष्ट 'विश' (जाति या बस्ती) का दासों के समान ऋग्वेद में उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि मानवों (आर्यों) के शत्रुओं के रूप में इन्हें आक्रामक जाति के रूप में ग्रहण करना समीचीन प्रतीत होता है।

डॉ० मैक्डानेल[5] एवं कीथ दस्युओं की सामान्य प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए इन्हें जाति के रूप में ग्रहण करते हैं, जबकि श्री म्योर[6] एवं राथ का अभिमत है कि दस्युओं के नाम आर्य व्युत्पत्ति वाले होने से इनके नगर या ग्रामों में रह कर कृषि एवं वाणिज्य करने वाले आर्य न मान कर वनों और पर्वतों में रह कर शिकार और लूटमार से पेट भरने वाले 'अर्द्ध' सभ्य आर्य मानना चाहिये, किन्तु ऋग्वेद में एक स्थल[7] पर इन्द्र द्वारा दस्यु को आर्य नाम न देने का उल्लेख किया गया है, जिससे ये आर्यों से भिन्न, उनके शत्रु रूप में दासों से मिलते-जुलते सिद्ध होते हैं। कतिपय

---

१. ऋग्वेद, १/५१/५,६, १/६३/४, १/१००/१२, १०४/५, १/१३०/८, २/२०/८, ४/१६/१२, ५/३०/६, ६/३१/४।
२. वही, १/३३/४,५, ८/७०/११, १०,१०/२२/८।
३. निरुक्त, उ० खं० २/१७/१ ४. ऋग्वेद, ६/२५/२ का भाष्य।
५. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनु० रामकुमार राय) पृ० ३८८-६०।
६. ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, १८७१, वाल्यूम सेकंड, पेज ३८७।
७. ऋग्वेद, १०/४६/३।

विद्वानों[1] के मतानुसार कहा जा सकता है कि दास लोग न केवल दस्युओं से सभ्यता में अधिक थे, अपितु आर्यों से कम सभ्य नहीं थे। प्रतीत होता है कि सभ्य दासों ने ही आर्यों के दुर्व्यवहारों से कालान्तर में दस्युओं का रूप धारण कर लिया और इनकी एकमात्र आजीविका राहजनी, लूटपाट, मार-काट मचाना ही हो गयी। यही कारण है कि ये दासों की तरह आयसी पुरों (दुर्गों) में न रह कर भीषण जंगलों और उत्तर के विकट पर्वतीय प्रदेश में रहने के अभ्यस्त थे। श्री राहुल सांकृत्यायन[2] दस्युओं को दासों से अभिन्न मानते हुए हिमालय के किरातों से समीकृत करते हैं।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन दस्युओं का राजनैतिक प्रभाव कम व्यापक नहीं था तथा इनकी जनसंख्या एवं शक्ति भी आर्यों की अपेक्षा कम नहीं थी। उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम की दुर्गम पर्वतीय शृंखलाओं एवं तराई के वनों में बसे दस्युओं के कबीले आर्यों के लिए अजय्य थे। यही कारण है, इन दस्युओं के विनाश करने की इन्द्रादि देवताओं से संत्रस्त आर्य सदैव स्तुतिपूर्ण कामना किया करते थे[3] तथा अनेक स्थलों पर सहस्रों की संख्या में इन कृष्णयोनि दासों एवं दस्युओं को इन्द्र द्वारा संहार किये जाने का उल्लेख भी हुआ है।[4]

पिशाच—कृष्णयोनि अनार्यों की दस्युओं जैसी एक हिंसक जाति के रूप में सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय भागों में पायी जाती थी, जो जीवों का प्रायः कच्चा मांस ही अधिक खाया करती थी। इस जाति से संबंधित 'पिशाचि' अथवा (पिशाच) शब्द का ऋग्वेद की एक ऋचा[5] के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक साहित्य[6] में भी उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (२/४/१/१) मे पिशाचों को राक्षसों और असुरों का साथी और देवों, मनुष्यों का विरोधी बताया गया है। अथर्ववेद (५/२५/८) में इनके लिए

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४०८। म० म० पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २३२।

२. ऋग्वेद, आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ८२।

३. ऋग्वेद, १/३३/४, २/११/१८, २/२०/८, १०/२२/८।

४. ऋग्वेद, ४/१६/१२,१३ पंचाशत कृष्णा निवपः सहस्रात्कं····४/३०/२१ (तीस हजार दासों का वध), १५—उतदासस्य वर्चिन सहस्राणि शता वधीः। ६/२६/६, ६/२६/५—त्वं···प्र यच्छतासहस्रा शूरदर्षि।

५. वही, १/१३३/५, पिशंग भृष्टिम्भृणं पिशाचिमिन्द्र संभृण।

६. अथर्व० २/१८/४, ४/२०/६, ९, ३६/४, ३७/१०, ५/२९/४, तैत्तिरीय संहिता, २/४/१/१, काठक सं० ३७/१४।

'क्रव्याद' अभिधान का भी प्रयोग किया गया है। ग्रियर्सन आदि[1] विद्वान् इन्हें उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की जातियों के समान मानव-शत्रु मानते हैं, जो यदा-कदा मानव-मांस-भक्षण करने के लिए कुख्यात रहे हैं। डॉ० रामजी उपाध्याय इन्हें राक्षसों से मिलता-जुलता हुआ मांस खाने वाली भयंकर जाति मानते हैं।[2]

वस्तुतः ऋग्वेदकालीन दस्यु जैसी हिंसक जाति से इसे अभिन्न मानना समीचीन है। जो मांस-भक्षण हेतु पर्वतीय भागों और वनों में विचरण किया करती थी।

राक्षसः असुर तथा दानव—ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं[3] में राक्षसों का उल्लेख हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि ये भी आर्यों के घोर शत्रु थे तथा इनसे आर्यों का सदैव संघर्ष होता रहता था तथा इनकी स्त्रियाँ भी माया द्वारा हिंसा करती थीं। यही कारण है, ऋषि राक्षसों को भस्म करने की देवताओं से प्रार्थना किया करते थे[4]। असुर[5], यातुधान तथा दानव (दानु) इन्हीं जैसी अन्य जातियों की संज्ञायें कही जा सकती हैं, जो दासों अथवा दस्युओं की ही विविध उपजातियों के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं, क्योंकि अन्य दासों ने पिप्रु को एक ऋचा में असुर तथा अन्यत्र शम्बर के समान प्रभावी अहि को दानव (दनु)[6] कहा गया है। अतएव दास एवं दस्युओं की निवासस्थली (उत्तर में हिमवंत पर्वतीय भाग) से इन्हें सम्बन्धित किया जा सकता है।

---

१. ज० ए० सो०, १९०५, २८५-२८८।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, १९६६, इलाहाबाद, पृ० ३८-३९।
३. ऋग्वेद, १/७६/३, ८६/८, १/३६/२०, ७९/६, ९/३७/१, १४०/६।
४. वही, १/७९/६, स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति।
५. वही, १०/१३८/३—दृक्षहानि प्रिपोरसुरस्य मायिन इन्द्रो……। 'असुर' शब्द ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में देव (ऋक्० ३/२५/४), अथवा देवों की पराशक्ति ईश्वर के अर्थ में ऋक्० ३/५५/३—प्रयुक्त है, किन्तु कालान्तर में यह विलोमार्थ ग्रहण कर दानव अथवा दैत्य के अर्थ के प्रयुक्त होने लगा। डा० पी० एल० भार्गव का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में समीचीन—द्रष्टव्य—India in the Vedic Age, 1971, p. 51-52।
६. ऋग्वेद, २/१२/११, ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः।

गन्धर्व एवं गन्धर्वारि—ऋग्वेद[1] के अतिरिक्त परवर्ती संस्कृत साहित्य[2] के अनेक स्थलों पर गन्धर्वों का उल्लेख हुआ है जो आर्यों के अतिरिक्त देवों के परम सहायक ज्ञात होते हैं। पौराणिक साहित्य में इन्हें यक्ष-किन्नरों की भाँति मूलतः हिमालय की गानविद्याप्रिय आदिम जाति (अर्द्धदेव) माना गया है। ज० कनिंघम[3] एवं एस० एन० शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण (उत्तर काण्ड ११३/१०-११) के आधार पर गन्धर्वों के क्षेत्र को सिन्धु के दोनों तटों (वर्तमान कन्दहार-अफगानिस्तान) से सम्बन्धित स्वीकार किया है, जबकि डा० रांगेय राघव[4] की अवधारणा है कि देवों की भाँति गन्धर्व हिमालय की निवासिनी मूल आदिम जाति थी, जो बाद में आर्यों से घुल-मिल गयी थी तथा देव जाति इन्हीं गन्धर्वों से सोम क्रय करते थे। डा० पी० एल० भार्गव[5] इन्हें अलौकिक मानकर आकाश के ऊर्ध्ववर्ती क्षेत्र में स्थित मानते हैं। पुराण एवं महाकाव्यों में उल्लिखित संदर्भों के आधार पर गन्धर्वों के क्षेत्र को अन्यत्र[6] मेरे द्वारा हिमालय की बद्रीनाथ श्रेणी से लेकर कैलास-मानसरोवर क्षेत्र तक विस्तृत माना गया है, किन्तु ऋग्वेद में गन्धर्वों[7] का सोम तथा सोमोत्पादक[8] क्षेत्र से सम्बन्धित होने के स्पष्ट उल्लेख से सप्तसैन्धव प्रदेश के सोमोत्पादक उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र (सिन्धु नदी का पश्चिमी एवं कुभा का उत्तरी भू-भाग) से भी गन्धर्वों को संबंधित माना जा सकता है तथा ज० कनिंघम एवं डा० मैक्डानल तथा कीथ का दृष्टिकोण समीचीन प्रतीत होता है। कालान्तर में इस सिन्धु के पश्चिमी क्षेत्र से गन्धर्व हिमालय की पूर्वी श्रेणियों में कैलास-मानस क्षेत्र तक बढ़ गये होंगे, किन्तु

---

१. ऋग्वेद, ३/३८/६, ९/११३/३, १०/१३६/६, ८/३२/२२, १०/८५/४०, ४१।
२. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, ११३/१०-११, महाभारत, उपायन पर्व, ४८/२३, रघुवंश, ५/५१/६०।
३. ऐन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, १९२४, एडिटेड बाई एस० एन० मजूमदार, कलकत्ता, पेज ३२१।
४. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, रांगेय राघव, भूमिका, पृ० क, ड०, ६७।
५. India in the Vedic Age, 1971, p. 315-316।
६. कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान, (पी-एच०डी० शोध-प्रबन्ध) १९६९, कानपुर, पृ० १८९।
७. ऋग्वेद, १०/१३६/६, १०/८५/४०, ४१, ८/३२/२२, ९/११३/३, ३/३८/६।
८. वही, ९/८३/४।

डा० भार्गव के मतानुसार यदि इन्हें अलौकिक कहें तो इन्हें आकाशीय ऊर्ध्वक्षेत्र में अवस्थित मानना समीचीन प्रतीत होता है।

गन्धारि

ऋग्वेद (१/१२६/७) में उल्लिखित गन्धारि जाति का परवर्ती वैदिक साहित्य[१] में भी वर्णन हुआ है, जिसे त्सिमर, मैकडानेल एवं कीथ[२] आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतों के औचित्य को दृष्टि में रखते हुये कुभा के उत्तर और सिन्धु के पश्चिमी भू-भाग से अभिन्न माना जा सकता है। डा० भार्गव[३] इसे हिन्दुकुश की द० पू० श्रृंखलाओं के पेशावर तथा रावलपिण्डी जिलों के क्षेत्र से परिचित कराते हैं जो पूर्व समीकरण (सिन्धु क्षेत्र) के सन्निकट ही है। गान्धारियों का राजनैतिक प्रभुत्व कालान्तर में मूजवन्त, अंग-मगध आदि अन्य राज्यों की भाँति सप्तसैन्धव प्रदेश तथा इसके बाहर तक भी फैल गया था—यह तथ्य अथर्व वेद (५/२२/१४) के सन्दर्भ से पुष्ट होता है।

पणि

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर[४] पणियों का दास अथवा दस्युओं के समान उल्लेख हुआ है, जिससे इनकी सामान्य प्रकृति के साथ ही सप्तसैन्धव प्रदेश तथा इसके बाहर इनके प्रभाव का पता चलता है। एक ऋचा[५] में दस्युओं जैसी पणियों की भी प्रवृत्तियों को व्यक्त किया गया है जिसमें इन्हें सद्कर्महीन, बकवासी, कटुभाषी, श्रद्धाहीन, यज्ञहीन, कर्मों का नाश करने वाला (दस्यु) कहा गया है। अन्य स्थलों[६] पर भी पणि राजनैतिक प्रभावयुक्त दासों से भिन्न नहीं प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके समान सैकड़ों (सैनिक अनुचरों) के साथ पणियों का आक्रमण करने तथा युद्ध से

---

१. अथर्व०, ५/२२/१४, हिरण्यकेशि श्रौ० सू० १७/६, आपस्तम्ब श्रौ०सू०, २२/६,१८।
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २३४।
३. India in the Vedic Age, 1971, p. 78-79।
४. ऋग्वेद, १/३३/३, ८३/२, १५१/६, १८०/७, २/२४/६, ४/२८/७, ५/३४/५-७, ६/१३/३, २०/४, ५३/३, ५, ७/२/८, ८/६४/२, ६६/१०, ९७/२, १०/६०/६, १०८/११।
५. ऋग्वेद, ७/६/३, १०/६०/६, १०८/११।
६. वही, ५/३४/५-७—अथर्ववेद, ५/११/६।

गायने[1] का उल्लेख हुआ है। कतिपय ऋचाओं[2] से ज्ञात होता है कि हिंस्र पणियों की आर्यों की स्वाभाविक शत्रुता थी, यही कारण है कि उनके कठोर हृदय को कोमल बनाने के साथ ही आरा से वेधने (नष्ट करने) की प्रार्थना की गयी है। एक स्थान[3] पर हिंस्र एवं नृशंस प्रकृति के पणियों को भेड़िया बताते हुये उनको विनष्ट करने को कहा गया है।

प्रतीत होता है, पर्याप्त गोधन[4] एवं वैभव सम्पन्न पणि न तो आर्यों के देवताओं के प्रति हवन और न ऋषियों को दान ही देते थे, वरन् उनकी ही गायों का अपहरण कर कंजूसी से अपनी निधि को छिपाये वणिक्-वृत्ति का आश्रय लेते थे। अतएव पणि ऋषियों अथवा सामान्य आर्य के लिये अनादर और घृणा के पात्र थे तथा उनके लिये 'बेकनाट'[5] शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसकी व्याख्या करते हुए यास्काचार्य[6] ने पणियों (दुगुने धन पाने या दुगने की कामना करने वालों) को सूदखोर वणिक् बताया है। वस्तुतः 'पणि' शब्द 'पण्' धातु (पण् व्यवहारे स्तुतौ च) से निष्पन्न हुआ है जिससे ज्ञात होता है पणिगण स्थल एवं समुद्र मार्ग से व्यवहार अथवा व्यापार से आजीविका चलाने वाले (अनार्य दस्युओं) कबीले से सम्बन्धित धन-सम्पन्न व्यक्ति थे, जिनका सप्तसैन्धव प्रदेश में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव अत्यन्त व्यापक रहा था।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय पणियों के कर्णधारों को यह सुविदित था कि आर्यों में राजनैतिक प्रभाव ऋषियों का ही सर्वाधिक था तथा उनकी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से ही उनकी सामाजिक, राजनैतिक एव व्यापारिक प्रतिष्ठा अथवा अप्रतिष्ठा आधारित थी। अतः पणियों के पूर्वी कबीले के बृबु नाम के एक सरदार (राजा) ने बृहस्पति पुत्र भरद्वाज (शंयु) को सामाजिक, राजनैतिक तथा व्यापारिक प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु प्रसन्न करने के लिये एक सहस्र गायों का महान् दान[7] किया था। ऋषि शंयु

---

१. ऋग्वेद, ६/२०/४, शतैरपद्रन् पणय इन्द्रात्र दशोणये···· ।
२. वही, ६/५३/३, ६/५३/५, १/१२४/१०—अबुध्यमाना पणयः··· ससन्तु ।
३. वही, ६/५१/१४—जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः ।
४. वही, ९/२२/७, त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारयः ।
५. वही, ८/६६/१०, इन्द्रो विश्वान् बेकनाटां अहर्दृशउत क्रत्वा पणीरभि ।
६. निरुक्त, ६/२६, बेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते वा'' २/१७—''पणिर्वणिक् भवति।''
७. ऋग्वेद, ६/४५/३२, यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी। सद्यो दानाय मंहते, ६/४५/३३····बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमं।

([illegible]) द्वारा पणि-प्रमुख बृबु की दान स्तुति से यह ज्ञात होता है कि उसका कबीला गंगा के विस्तृत ऊँचे कछारी भू-भाग से सम्बन्धित था, क्योंकि पणियों में बृबु की उच्च स्थिति को 'उरुःकक्षो न गाङ्ग्यः' जैसे उपमान द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[1] इससे विद्वानों की यह अवधारणा[2] आधारपूर्ण कही जा सकती है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण-पश्चिमी परावत तटीय (सिन्धु नदी के मुहाने के आस-पास) भू-भाग के अतिरिक्त पूर्व में अर्वावत् (पूर्व सागर) तट से लगे गंगा के ऊँचे कछारी भू-भाग में भी पणियों की बस्तियाँ बसी थीं, जो गायों आदि अपनी व्यापारिक सामग्री को लेकर अपने सार्थ (पणियों के काफिले) के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थल अथवा जल-मार्ग से आते-जाते रहते थे तथा दस्युओं से घनिष्ठ सम्बन्ध थे।[3]

ऋग्वेद के "सरमा पणि सम्वाद सूक्त (१०/१०८/१-११) से पणियों से सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं कि ये आर्यों एवं ऋषियों की भाँति गायें रखते थे जिन्हें चुरा कर भी छिपा लेते थे[4] तथा दल के अनुयायी और इन्द्र के घोर विरोधी थे[5] तथा निश्चित रूप से सप्तसैन्धव प्रदेश के सुरक्षित सीमा प्रान्त[6] भाग मे निवास करते थे, क्योंकि इनके समीप पहुँचने के लिये सरमा को रसा जैसी अनेक नदियों के जलों से बाधायुक्त लम्बा मार्ग पार करना पड़ा था।[7] इससे यह प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के पश्चिमी (परावत) क्षेत्र के अतिरिक्त पूर्वी सीमा तटीय भू-भाग से पणियों के कबीले सम्बन्धित थे, जहाँ से इन्हें समुद्री व्यापार की विशेष सुविधा प्राप्त थी।

---

१. ऋग्वेद, ६/४५/३१, अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः।

२. पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २३८, श्री राहुल सांकृत्यायन—ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ७६।

३. डा० रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, १९६६, इलाहाबाद, पृ० ३८-३९।

४. ऋग्वेद, १०/१०८/७-८।

५. वही, १०/१०८/५।

६. वही, १०/१०८/७, अयं निधिः सरमे अद्रि बुध्नो।

७. वही, १०/१०८/१, '...दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः—१०/१०८/२। कथं रसाया-अतरः पयांसि।"

राथ[1], त्सिमर[2], ग्रासमैन[3] आदि पाश्चात्य विद्वान् पणियों को कंजूस, बिना प्रतिप्राप्ति के अथवा कुछ न देने वाली विनिमय (व्यापार) करने वाली आदिम जाति मानते हैं। पणियों के युद्ध सम्बन्धी प्रत्यक्ष सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुये ग्रासमैन ने इन्हें उत्तरी अफ्रीका और अरब के काफिलों में चलने वाले आदिवासी, व्यवसायी मानते हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर अपनी वाणिज्यिक वस्तुओं तथा काफिलों के संरक्षण हेतु दस्युओं के आक्रमणों के विरुद्ध भी युद्ध के लिये तैयार रहते थे। डा० वेबर[4] पणियों का सम्बन्ध बेबिलोनिया (बाबुल) से बतलाते हैं, किन्तु प्रमाणाभाव के कारण यह विचार विद्वानों द्वारा मान्य नहीं हो सका। इस सम्बन्ध में हिले ब्राण्ट[5] की धारणा है कि पणियों से 'स्ट्राबो' के 'पर्नियनों' जैसी एक वास्तविक जाति का आशय है, जो 'दहाए' (दास) से सम्बन्धित थे, किन्तु ऋग्वेद (६/६१/१-३) में उल्लिखित पणियों को इन्होंने पारावतों से समीकृत किया है, जो टालमी के 'पारुपेताइ' से भिन्न नहीं कहे जा सकते हैं।

डा० ए०सी० दास[6] द्वारा अपने शोधपूर्ण निर्णय में यह प्रतिपादित किया गया है कि आर्यों द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर पणि सप्तसैन्धव प्रदेश को छोड़ कर जहाजों से गुजरात के समीप पहुँचे, जहाँ से ये किनारे-किनारे मलाबार तट पर आये और वहाँ से बेबिलोनिया (बाबुल) होकर सीरिया में जा बसे तथा कालान्तर में यही फिनीशियन जाति के नाम से विख्यात हुए जो योरुप में सर्वप्रथम पुरुषार्थी नाविक, समुद्रव्यवहारजीवी एवं व्यापार के लिए उपनिवेश बसाने वाले माने गये हैं। यूनानी ऐतिहासिक हिरोडोटस आदि के मतानुसार ये फिनीशियन लोग मूल निवासी न होकर इरिथ्रियन (अरब) सागर के तट पर रहने वाले थे जहाँ से इन्होंने सीरिया पार कर भूमध्यसागर के तट पर अपनी बस्ती बसाई। ऋग्वैदिक पणियों और फिनीशियन (फणीशियन) के नामों के अतिरिक्त आचरण और आजीविका आदि में अद्भुत साम्य पाया गया है।[7]

---

१. सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश व०स्था० (यास्क, निरुक्त, २/१७, ६/२६ में यही अर्थ व्यक्त किया है। २. आल्टिण्डिशे लेबेन, २५७।

३. ऋग्वेद का अनुवाद ३, २१३-२१५।

४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, ३९, ७०।

५. वेदिशे माइथौलोजी १, ८३, ३, २६८।

६. ऋग्वैदिक इंडिया, चैप्टर ११, पै० १८०-१८७।

७. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, २४१।

डा० साइस्[1] (soyce) ने ई० पू० ३००० में उरवगम् नामक राजा द्वारा 'उर'[1] नगर की खुदाई में प्राप्त चीड़ लकड़ी के एक टुकड़े को मालाबार प्रान्त (दक्षिण-भारत) से सम्बन्धित करने के साथ ही १००० ई० पू० में भी यहूदियों के राजा सुलेमान के जलयानों का दक्षिण-भारत से चन्दन, हाथी दाँत, बन्दर एवं मोर लाने के तथ्य को व्यक्त करते हुये प्राचीन काल में दक्षिण-भारत से पश्चिमी एशिया के लोगों का जलीय-व्यापार प्रतिपादित किया है। इन क्षेत्रों की भाषाओं में विद्यमान कतिपय[2] शब्दों के साम्य से इनके पारस्परिक सम्पर्क का स्पष्ट आभास मिलता है। रैगोजिन[3] प्रभृति विद्वानों के द्वारा भी यह प्रतिपादित किया गया है, पश्चिमी एशिया में बेबीलोनिया और असीरिया तक सिन्धु प्रदेश में निर्मित मलमल भेजी जाती थी, जहाँ उसे 'सिन्धु' कहा जाता था। श्री एस० आर० गोयल[4] ने भी सिन्धु प्रदेश के नगरों के आर्थिक जीवन का आधार इन पश्चिमी देशों के व्यापार को ही माना है।

समीक्षा—ऋग्वेद में उल्लिखित सन्दर्भों एवं पाश्चात्य-पौरस्त्य विद्वानों के शोधपूर्ण मतों को दृष्टि में रखते हुए पणियों के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये (दस्युओं या दासों के समान हिंस्र) आर्यों के विरोधी, सप्तसैन्धव प्रदेश के पश्चिमी और पूर्वी सीमान्त (समुद्रतटीय) भागो में रहने वाली आदिम जाति के रूप में विशेषतः समुद्री व्यापार की आजीविका ग्रहण करने वाले जनों के कबीलों से संबंधित थे। सप्तसैन्धव प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में सिन्धु मुहाने के पारावत तट पर रहने वाले पणियों की अपेक्षा अर्वावत् समुद्र से संलग्न गंगा के ऊँचे कछारी भाग में बृबु की संरक्षकता में रहने वाले पणियों का राजनैतिक प्रभाव आर्यों के आन्तरिक जनों (राज्यों) में तो व्याप्त था ही इसके अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहरी असीरिया आदि क्षेत्रों (उपनिवेशों) में भी इनके घनिष्ठ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। वस्तुतः वाणिज्य के बहाने समुद्री एवं स्थलीय मार्गों द्वारा सप्तसैन्धव प्रदेश की वैदिक (आर्य) संस्कृति और सभ्यता को दूर पश्चिमी देशों में पहुँचाने तथा वहाँ से उसे विकसित

---

१. हिबर्ट लेक्चर, १८८७, पृ० १३०-१३७।
२. यहूदी भाषा में मोर वाचक 'टुकियिम' शब्द तमिल के 'टोकई' से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार यूनानी एवं लातीनी में सिक्के के अर्थ में प्रयुक्त 'मना' ऋग्वेद ८/७८/२ के 'मना' से अर्थ साम्य रखता है।
३. वैदिक इंडिया, रेगोजिन्स, पेज ३०६।
४. प्रि-हिस्टोरिक मैन ऐण्ड कल्चर्स (हिन्दी ऐडी०), १९६१, पेज १०७।

करने में इन पणियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।[1] इनके अस्थायी कबीलों की समुद्र-तटीय अथवा सीमान्त क्षेत्रीय उत्कृष्ट भौगोलिक अवस्थिति व्यापारिक आजीविका के अनुकूल होकर न केवल इनकी अपितु समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश की आर्थिक सम्पन्नता सम्वर्धन के लिए कम प्रभावी नहीं रही थी। प्रतीत होता है, आर्य-जनों द्वारा सामाजिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि पर बहिष्कृत और संत्रस्त होने पर कालान्तर में पणि सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहर के सीरिया आदि पश्चिमी देशों में उपनिवेश बना कर रहने लगे थे।

राजनैतिक पृष्ठभूमि पर हुए युद्धों को प्रभावित करने के भौगोलिक कारक

सप्तसैन्धव प्रदेश में अनेक आर्यों के जनों (राज्यों) एवं अनार्यों के कबीलों से सम्बन्धित कतिपय सन्दर्भों द्वारा राजनैतिक स्वरूप का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग में आर्यों के अनेक कबीलों अथवा जनों का ही राजनैतिक प्रभुत्व व्याप्त था तथा उनके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी अनार्यों के कबीलों से दास, दस्यु, असुर, पिशाच, राक्षस, पणि आदि पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धित लोग ही प्रमुख थे। सम्पूर्ण आर्य-समुदाय को समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश में एक सत्तात्मक आधिपत्य स्थापित करने के लिए सबसे बड़े अनार्य कबीले से ही सबसे पहले भयंकर संघर्ष छेड़ना पड़ा, क्योंकि एक संघात्मक व्यापक राज्यसत्ता स्थापित करने के अतिरिक्त प्रबल विरोधी अनार्यों पर धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं की भी छाप छोड़ना आर्यों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था, जिसे बिना युद्ध में विजय प्राप्त किये अधिगत करना सर्वथा असंभव था। परिणामतः आर्यजनों मे सर्वाधिक शक्तिशाली पुरु भरत अथवा तृत्सु जन के अधिपति दिवोदास के नेतृत्व मे एकजुट होकर आर्यों ने अनार्यों (दास, दस्यु, असुर आदि) के नेता शम्बर के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस आर्य और अनार्य युद्ध को ही कतिपय विद्वानों[2] द्वारा दूसरे (अप्रत्यक्ष) रूप में 'देवासुर-संग्राम' की संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि कालान्तर में सुर (देवों) के विरोधी असुरों (दास अथवा अनार्यों) को परास्त करने में आर्यों को प्रत्यक्ष रूप से देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों) की ही निर्णायक सहायता प्राप्त हुई थी।

---

१. श्री हॉल द्वारा ईराक की प्राचीनतम सभ्यता (अक्काद सुमेर) से संबंधित प्राचीन मूर्तियों के अध्ययन के आधार पर सुमेरियन लोगों का दक्षिणी भारत के लोगों से साम्य सिद्ध किया है। (ऐंशियंट हिस्ट्री ऑफ नियर ईस्ट, पे० १२३)

२. पं० विश्वेश्वर नाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १९६७, पृ० २२१।

आर्य-अनार्य संग्राम में आर्यों की ओर से कुत्स आर्जुनेय जैसे योद्धाओं सहित पुरु-भरत (तृत्सुओं) के प्रधान दिवोदास 'अतिथिग्व' को आर्यों के अन्य शक्तिशाली जनों में से यदु और तुर्वश की ओर से बृहद्रथ और तुर्वीति का भी पूर्ण सहयोग सुलभ हुआ था।[1] दूसरी ओर अनार्यों की ओर से दास, एवं दस्युओं के नेता शम्बर[2] के साथ वर्ची, शुष्ण, कुयव, पिप्रु, मृल, वृषशिप्र जैसे असुर सेनानियों ने भयंकर संग्राम में शरीर-हवन किया था। दिवोदास के राजपुरोहित (प्रधान मंत्री) होने के कारण प्रायः भरद्वाज[3] के अतिरिक्त समकालीन वामदेव[4], गृत्समद[5], वसिष्ठ[6] आदि ऋषियों की ऋचाओं में प्रत्यक्ष किये गये इस आर्य-अनार्य युद्ध का यथातथ्य वर्णन प्राप्त होता है। वभ्रु की ऋचा से यह प्रतीत होता है कि अल्पसंख्यक होने के कारण अनार्यों ने इस संग्राम में स्त्री-सेना का भी आयुध रूप में उपयोग किया था[7]। जिसे 'अबला सेना' समझते हुए यौद्धिक योजनाओं एवं परिणाम से अनभिज्ञ आर्यों ने इसकी अवहेलना कर दी थी, किन्तु यह बड़ी घातक सिद्ध हुई थी।

४० वर्षों के इस लम्बे भयंकर संग्राम में अनार्यों के असंख्य[8] जन मारे गये तथा उनके लोहे जैसे सुदृढ़ पत्थर के अनेक दुर्ग ध्वस्त हो गये थे[9]। किन्तु भौगोलिक दशाओं के प्रतिकूल होने पर अनेक अस्त्र-शस्त्रों—धनुषबाण[10], ऋष्टि[11], (कटार), खड़ग[12], शूल[13], भाला[14], कुठार[15], परशु[16], वज्र (अशनि[17])—आदि से तीन सैन्य अंगों (पदाति, अश्व तथा रथसेना) में सज्जित होते हुए भी आर्य[18] इन अनार्यों को सरलता से स्वल्प समय में परास्त नहीं कर सके थे। फलतः चालीस वर्षों तक

१. ऋग्वेद, १/३६/१८, अग्ना तुर्वशं यदुं परावत....अग्निर्नय नव वास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः।
२. ऋग्वेद, १/१०३/८।
३. वही, ६/१८/८।
४. वही, ४/३०/२१।
५. ऋक्, २/२०/८।
६. वही, ७/९९/५ १८/२०, १९/२।
७. वही, ५/३०/९।
८. वही, ४/१६/१३, ३०/२१/१५।
९. ऋग्वेद, २/२०/८, ४/१६/१३, ३/१३।
१०. ऋक्०, २/२४/८, ५/५७/२, ६/७५/१७।
११. वही ५/५७/२।
१२. वही, १/१६२/२०, १०/२२/१०।
१३. वही, ७/१८/१७।
१४. वही, १/३२/१२।
१५. वही, ८/२९/३।
१६. वही, ९/६७/३०, १०/२८/८।
१७. वही, ६/६/५, १०/४८/३,११३/५।
१८. वही, ५/५७/२, वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषंगिण।

आर्यों का अनार्यों से युद्ध चला तथा इन्द्रादि प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से ही अन्त में आर्यों द्वारा किसी प्रकार विजय प्राप्त की जा सकी। गर्ग ऋषि की ऋचा से यह प्रतीत होता है, विजयोपरान्त शम्बरीय सम्पत्ति को आर्यों ने हस्तगत कर आपस में बाँट लिया था, जिसमें स्वयं उनको (गर्ग को) दस घोड़े, दस कोश, दस वस्त्र-भोजन और दस स्वर्णपिण्ड प्राप्त हुये थे।[1]

इस आर्य-अनार्य युद्ध पर भौगोलिक उपादानों का प्रभूत मात्रा में प्रभाव परिलक्षित होता है जिसमें विशिष्ट-स्थलीय-संरचना महत्त्वपूर्ण कारक है। संग्राम-स्थली सप्तसैन्धव प्रदेशीय आर्यों का मैदानी भाग न होकर अनार्यों की ही दुर्गम निवास-स्थली (पर्वतीय भूमि[2]) थी, जिसमें आर्यों की पैदल, घुड़सवार तथा रथसेना गतिशीलता के अभाव के कारण आक्रमण करने में सर्वथा (अप्रभावी) रही थी। इसके अतिरिक्त अनेक (९९-१००) पर्वतीय गुहाएँ ग्रीष्म एवं शीत ऋतु में प्राकृतिक आयसी[3] अथवा अश्मन्मयी पुरों (दुर्गों) के रूप में शम्बर तथा उनके अन्य सहायकों को आर्यों के आक्रमण से अनायास सुरक्षा प्रदान करती थीं। लोहा, ताँबा जैसी सुलभ धातुओं के कवचों, शृंखलाओं[4], अस्त्र-शस्त्रों आदि का भी युद्ध में प्रयोग हुआ था।

प्रतीत होता है, प्रतिवर्ष के प्रचण्ड जल-वायु (ऋतु) परिवर्तन के कारण ग्रीष्म (शुष्ण) के अवसान पर घोर विद्युत् गर्जनमयी तूफानी मेघ-वृष्टि के उपरान्त ४०वीं शरद ऋतु[5] में ही आर्य अन्त में अनार्यों पर विजय प्राप्त कर सके थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युद्ध पर भौगोलिक उपादानों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही पड़ा था।

दाशराज्ञ युद्ध[6]—नेता शम्बर के वध के साथ अनार्यों के नाश से आर्य-अनार्य युद्ध तो समाप्त हो गया था, किन्तु कालान्तर में आर्यों पर भी इसका अत्यन्त संघातक

---

१. ऋक्०, ६/४७/२२,२३।
२. वही, २/२४/२। पर्वतेषु क्षियंतम्। ४/३०/१४ (बृहत: पर्वतादधि)।
३. वही, १/५६/३३, ४/३/१३।
४. वही, ६/७५/१ (वर्म), १/५६/३ (आयसदामानि = लौह-शृंखला)
५. ऋग्वेद, २/१२/११।
६. ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध—एक दृष्टि लेखक द्वारा अखिल भारतीय प्राच्य विद्या ३०वें अधिवेशन, शान्ति निकेतन (प० बंग) में प्रस्तुत शोध पत्र, संस्कृति (शिक्षा मंत्रालय), दिल्ली, १९८१ के ६८वें अंक में प्रकाशित लेख।

प्रभाव पड़ा और प्रतीत होता है, अनार्यों की युद्ध में हाथ लगी सम्पत्ति अथवा सप्त-सैन्धव प्रदेशीय आन्तरिक राज्य-सत्ता के पारस्परिक बँटवारे में पूर्व निर्धारित समझौते के उल्लंघन के कारण संगठित आर्यों की एकता जो दिवोदास 'अतिथिग्व' के शासन-काल में थी, भंग हो गयी। फलतः अकेले ही राज्यसत्ता हथियाने वाले तृत्सु (भरत) जन के राजा सुदास को सप्तसैन्धव प्रदेश में सार्वभौमिकता को स्वीकार न करते हुये अन्य स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धी दस आर्य राजाओं ने सत्तारूढ़ भरतों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जिसे, 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा गया है, जो वस्तुतः राजनैतिक पृष्ठभूमि पर सत्ता हथियाने के लिये सप्तसैन्धव प्रदेशीय आर्यों का भयंकर गृहयुद्ध ही था।

ऋग्वेद (सप्तम मंडल) में वशिष्ठ की ऋचाओं से प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि दाशराज्ञ युद्ध में वशिष्ठ जैसे सुयोग्य राज-पुरोहित (प्रधानमंत्री) के कृपापात्र सुदास को केवल 'क्रिवि' और 'सृंजय जनों' के राजाओं का सहयोग मिला था, जबकि प्रतिपक्ष में वशिष्ठ के पुरोहितत्व के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी विश्वामित्र के निर्देशन में सिन्धु नदी के पश्चिम के पाँच[1] जनों (अलिन, पक्थ, भलानस्, शिव तथा विषाणिन्) के अतिरिक्त सिन्धु-पूर्व के पाँच जनों[2] (अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, यदु और पुरु) जनों के सभी राजाओं ने एक साथ मिल कर राजा सुदास पर पश्चिम से पूर्व में बढ़ कर धावा बोल दिया था। इधर पूर्व में अपनी पूर्व पराजय का प्रतिकार लेने का अवसर पाकर यमुनातटीय अज, शिग्रु और यक्षु जैसे अवशिष्ट अनार्य जनों ने भेद[3] के नेतृत्व में शिम्युओं (शिम्यु), कवष तथा २१ अनुयायियों[4] सहित वैकर्णों की सहायता पाकर पीछे से घातक हमला तृत्सुओं पर कर दिया था। फलतः राजा सुदास दोनों ओर से शत्रुओं के बीच में फँस गया और वशिष्ठ ऋषि का नेतृत्व पूर्ण खतरे में पड़ गया था।

कतिपय ऋचाओं[5] से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि संकटापन्न हताश तथा सभी ओर से शत्रुओं से घिरे हुये भी सुदास को इस युद्ध में अचानक भौगोलिक कारक ही अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुए। इन्द्र और वरुण की स्तुति से यह प्रतीत होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग, जहाँ यह युद्ध छिड़ा था, में अवस्थित अनेक आर्य जनों (राज्यों) की सीमा-रेखा निर्धारित करने वाली परुष्णी, शुतुद्रि, विपाश जैसी विशाल नदियाँ, मेघों के देवता इन्द्र और जल के देवता वरुण के ही प्रभाव से उमड़

१. ऋग्वेद, ७/१८/७,८। २. वही, ७/१८/५,६।
३. वही, ७/१८/१८,१९। ४. वही, ७/१८/११—एकं चयोविंशति।
५. वही, ७/८३/६, ७/१९/५, १८/१२,१३, ८३/१,३,७।

पड़ी थीं। परिणामतः इनकी गहरी धाराओं को पार करना पश्चिमी शत्रुओं के लिये बहुत कठिन हो गया। दुस्साहसवश जलधारा पार करते हुये वृद्धश्रुत, कवष के पश्चात् द्रुह्यु[1] भी गहरे पानी में डूब गये थे।

प्रतीत होता है, राजा सुदास ने किसी प्रकार शुतुद्रि और विपाश को पार कर पश्चिम से परुष्णी पार कर आक्रमण करने वाले अपने दस शत्रु राजाओं पर अकस्मात् प्रत्याक्रमण कर दिया तथा परुष्णी के तट पर भयंकर संग्राम हुआ था। श्री दीक्षितार[2] जैसे सैन्य विज्ञान-वेत्ताओं द्वारा 'दाशराज्ञ युद्ध' के प्रतिपक्षी दस राजाओं और सुदास की सांग्रामिक कला की तुलना सिकन्दर और पोरस के युद्ध से की गयी है। परुष्णी की गहरी धारा में डूबने के अतिरिक्त इनकें मृतक सैनिकों की संख्या ६० सौ, ६ हजार तथा ६६ थीं[3]। सुदास ने इन शत्रुओं को परास्त करते हुये परुष्णी को पार कर उनके सात दुर्गों को भी ध्वस्त कर दिया था[4]। इसी प्रकार इन्द्र तथा यमुना की अनुकूलता[5] से पूर्व में भी वेद परास्त हुआ तथा अन्त में उत्तम अस्त्र-शस्त्रों[6] और कुशल रणनीति के साथ अनुकूल भौगोलिक कारकों के कारण ही दाशराज्ञ युद्ध की विजयश्री राजा सुदास को ही प्राप्त हुई।

समीक्षा—इस प्रकार हम देखते हैं, प्रतिपक्षी दस राजाओं द्वारा घेरने की सामयिक श्रेष्ठ रणनीति को ग्रहण करते हुए तथा सुदास के चारों ओर से घिर जाने पर भी अनुकूल भौगोलिक कारकों के प्रभाव से अकस्मात् प्रत्याक्रमण द्वारा दाशराज्ञ युद्ध का पाँसा ही पलट गया। इन भौगोलिक कारकों ने इन्द्र और वरुण देवताओं (प्रचण्ड वर्षा; जल जैसी प्राकृतिक शक्तियों) के द्वारा नदियों में बाढ़ उत्पन्न हो जाने के कारण उनके सैन्य मार्ग में नैसर्गिक अवरोध[7] उपस्थित हो गया था। इस दृष्टि से राज्य-सीमाओं पर नदियों की भौगोलिक अवस्थिति प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान करने के साथ ही यौद्धिक दृष्टि से निर्णायक एवं महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। अतः यह सिद्ध होता है कि राजनैतिक व्यवस्था के अतिरिक्त सामान्य यौद्धिक विषयों पर भी भौगोलिक दशाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

---

१. ऋग्वेद, ७/१८/१२— अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं ···।

२. वार इन ऐन्शियंट इंडिया, पेज २४८। ३. ऋक्०, ७/१८/१४।

४. वही, ७/१८/१३, ५. वही, ७/१८/१९।

६. वीपन्स, आर्मी आरगनाइजेशन ऐण्ड पौलिटिकल मैकेनिज्म आफ द ऐंशियंट हिन्दूज, डॉ० ओप्पर्ट, १८८८, आर्ट आफ वार इन ऐं० इंडिया, जी० टी० छाते लन्दन, १९२९।

७. ऋक्०, ७/१८/८ (अवरोध दूर करने के लिए ही कगारों को खोदना)

प्रथम अध्याय

ऋग्वैदिक विविध भौगोलिक स्थल

किसी भी प्रदेश की स्थलीय संरचना, जलवायु (तापमान, वर्षा, वायु-भार), वनस्पति प्रवाह-प्रणाली आदि भौगोलिक दशाओं (प्राकृतिक वातावरण) का सर्वाधिक प्रभाव मानवीय क्रियाकलापों पर भी सर्वाधिक परिलक्षित होता है। यद्यपि मानव परिवर्तनशील भौगोलिक वातावरण की अपरिहार्यता का अनुभव तो करता ही है, तथापि अपने ज्ञान-विज्ञान के साथ ही साहस और संघर्षपूर्ण जीवन में इस पर विजय प्राप्त करने का भी सतत प्रयास करता है। यही कारण है, भूगोलवेत्ताओं[1] ने मानव को ही केन्द्रबिन्दु मानते हुए उसके तथा परिवर्तनशील भौतिक वातावरण के सम्बन्धों की ही व्याख्या "मानव भूगोल" के अन्तर्गत की है। इस परिवर्तनशील भौगोलिक वातावरण से मानव के सतत संघर्ष का परिणाम है—उसके द्वारा अर्जित आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उपलब्धियाँ, जिन्हें हम मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के मूलाधार कह सकते हैं[2]।

इसी आधार पर सप्तसैन्धव प्रदेश की धरातलीय संरचना, जलवायु, वनस्पति, प्रवाह-प्रणाली आदि भौगोलिक दशाओं को दृष्टि में रखते हुए उनसे संघर्ष कर आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि विविध क्षेत्रों में महान् उपलब्धि अर्जित करने वाले आर्यों अथवा अनार्यों के कतिपय अवशिष्ट क्षेत्रों एवं विविध स्थलों का यहाँ विवेचन किया जा रहा है, क्योंकि ऋग्वैदिक संस्कृति को समृद्ध करने में इन विस्तृत क्षेत्रों एवं विविध स्थलों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है तथा सप्तसैन्धव प्रदेश का अधिकांश क्रियाशील मानव समुदाय इनसे घनिष्ठ सम्बन्धित रहा है।

---

१. मिस ई० सैम्पुल, इन्फ्लुएन्सेज आफ ज्योग्राफिक इनवायरेन्मैन्ट, १९११, पेज ७, "ह्यूमेन ज्योग्राफी इज ए स्टडी आफ द चेन्जिंग रिलेशनशिप बिट्वीन द अनरेस्टिंग मैन ऐण्ड अनस्टेबुल अर्थ।" फिच ऐण्ड ट्रिवार्था, इलीमेन्ट्स आफ ज्योग्राफी, न्यूयोर्क, १९५७, पेज १३।

२. मानव-भूगोल के सिद्धान्त, प्रो० वि० ना०, द्विवेदी तथा डा० क्लौशिक, इलाहाबाद, १९५६, पृ० २८९।

कीकट—ऋषि विश्वामित्र द्वारा एक ऋचा[1] से कीकट क्षेत्र काउल्लेख इन्द्र की स्तुति में उनकी गायों के सन्दर्भ में किया गया है। यास्काचार्य[2] कीकट क्षेत्र को अनार्यों का निवास (देश) मानते हैं। इस आधार पर राथ[3], त्सिमर[4] प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् भी इसे अनार्य कीकटों का निवास स्वीकार करते हुये वर्तमान मगध-क्षेत्र से समीकृत करते हैं। इस सम्बन्ध में वेबर[5] आंशिक रूप से सहमत हैं। वे कीकटों को मगध मे रहने वाले आर्य मानते हैं। जो (सप्तसैन्धव प्रदेशीय) अन्य आर्य जातियों से वैधार्मिक प्रवृत्तियों के कारण भिन्न थे, किन्तु ओल्डेनबर्ग[6], हिलेब्राण्ट[7], मैक्डानेल एवं कीथ[8], इस समीकरण को संदिग्ध स्वीकार करते हैं।

परवर्ती वैदिक साहित्य के सन्दर्भों के अतिरिक्त अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड के आधार पर म० म० हर प्रसाद शास्त्री[9], डा० पी० एल० भार्गव[10], श्री हेमचन्द्र राय चौधरी[11], पार्जिटर[12], डा० एस० एस० भट्टाचार्य[13], डा० वेचन दुबे[14] प्रभृति पौरस्त्य विद्वानों ने यास्क एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों को दृष्टि में रखते हुए कीकट को सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहर अनार्यों के मगध क्षेत्र से सम्बन्धित माना है, क्योंकि अथर्ववेद (व्रात्य काण्ड) में मगध के साथ अंग देश के लोगों को व्रात्य अर्थात् वैदिक संस्कृति से बहिर्भूत बताते हुए उनकी भर्त्सना की गई है तथा ऋग्वेद और अथर्ववेद-काल में मगध में आर्य-संस्कृति का प्रसार पूर्णतया नहीं हुआ था। अतएव आर्य-सभ्यता से बहिर्भूत समझते हुए पार्जिटर[15] जैसे विद्वानों ने यास्क एवं पाश्चात्य विद्वानों के मत

१. ऋग्वेद, ३/५३/१४, किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्म्मं।
२. निरुक्त, ६/३२ "कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः।"
३. सेण्टपीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०। ४. आल्टिण्डिशे लेबेन, ३१, ११८।
५. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर, ७९, नोट, इण्डिशे स्ट्डियन, १, १८६।
६. ऋग्वेद नोटेन, १, २५३। ७. वेदिशे माइथालोजी, १, पृ० १४-१८।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १७८ (अनु० रामकुमार राय)।
९. मगधन लिटरेचर, १-२१।
१०. India in The Vedic Age, 1871. P. 56,231.
११. पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियंट इंडिया, पृ० १११-११३।
१२. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०८, पृ० ८५१-८५३।
१३. मौडर्न रिव्यू, वाल्यूम ११३, नं० ३, मार्च १९६३ (ज्यौग्राफी आव द ऋग्वैदिक इंडिया, पेज ३१२।
१४. Geographical Concept in Ancient India p. 85, Verma 1967।
१५. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०८, पृ० ८५१-८५३।

को अनुमोदित करते हुए कीकटों को वास्तविक रूप से अनार्य जाति से अभिन्न ही मान लिया है और उनके समुद्री मार्ग द्वारा पूर्वी भारत (मगध) में आकर बस जाने अथवा विदेशियों से मिल जाने की अनैतिहासिक परिकल्पना कर डाली है, जो तथ्यपूर्ण एवं संगत नहीं कही जा सकती है।

म० म० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ[1], श्री राहुल सांकृत्यायन[2], पं० बलदेव उपाध्याय[3] ने कीकट क्षेत्र को सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहर निर्दिष्ट नहीं किया है। ऋग्वेद (३/५३/१४) के सन्दर्भ के आधार पर इन विद्वानों द्वारा यास्क की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए कीकट क्षेत्र को अनार्यों का निवास मानते हुए विपाश और शुतुद्रि नदियों के समीप क्षेत्र से सम्बन्धित होने की सम्भावना व्यक्त की है, जहाँ गायें अधिक होती थीं।

समीक्षा—जिस ऋषि विश्वामित्र की ऋचा (१/५३/१४) में कीकटों का उल्लेख हुआ है, उसमें इन्द्र से प्रमगन्द के धन को प्राप्त कराने और उससे सम्बन्धित नैचाशाख (स्थान) को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है। इससे यह स्पष्ट है कि कीकट क्षेत्र आर्यों के शत्रु प्रमगन्द से सम्बन्धित अवश्य रहा होगा, अतएव पणि दास अथवा दस्युओं के समान कीकटों को भी अनार्य मानना सर्वथा समीचीन है, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कतिपय भारतीय विद्वानों द्वारा उन्हें सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहर मगध क्षेत्र से सम्बन्धित करना नितान्त निराधार एवं असंगत प्रतीत होता है। सम्बन्धित प्रश्नात्मक एवं प्रार्थनापूर्ण ऋचा से ज्ञात होता है कि आर्यों अथवा इन्द्र की गायें कीकट क्षेत्र मे (अपहृत होकर) मैदानी भाग की अपेक्षा असामान्य आचरण करती दृष्टिगोचर होती है कि वे दूध-घी नहीं देती है, ऐसा उनके अनुकूल भौगोलिक दशाएँ न होने के कारण मैदानी भाग से भिन्न ही कोई स्थल हो सकता है। अतएव स्पष्ट है कि कीकट क्षेत्र भी दास और दस्युओं की भाँति पर्वतीय भू-भाग से संबंधित था, जहाँ गायों को अनुकूल भोजन (चारा) तथा जलवायु (तापमान) सुलभ न होने के कारण दूध न देना स्वाभाविक ही है। अतः पं० वि०ना० रेउ[4], राहुल सांकृत्यायन

---

१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, दिल्ली, १९६७, पृ० ११०।

२. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २४।

३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, द्वितीय संस्करण, काशी, पृ० ३८३।

४. "कीकट से मगध या दक्षिणी बिहार का तात्पर्य न होकर सप्तसिन्धु प्रदेश के ही किसी अनुर्वर पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य था जहाँ अनार्य बस्ती होगी। कालान्तर

और पं० बलदेव उपाध्याय के मत को ध्यान में रखते हुए कीकटों के क्षेत्र को विपाश और शुतुद्रि नदियों की ऊपरी घाटी (उद्गम स्थल अर्थात् हिमालय पर्वत की निम्नवर्ती शृङ्खलाओं) से संबंधित मानना समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु वहाँ गायें अधिक होती थीं—यह कहना निराधार है, क्योंकि जलवायु गायों के प्रतिकूल थी। सोम अवश्य अधिक उत्पन्न हो सकता है।

गुंगु—ऋग्वेद की एक ऋचा[1] के अन्तर्गत गुंगुओं का स्पष्ट रूप से एक जाति के रूप में उल्लेख किया गया है जो स्पष्ट रूप से भरतों के राजा अतिथिग्व (दिवोदास) के विरुद्ध थी तथा उसकी अपेक्षा यह अल्प शक्ति थी। अतिथिग्व तृत्सुओं का राजा दिवोदास इन गुंगुओं के लिये उसी प्रकार संहारक सिद्ध हुआ जिस प्रकार पणोय अथवा करूज एवं वृत्र-हत्या में इन्द्र प्रसिद्ध है। अतएव यह सिद्ध होता है कि गुंगु लोग भी दास-दस्युओं के समान अनार्य थे और उत्तर के पर्वतीय भू-भाग से संबंधित प्रतीत होते है, किन्तु लुडविग[2], मैक्डानेल[3] एवं कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश इन्हें "अतिथिग्व" का मित्र (आर्य जाति) माना है, जो ऋचा के सन्दर्भ को दृष्टि में रखते हुये सर्वथा असंगत है। अतः श्री राहुल सांकृत्यायन[4] गुंगुओं को अनार्य कबीले से अभिन्न मानते हैं।

प्रतीत होता है, आर्य विरोधी गुंगुओं के कबीले का क्षेत्र अतिथिग्व (तृत्सुओं या भरतों) के जन (राज्य) के उत्तर-पूर्व में यमुना और गंगा के उद्गम स्थल से संबंधित हिमालय पर्वत की शृंखलाओं से अवस्थित था तथा ये तृत्सुओं के पूर्वी सीमा के शत्रुओं—अज, शिग्रु और यक्षु जनों—के निकटस्थ दिवोदास के घोर विरोधी थे, जिन्हें इन्द्र द्वारा वृत्र-हत्या की भाँति उसने गुंगुओं का विनाश कर उसकी अन्न-धन-निधि को हस्तगत कर लिया था।

में प्रवासी आर्यों ने पूर्व की तरफ आगे बढ़ कर यही कीकट नाम दक्षिणी बिहार का भी रख दिया होगा, पृ० ६७। ऋग्वेद में उल्लिखित कीकट, विपाश और शुतुद्रि के पास कोई अनार्य निवास अनुमान किया जाता है।"……ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, पृ० ६७, ११०।

१. ऋग्वेद, १०/४८/८, अहं गुंगुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयं।

२. ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६५।

३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १ (अनुवादक-रामकुमार राय), पृ० २५४।

४. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २४, ११७।

शृंजुओं की भौगोलिक अवस्थिति पर्वतीय होने के कारण इन्हें सैन्य विज्ञान की दृष्टि से नैसर्गिक सुरक्षा प्राप्त थी, तथापि सैनिक शक्ति एवं यौद्धिक साधनों में तुर्वसुओं की अपेक्षा अल्प होने के कारण अन्ततः इन्हें राजा दिवोदास "अतिथिग्व" से पराजित होना पड़ा और उसे युद्ध के बाद प्रचुर सम्पत्ति इनसे प्राप्त हुई थी।

रुशम—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं[1] में एक वचन में इसका प्रयोग व्यक्ति वाचक संज्ञा (राजा के अथवा उसके वंशज के नाम) के रूप में हुआ है, किन्तु अन्य स्थलों में; जहाँ इसका प्रयोग बहुवचन में हुआ है[2], असंदिग्ध रूप से निश्चित क्षेत्र (देश) के नाम के रूप में उल्लिखित हुआ है। परवर्ती संहिता अथर्ववेद[3] में भी रुशम का क्षत्रिय जनपद अथवा देश के रूप में उल्लेख किया गया है, जिसे सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में इसको इसी (जनपद) रूप में व्यक्त किया है।

यद्यपि श्री राहुल सांकृत्यायन[4] एवं डा० पी०वी० काणे[5] ने रुशम को ऋग्वैदिक देशों (जनों) की तालिका में ग्रहण किया है, तथापि वे इसकी भौगोलिक अवस्थिति निर्दिष्ट नहीं कर सके हैं। पं० गिरीश चन्द्र अवस्थी[6] 'रुशम' को आनुपूर्वी वर्णों के आधार पर रूस (Russia) से समीकृत करते हैं।

समीक्षा—निस्सन्देह बहुवचन में प्रयुक्त 'रुशम' सप्तसैन्धव प्रदेश का एक समृद्ध क्षेत्र था जिसमें आर्य जनों की बस्तियाँ थं तथा ऋणंचय का इस वैभव-सम्पन्न जन (राज्य) पर आधिपत्य था, जिसने बभ्रु ऋषि को चार सहस्र गायों का दान दिया था। श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी द्वारा इसका रूस से समीकरण करना औपाधिक एवं अयथार्थपूर्ण होने के कारण सर्वथा असंगत है। इतनी अधिक संख्या में दानशील राजा ऋणंचय द्वारा गायें दान में देने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में मैदानी भाग में चारागाहों की अनुकूल भौगोलिक दशाएँ होने के कारण गायें अधिक उत्पन्न

1. ऋग्वेद, ८/३/१२, शीब्धी ......यथा रुशमं श्यावकं...८/४/२—य रूमे रुशमे श्यावके...८/५१/६।
2. वही, ५/३०/१२, ५/३०/१३, ५/३०/१४।
3. अथर्व०, २०/१२७/१।
4. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २५।
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, अनुवादक—अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, १९६५, पृ० ६४१।
6. वेद धरातल, लखनऊ, २०१० वि०, पृ० ५८४।

होती थीं। अतएव सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भू-भाग से रुशम जन बाहर नहीं था। बभ्रु ऋषि का अत्रि वंश से संबंधित होने के कारण प्रतीत होता है, यह क्षेत्र पुरु जन से दूर नहीं अवस्थित था, क्योंकि अत्रिवंशीय ऋषि ऋग्वेद (मंचमंडल) के सरस्वती के आस-पास विस्तृत पुरु राज्य से घनिष्ठ संबंधित रहे थे। अतएव इनके निकटस्थ विपाश-शुतुद्रि के मध्यवर्ती भू-भाग में रुशम की अवस्थिति निर्धारित करना समीचीन है।

यति यतियों का एक प्राचीन आर्य कबीले से रूप में कण्व पुत्र ऋषि मेधातिथि द्वारा एक ऋचा[1] में भृगुओं एवं प्रस्कण्व के साथ उल्लेख किया गया है, जिसमें इनकी रक्षा हेतु इन्द्र से धन-प्राप्ति करने के लिये सुवीर्य माँगने की प्रार्थना की गयी है। अन्यत्र भी[2] भृगुओं के साथ यतियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ भृगुओं के समान ये वास्तविक एवं पौराणिक व्यक्ति प्रतीत होते है। डा० मैक्डानेल[3] एवं कीथ, वेबर[4] की अवधारणा के आधार पर यति जन को (आर्यों) के प्राचीन कबीले का नाम स्वीकार करते हैं, जो उन्हें ऋग्वेद (८/३/८, ६/१८) में वास्तविक व्यक्ति तथा ऋग्वेद (१०/७२/७) में पौराणिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। डा० पी० बी० काणे[5] का विचार है कि आर्यों में जो लोग शरीर सुखा देने वाले, ध्यानमग्न दरिद्र-सा जीवन बिताने वाले मुनि कहे जाते थे, संभवतः वही अनार्यों में यति कहे जाते थे।

समीक्षा—ऋग्वेद (८/३/८) के अतिरिक्त अन्यत्र सामवेद (२/३०/४) में भी यतिगणों को भृगु और प्रस्कण्व (कण्व पुत्र ऋषि) के साथ ऋषि मेधातिथि (कण्वपुत्र) द्वारा रक्षा हेतु धन एवं सुवीर्य प्राप्त करने के लिये इन्द्र के स्तवन में उल्लिखित किये जाने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्य जाति के रूप में यतिगण भृगु और कण्व पुत्रों से घनिष्ठ संबंधित थे। कतिपय ऋचाओं[6] से यह प्रतीत होता है कि भृगु द्रुह्युओं के पुरोहित थे तथा कण्व एवं उनके पुत्र यदु और तुर्वशों के पुरोहित थे जिन्होंने दाशराज्ञ युद्ध में तृत्सुओं (भरतो) के विरुद्ध संघर्ष किया था। द्रुह्युओं का जन

---

१. ऋग्वेद, ८/३/८, तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये। येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ।
२. वही, ८/६/१८, १०/७२/७, सामवेद, २/३०/४।
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग २ (अनुवादक—रामकुमार राय), पृ० २०५।
४. इण्डिशे स्टूडियन, ३, ४६५ (नोट)।
५. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २६५।
६. ऋग्वेद, ७/१८/६, ८/७/१८, येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतं।

(राज्य) असिक्नी और परुष्णी के मध्यवर्ती भाग में तथा यदु और तुर्वशों का जन क्रमशः वितस्ता और असिक्नी के आस-पास अवस्थित था। अतएव इन जनों के पुरोहितों को भी इन्हीं क्षेत्रों से संबंधित करते हुए इनके घनिष्ठ सम्बन्धी आर्य जाति के यतियों को भी असिक्नी (चेनाब) नदी के आस-पास अवस्थित मानना सर्वथा समीचीन है। तथा डा० पी० वी० काणे की यतियों की अनार्य विषयक संभावना सर्वथा निराधार है।

वेतसु—ऋग्वेद[1] की एक ऋचा में वेतसु नामक भू-भाग को तृत्सुओं के सेनापति आर्जुनेय कुत्स को देने का उल्लेख किया गया है, जिससे शुष्ण, कुयव आदि दस्युओं के साथ युद्ध में विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते हुए उनका वध किया था[2]। अन्य ऋचाओं[3] में भी उल्लिखित वेतसु को कबीले अथवा जाति के रूप में जिसका दशद्यु एक सदस्य था त्सिमर[4], केगी आदि[5] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी[6], डा० पी० वी० काणे[7] और श्री राहुल सांकृत्यायन आदि[8] भारतीय विद्वानों ने बहुवचन में प्रयुक्त होने के कारण इसे देश (जातियों का क्षेत्र) अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु यह इसकी अवस्थिति को निर्दिष्ट नहीं कर सके हैं।

समीक्षा—अर्जुन-पुत्र कुत्स तृत्सुओं (भरतों) का सुयोग्य सेनानी होने के कारण कुयव, शुष्ण जैसे शम्बर के दस्यु योद्धाओं को पराजित कर वध करने में सफल हुआ था। अतः उसकी पराक्रमपूर्ण सफलता पर सन्तुष्ट होकर प्रतीत होता है, चार वर्ष बाद विजय प्राप्त करने वाले तृत्सुओं के राजा दिवोदास ने अपने वीर सेनापति आर्जुनेय कुत्स को दस्युओं का विजित पर्वतीय भू-भाग, जो उसके जन (राज्य) की उत्तरी सीमा से दूर नहीं अवस्थित था, पुरस्कार स्वरूप कुत्स को दे दिया था। अतएव इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुये वेतसु क्षेत्र को तृत्सु जन के उत्तर में परुष्णी और सरस्वती

---

१. ऋग्वेद, १०/४९/४, अहं पितेव वेतसूंरभिष्टये तुग्र ....।
२. वही, ६/२०/५, १०/२९/२, ६/१९/१३, ५/३१/८।
३. वही, ६/२०/८, २६/४।
४. आल्टिण्डिशे लेबेन, १२९। ५. डेर ऋग्वेद, नं० ३३७।
६. वेद धरातल, २०१० वि०, लखनऊ, पृ० ६२१।
७. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, १९६५, पृ० ६४१।
८. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० २५।

के उद्गम अर्थात् हिमालय पर्वत की प्रत्यन्त शृंखलाओं से सम्बन्धित मानना समीचीन प्रतीत होता है।

सारस्वत—विश्वामित्र जैसे यशस्वी ऋषि द्वारा इस क्षेत्र का बृहत् सांस्कृतिक प्रदेश के रूप में इला और भारती के साथ उल्लेख किया गया है[1]। सप्तसैन्धव प्रदेश की सात नदियों में सिन्धु और सरस्वती ने भौगोलिक दृष्टि से आर्यों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। जहाँ सिन्धु ने अपने आस-पास के क्षेत्र में मानव को भौतिक अभ्युदय के लिए विविध उद्योगों की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर प्रेरित किया, वहीं सरस्वती ने आर्यों को भौतिक उत्कर्ष के साथ यज्ञादि आध्यात्मिक कार्यों में अभ्युदय प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

सरस्वती नदी के आस-पास के क्षेत्र को सारस्वत क्षेत्र से अभिन्न मानना समीचीन है। यह क्षेत्र भरतों (तृत्सुओं) के जन (राज्य) का ही पूर्वी भाग था, जिसका विस्तार दृषद्वती नदी के पास तक था। प्रतीत होता है, इस क्षेत्र में भरतों के अतिरिक्त वसिष्ठ, भरद्वाज तथा विश्वामित्र के वंशज कुशिक जन भी रहते थे।

सप्तसैन्धव प्रदेश के अन्य विविध स्थल—

ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के विस्तृत भू-क्षेत्रों पर जिन आर्य एवं अनार्य जनों अथवा कबीलों का सम्बन्ध था, उन सभी का ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि पर ऋग्वेद में उल्लेख हुआ ही है, इसके साथ ही अन्य विविध स्थलों का भी कतिपय ऋचाओं में वर्णन किया गया है, जो ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। यहाँ संक्षेप में उन्हीं कतिपय स्थलों का विवेचन किया जा रहा है।

तीर्थ-स्थान—ऋग्वेद[2] के अतिरिक्त अन्य संहिताओं[3] एवं ब्राह्मण ग्रन्थों[4] में तीर्थ शब्द जलाशय के समीपवर्ती पवित्र स्थान के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुआ है, किन्तु

---

१. ऋग्वेद, ३/४/८, आभारती भारतीभिः सजोषा इला देवै मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सारस्वतेभिरवाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु।
२. वही, ८/१९/३७, सुवास्त्वा अधि तुग्वनि। १०/३१/३, तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः।
३. तैत्तिरीय संहिता, ६/१/१/१-२, अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षां-तपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति। ४/५/११/१-२। वाजसनेयि संहिता, १६/१६।
४. जैमिनि ब्राह्मण, ३/४/१४-१६, शांखायन, ब्रा० २/९।

ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थ शब्द मार्ग[1] (जलपथ), नदी का सुतर (उथला) पार करने का स्थल अथवा नदी घाट[2] के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

यास्काचार्य[3] ने ऋग्वेद (८/१९/२७) में उल्लिखित 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' की व्याख्या में सुवास्त्वा का सुवास्तु (स्वात) नदी तथा तुग्वन का अर्थ तीर्थ अथवा तरण (पवित्र) स्थल किया है। इस व्याख्या को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेशीय प्रमुख नदियों के अनेक तरण (पवित्र) अथवा सरलता से पार उतारने वाले (उथले) स्थल भी तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध थे, जिनमें सामान्य नदियों के अतिरिक्त सिन्धु[4] नदी अत्यन्त गहरी एवं महत्त्वपूर्ण होने के कारण अपने तीर्थों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने यहाँ तीर्थ शब्द को पवित्र जलाशय के समीप स्थल के स्थान पर सामान्य नदी-घाट के रूप में ग्रहण किया है, सिन्धु नदी के विशिष्ट तीर्थ स्थान के रूप में नहीं। भौगोलिक दृष्टि से नदी की प्राकृतिक प्रवाह[5]-प्रकृति तथा मानव बस्तियों के आकार-प्रकार के आधार पर सामान्यतया तीर्थस्थान निर्मित होते हैं, जिनको सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से पवित्र तथा कल्याणकारी होने से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। नदियों के संगमों[6] अथवा सरोवरों के समीपस्थ पवित्र तीर्थ स्थान ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश में, प्रतीत होता है, कम नहीं विद्यमान थे, तथापि इनका नामोल्लेख कम हुआ है, फिर जलाशय के समीप होने के कारण 'उदव्रज' नाम के एक स्थल को तीर्थस्थान के अतिरिक्त प्रसिद्ध नगर के रूप में उदाहृत किया जा सकता है।

उदव्रज—गर्ग ऋषि (भरद्वाज पुत्र) द्वारा वर्ची तथा शम्बर नाम के दस्यु सरदारों का वध इसी प्रसिद्ध स्थान में बताया गया है[7]। तृत्सुओं (भरतों) के राजा

---

१. ऋग्वेद, १/१६९/६—तीर्थे नार्यः पौंस्यानि तस्थुः, १/१७३/११, ४/२९/३।
२. वही, ८/४७/११, सुतीर्थमर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्। १/४६/८, अरित्रं वा दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः।
३. निरुक्त, ४/१५।
४. ऋग्वेद, १/४६/८, अरित्रं वा दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः।
५. वही, १०/९/८, इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितंमयि।
६. वही, ८/६/२८ तथा वाजसनेयि संहिता २६/१५।
७. वही, ६/४७/२१—अहन्दासा वृषभोव वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनाशम्बरं च।

दिवोदास 'अतिथिग्व' ने सतत् चालीस वर्ष युद्ध करने के पश्चात् इन्द्र की सहायता से 'उदब्रज' नामक स्थान में एक लाख अनुयायियों वाले वर्ची तथा ९९ पर्वतीय पुरों (दुर्गों) पर आधिपत्य[1] रखने वाले शम्बर नामक दस्युओं का पर्वतीय सरिता तट पर अवस्थित इस तीर्थ-स्थान के निकट ही बध किया था। इसके नाम से ही यह ज्ञात होता है कि यह स्थान किसी जलाशय (नदी तट) के अत्यन्त निकट अवस्थित रहा होगा, जैसा कि सायणाचार्य[2] ने अपने भाष्य में इस तथ्य को व्यक्त भी किया है, किन्तु वे भ्रमवश इसे तीर्थस्थल अथवा प्रसिद्ध स्थान (नगर) न मानते हुए देश के रूप में स्वीकार करते हैं। श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी[3] तथा श्री राहुल सांकृत्यायन[4] ने उदब्रज को स्थान के रूप में ग्रहण करते हुए इसे तृत्सुओं (भरतों) के उत्तर में हिमालय प्रदेशीय (कांगड़ा के पर्वतीय) समतल भूभाग में धनेरी (नूरपुर) के पास अवस्थिति निर्दिष्ट की है जहाँ आर्यों एवं दासों (दस्युओं) की असंख्य सेना भी एकत्रित हो सकी होगी।

समीक्षा—जिस प्रकार परवर्ती महाकाव्य[5] काल में लवणासुर का शत्रुघ्न द्वारा बध किये जाने से यमुनातटवर्ती नगर मधुपुर या मधुपघ्न (मधुरा या मथुरा) प्रारम्भ में विजय-स्थल, किन्तु कालान्तर में तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध हो गया, उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में वर्ची और शम्बर के बध के पश्चात् दस्युओं एवं दासों पर आर्यों (तृत्सुओं या भरतों) की महान् विजय उदब्रज में ही हुई, अतएव यह भी प्रारम्भ में विजयस्थल किन्तु कालान्तर में जलाशय (नदी तट) के समीप अवस्थित होने के कारण तीर्थस्थान के रूप में विश्रुत हो गया। दस्युओं (दासों का क्षेत्र हिमालय पर्वत को शृंखलाओं से संबंधित था। अतएव उदब्रज को भी नगर या तीर्थ-स्थल के रूप में भरतों के उत्तर में हिमालय पर्वतीय (विपाश अथवा शुतुद्रि के उद्गम) क्षेत्र में अवस्थित मानना समीचीन है।

पुर (सुरक्षित नगर)—यद्यपि ऋग्वेद के अनेक स्थलों[6] में पुरों का उल्लेख

---

१. ऋग्वेद, ७/९९/५, ६/३१/४, ४/२६/३।

२. द्रष्टव्य—सायणाभाष्य-"उदकानि ब्रजन्ति अस्मिन् इति उदब्रजा देश विशेषः।" (ऋग्वेद ६/४७/२१)।

३ वेद धरातल, २०१० वि०, लखनऊ, पृ० ६४।

४. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० १००।

५. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०८/१०, ६८/३, ७०/५,१६।

६. ऋग्वेद, १/१७३/१०, १७४/८, १८९/२, २/१९/६, (सामान्य नगर) २/१४/६,

हुआ है, जिनमें अधिकांश ऋतु सम्बन्धी भौगोलिक प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए सुरक्षित आवास के अतिरिक्त सैनिक अभियानों में संत्राण प्राप्त करने के लिये आयस् अथवा पाषाणों से निर्मित किये जाते थे, तथापि इन आयसी पुरों (पाषाण दुर्गों) के अतिरिक्त, प्रतीत होता है, पत्थर की चहारदीवारी से घिरे अनेक पुर (सुरक्षित नगर) भी ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश में विद्यमान थे, जिनका कतिपय ऋचाओं में नामोल्लेख भी प्राप्त होता है। यहाँ संक्षेप में ऐसे सुरक्षित नगरों अथवा निवास-स्थानों की भौगोलिक अवस्थिति का विवेचन किया जा रहा है।

नैचाशाख—ऋषि विश्वामित्र द्वारा इन्द्र की स्तुति में अनार्यों को कबीले कीकट क्षेत्र की गायों के उल्लेख के साथ ही प्रमगन्द के धन की प्राप्ति हेतु उसके नगर नैचाशाख को नष्ट करने की भी प्रार्थना की गयी है।[1] सायणाचार्य ने नैचाशाख[2] को "नीच वंश से संबंधित" अर्थ करने के अतिरिक्त अन्यत्र[3] इसे नगर के रूप में भी ग्रहण किया है जिसे श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी समर्थित किया है। अन्य स्थानों पर इसे देश का नाम बताया गया है[4] जिसे श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी[5] अप्रामाणिक मानते हैं। ग्रासमैन, लुडविग तथा रिसमर पाश्चात्य विद्वानों[6] ने सायण के प्रथम आशय को समर्थित किया है, जबकि हिलेब्राण्ट[7] द्वारा नीची शाखाओं वाला अर्थकर सोम-पौधे को निर्दिष्ट किया गया है।

समीक्षा—संबंधित ऋचा में उल्लिखित 'नैचाशाख' को कीकट एवं प्रमगन्द के सन्दर्भ में ग्रहण करते हुए सायण द्वारा किया गया प्रथम अर्थ (नीच वंश में उत्पन्न) तथा हिलेब्राण्ट का सोम विषयक अभिमत सर्वथा असंगत एवं असमीचीन प्रतीत होता

४/३०/२०, (पाषाण के पुर) २/२०/८, ८/१००/८, (आयसी पुर) ६/२०/१०, (शारदीपुर) ३/१२/६, ५/३१/६, ४/२६/३, ६/३१/४।

१. ऋग्वेद, ३/५३/१४, "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो...आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया नः।"
२. द्रष्टव्य सायण भाष्य—"नीचासु शूद्र योनिषु उत्पादिता शाखा-पुत्र पौत्रादि परम्परा येन।"
३. ऋग्वेदभाष्य भूमिका, पृ० ४।
४. सेण्टपीटर्स वर्गकोश, ब० स्था०।
५. वेद धरातल, २०१० वि०, लखनऊ, पृ० ३६०।
६. आल्टिण्डिशे लेबेन, ३१।
७ वेदिशे माइथोलाजी, १,१४-१८, २, २४१-२४५।

है। अतः सायण के प्रथम अर्थ का समर्थन करने वाले ग्रासमैन, लुडविग, त्सिमर आदि पाश्चात्य विद्वानों के मत भी कोई महत्त्व नहीं रखते हैं। कीकट स्वयं ही अनार्य जाति के कबीले से संबंधित क्षेत्र का नाम है। अतएव उससे घनिष्ठ संबंधित नैचाशाख स्वतंत्र रूप से पृथक् अन्य कोई देश नहीं हो सकता है तथा ऋचा के उल्लेखानुसार इसे कीकट क्षेत्रान्तर्गत स्थान के नाम के रूप में ही ग्रहण करना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। कीकट की अवस्थिति विपाश और शुतुद्रि नदियों की ऊपरी घाटी के (हिमालय की निचली शृंखलाओं) में थीं, अतएव इसके ही अन्तर्गत नैचाशाख को इन नदियों के उद्‌गम स्थल से संबंधित मानना समीचीन है।

भजेरथ—ऋग्वेद की एक ऋचा[1] के अन्तर्गत भजेरथ का उल्लेख हुआ है, जिसे पाश्चात्य विद्वान् लुडविग[2] ने किसी स्थान के नाम का आशय ग्रहण किया है, जबकि ग्रिफिथ ने इस तथ्य को संदिग्ध माना है कि भजेरथ किसी स्थान (नगर) का नाम है अथवा किसी व्यक्ति का[3]। इस सम्बन्ध में राथ की अवधारणा है कि संबंधित ऋचा का मूल पाठ ही भ्रष्ट है[4]।

समीक्षा—संबंधित ऋचा में उल्लिखित भजेरथ किसी स्थान का ही नाम प्रतीत होता है। राथ ने यहाँ मूल पाठ के भ्रष्ट होने की जो धारणा व्यक्त की है, वह बिना कोई प्रामाणिक पाठ निर्दिष्ट किये स्वीकार्य नहीं है। ग्रिफिथ ने इसके सम्बन्ध मे स्थान अथवा व्यक्ति के नाम होने का सन्देह व्यक्त किया है, यह अवश्य ही विचारणीय है, किन्तु व्यक्ति के रूप मे इसके किसी विशिष्ट कार्य अथवा स्वभाव का इस ऋचा मे अथवा अन्यत्र उल्लेख न होने के कारण लुडविग का दृष्टिकोण तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है।

यह स्थान सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी (मध्यवर्ती) भूभाग मे अवस्थित था तथा यहाँ से रथ सरलता से आ-जा सकते थे।

दशव्रज—ऋग्वेद[5] की कतिपय ऋचाओं मे इस स्थान का उल्लेख प्राप्त होता है। डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ[6] 'दशव्रज' को अश्विनी के आश्रित व्यक्ति का नाम

१. ऋग्वेद, १०/६०/२।
२. ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३८, १६५।
३. ऋग्वेद के सूक्त, २, ४६३।
४. सेण्टपीटर्स वर्ग कोश, राथ, व० स्था०।
५. ऋग्वेद, ८/८/२०, ८/४९/१, ५०/९।
६. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, (अनुवादक—रामकुमार राय), पृ० ३८६।

मानते हैं, जबकि श्री राहुल सांकृत्यायन[1] प्रभृति भारतीय विद्वानों की अवधारणा है कि यह स्थान-विशेष का अभिधान है तथा सप्तसैन्धव प्रदेश के पर्वतीय पश्चिमोत्तरी भाग में अवस्थित था।

समीक्षा—व्रज शब्द सामान्यतया पशुओं के समूह अथवा गोष्ठ (गो आदि पशुओं के स्थान) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए—"दश-व्रज" को गो आदि पशुओं के इस गोष्ठ प्रधान स्थान से अभिन्न मानना समीचीन प्रतीत होता है। अतएव डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ की अवधारणा के स्थान पर श्री राहुल सांकृत्यायन के अभिमत को तथ्यपूर्ण मानते हुये इस स्थान को भौगोलिक दृष्टि से पशुपालन-प्रधान क्षेत्र (नदियों के आस-पास चरागाह प्रधान मैदानी भाग) में अवस्थित मानना उचित प्रतीत होता है।

गोशर्य—यह ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं[2] में स्थान के नाम के रूप में उल्लिखित हुआ है, किन्तु डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ[3] के मतानुसार गोशर्य अश्विनों के आश्रित का नाम है। श्री राहुल सांकृत्यायन[4] इसे स्थान के रूप में ग्रहण करते हुये सप्तसिन्धु प्रदेश के पश्चिमोत्तरी भाग में अवस्थित मानते हैं।

समीक्षा—डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ का मत संबंधित ऋचाओं के सन्दर्भ को दृष्टि में रखते हुये तथ्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। अतः श्री राहुल सांकृत्यायन की धारणा के अनुसार दशव्रज के समान इसे भी गोपालन-प्रधान स्थान मानना समीचीन है। जहाँ गवाशिर (सोम-मिश्रित दुग्ध पेय) प्रचुर मात्रा में तैयार किया जाता था। अतएव इसे पशुपालन-प्रधान नदियों के आस-पास मैदानी भाग से संबंधित मानना चाहिये।

प्रमुख ऋषियों एवं उनके आश्रमों (निवास-स्थान) का विवेचन

यत्र-तत्र अपनी ऋचाओं में विविध शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही सप्तसिन्धु के भौतिक भूगोल से परिचित कराने के अतिरिक्त सप्तसैन्धव प्रदेश के समस्त सांस्कृतिक भूगोल के स्वरूप को निर्धारित करने में तपस्वी ऋषियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

---

१. ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ७४।
२. ऋग्वेद, ८/८/२०, ४९/१, ५०/१०।
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २६८।
४. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ७४।

जन-जीवन के अशान्त वातावरण से निर्लिप्त रह कर भी उसके निकट प्रकृति के पावन क्रोड में पले निश्छल भौतिक विषयों से वीतराग रहते हुए भी तत्त्वज्ञानी उदारचित्त ओजस्वी एवं परम मेधावी, ऋग्वैदिक ऋषियों के पावन-जीवन के साथ ही उनके निवास-स्थान (आश्रमों) के क्षेत्र को भौगोलिक वातावरण (प्राकृतिक दशाओं) ने किस प्रकार प्रभावित किया तथा उनके द्वारा सांस्कृतिक भूगोल में किस प्रकार का मौलिक योगदान दिया गया ? यह एक अत्यन्त आवश्यक एवं विचारणीय विषय है।

ऋग्वैदिक ऋषियों एवं मुनियों[1] का सामान्य जीवन त्याग, तपस्या, देवोपासना एवं श्रम-साधना से परिपूर्ण होता था। तपस्या तथा देवोपासना से बचे हुए समय में ऋषिगण गृहस्थों की भाँति श्रमपूर्ण आजीविका हेतु कृषि एवं पशुपालन आदि कार्यों में लगे रहते थे और सरल (त्यागपूर्ण) जीवन व्यतीत करते थे डॉ० पी० वी० काणे[2] ने ऋग्वेदकालीन आर्यमुनियों (ऋषियों) को त्याग, तपस्या में शरीर सुखा देने वाले और दरिद्र सा जीवन बिताने वाला बताया है, जिन्हें अनार्य अपने कबीलों से संबंधित इस प्रकार के जनों को 'यति' कहा करते थे। इन ऋषियों के आश्रमों (निवास स्थान)[3] का विस्तार एवं स्वरूप संकुचित न होकर अत्यन्त विस्तृत (व्यापक क्षेत्र से संबंधित) होता था कि अनेक सगोत्रीय ऋषि जनों के कुटुम्ब इनमें रहकर जप-तप, यज्ञ-हवन, अध्ययन-मनन, कृषि-पशु-पालन आदि उनकी अनेक क्रियायें निर्विघ्न चलती रहती थीं। यज्ञस्थान, तपस्थान एवं शिक्षा संस्थान (ऋषि कुल) के रूप में इन ऋषि-आश्रमों का सांस्कृतिक महत्त्व विश्रुत है ही, इसके साथ ही अपने क्षेत्रीय सम-सामयिक जनों (राज्यों अथवा कबीलों) की सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्थिति को अन्ततः प्रभावित करने मे जिन ऋषियों एवं उनसे सम्बन्धित आश्रमों का महत्त्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय योगदान रहा है, उनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

भरद्वाज—वृहस्पति पुत्र भरद्वाज ऋग्वेद के ६० सूक्तों के द्रष्टा ऋषि तृत्सुओं (पुरु-भरतों) के जनाधिप दिवोदास 'अतिथिग्व' के पुरोहित (प्रधानमंत्री) पद पर प्रतिष्ठित होकर अपने अनेक वंशजों के साथ भरत-जन की सीमा के अन्तर्गत सरस्वती

---

१. ऋग्वेद, १०/१३६/२, मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः। ८/१७/१४ (इन्द्र मुनियों का सखा), १०/१३६/४ (मुनि देवों का मित्र)।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २६५।

३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ७७ (डॉ० मैक्डानेल एवं कीथ ने सामान्य जीवन स्तर (अवस्थानुसार जीवन-यापन) के अतिरिक्त मानव-निवासस्थान को आश्रम बताया है।

तट पर अवस्थित आश्रम में निवास करते थे। ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के प्रायः अनेक स्थलों पर भरद्वाज तथा उनके सगोत्रीय जनों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] अपनी सामयिक आर्य-अनार्यों की संघर्षमयी स्थिति (६/२०/१०) को समझते हुए बुद्धिमान् ऋषि ने आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिक उपलब्धियों की आवश्यकता पर अपनी ऋचाओं में[2] विशेष बल दिया है। शम्बर जैसे दासों एवं दस्युओं पर विजय प्राप्त करने के लिये उन्होंने अच्छे वीरों[3] के साथ रहने, पत्थर से दृढ़ शरीर पाने की कामना[4] करते हुए सुरक्षा के लिये वर्म, धनुष्, ज्या, इषुधि, परशु, रथ-घोड़े जैसे यौद्धिक साधनों का भी तत्कालीन परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुये उल्लेख किया है।[5]

पर्वतीय अनार्य दस्युओं (शम्बर, धुनि, चुमुरि, पिप्रु, शुष्ण) आदि पर विजय प्राप्ति हेतु भौतिक समृद्धि संवर्धित करने की ओर भरद्वाज का ही ध्यान भौगोलिक संसाधनों की अनुकूलता की ओर गया तथा क्षेत्र एवं अरण्य[6] का उल्लेख उन्होंने कृषि एवं पशुपालन जैसे धन्धों की महत्ता को ध्यान में रखते हुये अपने नाम को पूर्ण चरितार्थ किया। प्रत्यक्ष रूप से भी ऋषि ने आर्थिक भूगोल को हृदयंगम करते हुये अन्न-धन-पशु के साथ ही शत्रुओं से सुरक्षा की कामना की है[7]। सप्तस्वसा सरस्वती[8] का स्वाभाविक भौगोलिक वर्णन करने से यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये और इनके वंशज सरस्वती के दाहिने तट पर भरतों की सीमा के अन्तर्गत आश्रम बनाकर निवास करते थे तथा दिवोदास को राजनैतिक एवं यौद्धिक विषयों में परामर्श एवं सहायता देते रहते थे।

वसिष्ठ—ऋग्वेद के सप्तम मंडल के प्रधान ऋषि, लगभग १०४ सूक्तों के कर्ता मैत्रावरुण वसिष्ठ की ऋचायें तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री को व्यक्त करने की दृष्टि से विद्वानों द्वारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी गयी हैं।[9]

प्रतीत होता है, ऋषि वसिष्ठ भरद्वाज का पौरोहित्य (प्रधानमंत्रित्व) पद छीन कर भरतों के राजा सुदास 'वीतहव्य' के राज-पुरोहित नियुक्त हुए थे तथा

१. ऋग्वेद, १/४६, १/११६/१८, ६/४७/२५।
२. वही, ६/१६/५, त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते भरद्वाजायदाशुषे।
३. वही, ७/४/८, २४/१०।   ४. वही, ६/७५/१२।
५. वही, ६/७५/१,२,३,४।   ६. वही, ६/२४/१०।
७. वही, ६/१/१२, १५, ५/१, ५/१/१२।
८. वही, ६/६१/१०।
९. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, १९५७, इलाहाबाद, पृ० ६२।

उन्होंने तत्कालीन प्रतिपक्षी दस आर्य कबीलों द्वारा ऋषि विश्वामित्र के नेतृत्व में तृत्सुओं के विरुद्ध छेड़े जाने वाले भयंकर गृह-युद्ध (दाशराज्ञ युद्ध) में अपने वंशजों के साथ सक्रिय भाग लिया था जिसकी सफलता एवं विषम स्थिति का उन्होंने अपनी ऋचाओं में सजीव चित्रण किया है। वसिष्ठ की सहायता से तृत्सु जन अनेक प्रतिपक्षियों को परास्त कर उन्हें एक समग्र राष्ट्र के अन्तर्गत लाकर भौतिक सम्पन्नता प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। वस्तुतः तत्कालीन अनेक जनों कबीलों या राज्यों में विकीर्ण आर्यों को राजनैतिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने की दृष्टि से वसिष्ठ का महत्त्व निर्विवाद रूप से सर्वोच्च स्वीकारा जा सकता है[1]।

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं[2] में वसिष्ठ एवं उनके वंशजों का उल्लेख हुआ है। दाशराज्ञ युद्ध का विस्तार समस्त सप्तसैन्धव प्रदेश मे होने के कारण ये इसकी भौगोलिक दशाओं के साथ ही भौतिक स्वरूप (नदियों की गहराई) तक से सुपरिचित थे, क्योंकि पश्चिम में सिन्धु के साथ ही पूर्वी छोर की यमुना तटवर्ती[3] प्रतिपक्षी अनार्य जातियों (अज, शिग्रु, यक्षु) को भी इन्होंने वर्णित किया है। ये अपने सगोत्रीय जनों के साथ तृत्सुओं के जन के अन्तर्गत सरस्वती नदी के तट पर आश्रम बनाकर निवास करते थे, जिसका समर्थन पं० मधुसूदन ओझा प्रभृति विद्वानों ने अपनी शोध[4] कृतियों में किया है।

कौशिक विश्वामित्र—गाथि (गाधि) के पुत्र तथा कुशिक के पौत्र ऋषि विश्वामित्र का वसिष्ठ के सम-सामयिक प्रतिस्पर्द्धी होने के कारण कम महत्त्व नहीं है, क्योंकि दाशराज्ञ युद्ध में सुदास के प्रतिपक्षी दस राजाओं ने ही यौद्धिक योजना से तृत्सुओं का फाँस लिया था। प्रतीत होता है कि दाशराज्ञ युद्ध में विजयी होकर भी सुदास विश्वामित्र तथा उनके वंशजों (कुशिकों) की शक्ति के आगे और संघर्ष न कर सका और वसिष्ठ को राज-पुरोहित के पद से हटा कर विश्वामित्र को इस पद पर प्रतिष्ठापित कर अपने पक्ष में किया था। भृगुओं से इसकी घनिष्ठ मैत्री थी, क्योंकि यमदग्नि के साथ ही इन्होंने अपने वंशजों का उल्लेख किया है[5]। इससे यह ज्ञात

---

१. ऋग्वेद, ७/४/७, ८/४, १८/४, १४,१९, ३३/३, ६, ७/१/१५।

२. वही, ७/३३/१, २,३,६, १३।

३. वही, ७/१८/१९। आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च····

४. महर्षि-कुल-वैभवम्, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, २०१८ विक्रमीय, पृ० १५।

५. ऋग्वेद, १०/१६७/४, ३/२६/ १, ३, १२, २९/१५, ३०/२०, ३३/५।

होता है, प्रारम्भ में दाशराज्ञ युद्ध के समय विश्वामित्र तथा अन्य कुशिक लोग विपाश और शुतुद्रि के आस-पास आश्रम में रहते थे, क्योंकि इन नदियों के प्रति विश्वामित्र की अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृदयावर्जक ऋचाएँ प्राप्त होती हैं।[1] इसके अतिरिक्त भृगुवंशी ऋषि, जिनसे इनकी अत्यन्त घनिष्ठता थी, परुष्णी के पश्चिमी तट पर अवस्थित द्रुह्युओं के पुरोहित थे। अतएव कुशिकों का भृगुओं के निकटस्थ होना स्वाभाविक ही है, किन्तु कालान्तर में वसिष्ठों को सत्ता-च्युत कर ये तृत्सुओं के जन की सीमा में सरस्वती तट पर अपना स्थायी निवास बनाकर रहने लगे थे, क्योंकि इन्होंने सारस्वत जनों के साथ सरस्वती की श्रद्धापूर्वक स्तुति की है[2]। पं० मधुसूदन ओझा[3] ने पौराणिक एवं महाकाव्य सन्दर्भों के आधार पर इन्हें कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, मिथिला की कौशिकी नदी से संबंधित किया है जो ऋग्वैदिक सन्दर्भों से पूर्णतया असम्बद्ध हैं। इनके सगोत्रीय ऋषियों में दस सूक्तों के मधुछन्दा ऋषि की महत्त्वपूर्ण ऋचायें प्राप्त होती हैं।

वामदेव—प्रतीत होता है, गौतम के पुत्र ऋषि वामदेव वसिष्ठ और विश्वामित्र के परवर्ती ऋषियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे तथा ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल में इनकी अधिकांश ऋचायें प्राप्त होती है, जिनमें अपने आत्म-परिचय[4] (पिता गौतम तथा पूर्वज अन्धे दीर्घतमस् ऋषि मामतेय ममता-पुत्र) का नामोल्लेख देने के साथ ही तत्कालीन सप्तसैन्धव प्रदेश के महान् विजेता आर्यराजाओं की सफलताओं[5], अन्य कबीलों की राजनैतिक[6] एवं सामाजिक[7] स्थिति तथा आर्थिक विकास हेतु एवं कृषि कर्म के विकास हेतु संबंधित अनेक उपकरणों[8] का इनके द्वारा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

ऋषि कक्षीवान् की एक ऋचा[9] से यह ज्ञात होता है कि इनके पिता गोतम

---

१. ऋग्वेद, ३/३३/१-१२।   २. वही, ३/४/८—सरस्वतीसारस्वतेभिर्.... ।

३. महर्षिकुलवैभवम्, पृ० १२८-१३०।

४. ऋग्वेद, "मा पितुर्गोतमा दन्वियाय।" ४/४/११, ४/४ १३ - ये पायवो मामतेयं ...
अन्धंदुरितादरक्षन्।" (दीर्घतमा)।

५. वही, ४/२६/३, ३०/२०, १६/१३।

६. वही, ४/१६/१३, ३०/१४, १५।

७. वही, ४/५८/८ अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासः...

८. वही, ४/५७/४, ६,७,८।

९. वही, १/११६/९, परावतं...क्षरन्नापो न पानाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य।

किसी दूर (परावत्) की उष्ण जलवायु वाले भू-भाग में रहते थे, क्योंकि नासत्यों द्वारा तैयार जलाशय से प्यासे गौतम के लिए सहस्र गुण धन के अतिरिक्त पीने के लिये जल निकालने का उल्लेख है[1]। इससे यह प्रतीत होता है कि गौतम का आश्रम जलरहित दक्षिणी सप्तसैन्धव प्रदेश के मरुस्थलीय भाग में था, किन्तु कालान्तर में वामदेव द्वारा तृत्सुओं की अनार्यों और आर्यों के प्रतिपक्षीजनों पर महान् विजय होने पर तृत्सुजन के अन्तर्गत (सारस्वत क्षेत्र में) अपना निवास-स्थान बनाया गया। वामदेव को सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग की भौगोलिक दशाओं का सम्यक् ज्ञान था, क्योंकि परुष्णी, असिक्नी, विपाश जैसी नदियों का उल्लेख करते हुए आर्थिक विकास के लिये 'कृषतुलांगलः[2]', 'सीता सुफला' जैसे कृषि प्रचारात्मक वाक्यों और कृपियन्त्रों[3] को व्यक्त किया है। सामाजिक उत्सवों (समन = मेलों) में जाती मुस्करानी सुन्दर स्त्रियों का भी इन्होंने वर्णन किया है। (ऋग्वेद ४/५८/८)

अत्रि—ऋग्वेद के पंचम मंडल में अत्रि एवं श्यावाश्व आदि उनके अन्य सगोत्रीय ऋषियों से अतिरिक्त भृगुवंशीय गृत्समद ऋषि की ऋचायें प्राप्त होती हैं। कक्षीवान्[4] की ऋचाओं से प्रतीत होता है, कि पंच जनों में प्रभावशाली और पूज्य होने से इन्हें 'पांचजन्य' ऋषि भी कहा जाता था तथा आर्य-अनार्य युद्धकाल में हिंसक दस्युओं ने अत्रि ऋषि को तुषानल में जलाने के अतिरिक्त अन्धकारपूर्ण पीड़ा-यन्त्र-गृह में नीचे मुख कर डाल दिया था, किन्तु अश्विनों की सहायता से हिम जैसे शीतल जल से तुषाग्नि शमन होने के साथ ही वे अन्धकारमय कारागृह से निकल कर अपने गृह पहुँच सके थे। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि अत्रि का अनार्यों ने बन्दी के रूप में छल से अपहरण कर लिया था तथा ये कुरु (भरतों) के जन की सीमा के अन्तर्गत (उत्तरी तराई भाग में निवास करते थे), यद्यपि कतिपय ऋचाओं[5] में अत्रि के ज्योतिष्-विषयक दिव्य स्वरूप का भी वर्णन किया गया है, तथापि इनका ऐतिहासिक एवं मानवीय रूप ही अधिक ग्राह्य है। परवर्ती पौराणिक[6]

१. ऋग्वेद, ४/२२/२, ४/१७/१५,४/३०/११।
२. वही, ४/५७/४, ६, ७। ३. वही, ४/५७/८।
४. वही, १/११६, हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा, १/११७, ऋषिं नरावंहसः पांचजन्यमृबीसादत्रिं।
५. वही, ५/४०/५,६,७,८,९। गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन···अत्रि।
६. ब्रह्माण्ड उपोद्घात, ८/१-८, ब्रह्म० ७४/१-७, विष्णु० १/१०/८-९, भागवत ८१, वह्नि० ७/२, हरिवंश ३/६५।

एवं महाकाव्य[1] ग्रन्थों में उल्लिखित ऋषि तथा उनके निवासस्थान को ऋग्वैदिक तथ्यों से सम्बद्ध करना सर्वथा असमीचीन है।

भृगुवंशीय ऋषियों में शौनक के पुत्र तथा ४० सूक्तों के कर्त्ता (पंचम मंडल के प्रमुख भार्गव ऋषि) गृत्समद के अतिरिक्त १५ सूक्तों के कर्ता आत्रेय ऋषि श्यावाश्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतीत होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश का पर्यटन उन्होंने एक ओर से दूसरी ओर तक किया था। अतएव सप्तसैन्धव प्रदेश के भौगोलिक विस्तार के साथ ही प्रवाह प्रणाली को जानने में इनकी ऋचायें अत्यन्त उपयोगी हैं, क्योंकि जहाँ सप्तसिन्धु की पूर्वी सीमा पर बहती यमुना का[2] उल्लेख उन्होंने किया है, वहीं पश्चिमी सीमान्त में सिन्धु के साथ उसकी पश्चिमी सहायक रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु, सरयू जैसी नदियों का भी उल्लेख किया है।[3]

ऋषि श्यावाश्व आत्रेय की एक ऋचा में तृत्सुओं के राजा सुदास[4] का उल्लेख होने से इनका भी तृत्सुओं के जन के अन्तर्गत ही आश्रम था, जो सरस्वती तट के अन्य ऋषि आश्रमों से दूर अवस्थित नहीं कहा जा सकता है।

अगस्त्य—मैत्रावरुण अगस्त्य वसिष्ठ के भाई हैं जो ऋग्वेद के २६ सूक्तों के कर्ता माने गये हैं। वसिष्ठ के समान अगस्त्य भी ऋग्वैदिक ऋषियों में[5] विख्यात हैं। इन्होंने अपनी ऋचाओं में वसिष्ठ का उल्लेख न कर अपनी पत्नी लोपामुद्रा एवं विश्पला का उल्लेख[6] किया है। वसिष्ठ ने अगस्त्य का उल्लेख अवश्य किया है[7]। अपने समसामयिक पंच आर्य जनों में से तुर्वश और यदु की कल्याणकामना (समुद्र से सकुशल पार होने की) इनके द्वारा की गयी है[8], किन्तु तत्कालीन दाशराज्ञ युद्ध की झलक इनकी ऋचाओं में नहीं मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है, अगस्त्य तृत्सुओं की अपेक्षा तुर्वशों और यदुओं से घनिष्ठ संबंधित थे और इनका आश्रम (निवास स्थान) इन्हीं जनों की दक्षिणी सीमा में परुष्णी-वितस्ता के समीप अवस्थित था, किन्तु वाल्मीकि

---

१. महाभारत, अनुशासन० १-८, वाल्मी० रामा० अरण्य० २ सर्ग।

२. ऋग्वेद, ५/५२/१७, यमुनायामधिश्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे निराधो अश्व्यं मृजे।

३. वही, ५/५३/९, मा वो रसानितभा कुभा, क्रुमुर्मावः सिन्धुर्निरीरमत्। मा वा परिष्ठात् सरयुः...।

४. वही, ५/५३/२।   ५. वही, १/१८०,८—अगस्त्यो नरांनृषु प्रशस्तः...।

६. वही, १/१७९/४ (लोपामुद्रा), १/१८२/१ (विश्पला)।

७. वही, ७/३३/१० तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्वा विश आजभार।

८. वही, १/१७४/९—प्रयत् समुद्रमतिशूरपर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति।

रामायण[1] में उल्लिखित अगस्त्य आश्रम तथा पौराणिक परम्परा[2] में वर्णित इनके द्वारा विन्ध्य पार करके दक्षिणी-पूर्वी की सांस्कृतिक सामुद्रिक यात्रा करना (समुद्र-शोषण आदि) की घटना ऋग्वेद में उल्लिखित या संकेतित न होने के कारण वैदिक अगस्त्य से पूर्णतया असंबद्ध प्रतीत होती है। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि सप्तसैन्धव प्रदेश पूर्वी (अर्वावत्) समुद्र से दक्षिण भारत से अलग होने के कारण पौराणिक परम्परा में अगस्त्य द्वारा विन्ध्य पार करने की घटना असत्य है। महाकाव्य काल के पूर्व ही पूर्वी समुद्र लुप्त हो चुका था और स्थल से संलग्न होने से दक्षिणापथ की यात्रा निरबाध होने लगी थी। वैसे वैदिक सप्तसिन्धु प्रदेश में समुद्री नौकाएँ प्रचलित थीं। किन्तु अगस्त्य के सन्दर्भ में उल्लेख नहीं मिलता है। श्री मधुसूदन ओझा[3] वसिष्ठ के आश्रम से दक्षिण दिशा की ओर अगस्त्य का आश्रम निर्दिष्ट करते हैं, जिसे समीचीन कहा जा सकता है।

ऋषि अगस्त्य ने करम्भ जैसे ओषधिरूप खाद्य पदार्थ के अतिरिक्त शर, कुशर, दर्भ, सैर्य, मुंज जैसी प्राकृतिक वनस्पतियों के साथ घातक जंतुओं का भी उल्लेख[4] किया है, जिससे इनका प्राकृतिक वनस्पतियों के साथ छोटे जंतुओं का विशिष्ट ज्ञान व्यक्त होता है।

भृगु—अपने वंशजों सहित विद्यमान ऋषि भृगु दाशराज्ञ युद्ध के महान् विजेता सुदास के प्रबल प्रतापी द्रुह्युओं के पुरोहित (प्रधानमंत्री) थे। इनके वंशजों भार्गवों अथवा भृगुओं का भी ऋग्वेद में कण्वों के साथ उल्लेख प्राप्त होता है।[5] विश्वामित्र व जमदग्नि की संयुक्त ऋचा से यह ज्ञात होता है कि उनसे (कुशिकों) से भृगुओं की घनिष्ठता थी[6]। भृगु के अतिरिक्त इस वंश के विख्यात ऋषियों में जमदग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो विश्वामित्र के समसामयिक प्रसिद्ध ५ सूक्तों के कर्त्ता माने गये हैं। द्रुह्युओं का जन परुष्णी के पश्चिम में वितस्ता तक विस्तृत था। अतएव भृगु और उनके सगोत्रीय जमदग्नि आदि भार्गव ऋषियों का निवास परुष्णी (रावी) के आस-पास था।

१. वाल्मीकि रामायण, अरण्य० ११/३७।

२. श्रीमद्भागवत, १०/७८/१७, ६/१८/५, ब्रह्माण्डपुराण ४/५-३८, मत्स्य० ६१/२१-३१, स्कन्द पु० काशी खण्ड, अध्याय ५/५३-५५।

३. महर्षिकुल वैभवं, पृ० २८।

४. ऋग्वेद, १/१९१/३, १/१८७/१०।

५. वही, ८/३/१६, कण्वा इव भृगवः।

६. वही, १०/१६७/४, सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नि...

कण्व—ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में कण्व तथा उनके वंशज ऋषियों की ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। २० सूक्तों के कर्ता ऋषि मेधातिथि ने अपने वंशजों का अनेक ऋचाओं[1] में उल्लेख किया है जिनमें तत्कालीन राजनीतिक कबीलों[2] के अतिरिक्त आर्य-अनार्यों के युद्ध[3] की वस्तु-स्थिति का परिचय प्राप्त होता है। प्रतीत होता है, भृगुओं से इनकी अत्यन्त घनिष्ठता थी तथा ये तुर्वश और यदुओं के पुरोहित (प्रधान-मंत्री) थे। अतएव यदुओं और तुर्वशों के जनों (राज्यों) की सीमा के अन्तर्गत वितस्ता अथवा परुष्णी नदी के आस-पास ही कण्ववंशीय ऋषियों के आश्रम अवस्थित थे।

कण्ववंशीय ऋषियों में मेधातिथि सोभरि, प्रगाथ और घोर के अतिरिक्त १० सूक्तों के रचयिता ऋषि प्रस्कण्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिन्होंने तुर्वश, पक्थ जनों के साथ ही दशव्रज और गोशर्य जैसे स्थानों का[4] उल्लेख करते हुए गाय, घोड़े, भेड़ आदि की कल्याण-कामना[5] व्यक्त की है। इससे यह ज्ञात होता है, इनका सामान्य मानव-जीवन के अतिरिक्त पशु-पालन पर विशेष ध्यान केन्द्रित था। सिन्धु नदी के तीर्थों[6] (घाटों) के साथ ही ६६ लघु[7] सरिताओं के उल्लेख से परिभ्रमण के आधार पर प्राप्त इनका उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान भी व्यक्त होता है।

ऋग्वैदिक अन्य महत्त्वपूर्ण ऋषियों में १५ सूक्तों के कर्ता कुत्स ऋषि (६/२६/३, १/६३/३, ४/१६/१२) नदी सूक्त के सिन्धु क्षित प्रियमेधपुत्र के अतिरिक्त उचथ्य पुत्र ऋषि दीर्घतमा तथा उनके यशस्वी पुत्र कक्षीवान् हैं, जिन्होंने क्रमशः २५ और २७ सूक्तों की रचना की। दीर्घतमा ने तत्कालीन यौद्धिक[8] स्थिति के साथ ही मांस-भोजन[9] का वर्णन किया है, जबकि ऋषि कक्षीवान् ने तत्कालीन वाणिज्यिक स्थिति के अन्तर्गत सौ पतवारों वाली समुद्रगामी नौका[10] के साथ ही गान्धारी भेड़ों[11] और घोषा-विश्पला जैसी विदुषी महिला ऋषियों[12] का भी उल्लेख किया है। ये ऋषि तृत्सुओं

१. ऋग्वेद, १/१४/२, आत्वा कण्वा अहूषत, १/१४/५, ८/३/१६।
२. वही, ८/१/३१ (यदुओं), ८/३/६ (यतियों), १२ (रुशम)।
३. वही, ८/१/२८, त्वं पुरं चरिष्णवं वधैः शुष्णस्य सम्पिणक्।
४. वही, ८/८/२०, ४६/१, ५०/६, १०, ८/२२/१० (पक्थ)।
५. वही, १/४७/६।
६. वही, १/४६/८।
७. वही, १०/१०४/८।
८. वही, १/१४०/१२, १५८/५।
९. वही, १/१६२/१२।
१०. वही, १/११६/५, नौ शतारित्रा।
११. वही, १/१२६/७।
१२. वही, १/११७/७, ११।

के जन से सम्बन्धित होने से सारस्वत प्रदेश (सरस्वती तट के आस-पास) से संबंधित प्रतीत होते हैं।

समीक्षा—इस प्रकार हम देखते हैं कि सप्तसैन्धव प्रदेश के यशस्वी ऋषि जन प्रायः प्रतापी भरतों (तृत्सुओं) के जन के पूर्व में सारस्वत प्रदेश से सम्बन्धित आस-पास सरस्वती तथा पश्चिम में परुष्णी और विपाशा नदियों के सुरम्य तटों पर आश्रम बना कर रहते थे। गौतम और अत्रि जैसे ऋषि प्रतीत होता है, तृत्सुओं के सीमान्त भागों में आश्रम बना कर क्रमशः दक्षिण के मरुस्थलीय भाग और उत्तर की हिमालीय तराई में निवास करते थे। निरन्तर पर्यटन करने के कारण इन ऋषियों को उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान (धरातलीय संरचना तथा प्रवाह-प्रणाली का) था। इस दृष्टि से नदी सूक्त के कर्त्ता सिन्धुक्षित् (प्रियमेधपुत्र) तथा श्यावाश्व ऋषि की ऋचाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सप्तसैन्धव के सांस्कृतिक भूगोल को जानने में भी इन ऋषियों की ऋचायें अत्यन्त उपयोगी है।

सप्तसैन्धव से सम्बन्धित अन्य बाह्य क्षेत्र एवं आर्य-संस्कृति का वैदेशिक प्रसार

ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं में[1] सप्तसैन्धव प्रदेश के कतिपय बाह्य क्षेत्रों के भी संकेत प्राप्त होते है। यद्यपि सप्तसैन्धव प्रदेश उत्तर-पश्चिम में उत्तरी समुद्र के अतिरिक्त दुर्लंघ्य हिमवन्त-मूजवन्त सदृश पर्वतों की शृङ्खलाओं तथा पूर्व द० प० और दक्षिण में अर्वावत् तथा परावत् जैसे गहरे समुद्र से घिरा था, तथापि यहाँ के उद्योग-शील, साहसी, विजिगीषु एवं जिज्ञासु मानव ने इसकी सीमा समय-समय पर लाँघ कर बाहरी भौगोलिक क्षेत्रों से सफल परिचय प्राप्त किया था। इन बाह्य क्षेत्रों मे कतिपय पश्चिमी भू-भाग स्थलीय मार्गों से जुड़े थे, जबकि पूर्वी, दक्षिण-पूर्व, तथा दक्षिण में समुद्री भागों में कतिपय द्वीप जैसे भी स्थल थे, जहाँ सप्तसैन्धव प्रदेशीय भुज्यु से साहसी मानव सौ पतवारों[2] वाली जंगी जलयान सी नौकाओं से कई दिनों कीने यात्रा कर पहुँचते थे।

---

१. ऋग्वेद, १०/१३१/१—(इन्द्र से बाहरी चारों दिशाओं के शत्रुओं से रक्षा कर की प्रार्थना), ७/८३/३, ७/८८/७ प्र वासु त्वासुक्षितिषु क्षियन्तो।

२. ऋग्वेद, १/११६/५—अनारम्भणे…अग्रभणे समुद्रे…शतारित्रां नावमातस्थिवांसं)

समुद्री द्वीप—ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं[1] में सप्तसैन्धव प्रदेश के समुद्रों से संबंधित द्वीपों (टापुओं) का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश के कतिपय द्वीप बड़े, स्थायी एवं अनुकूल भौगोलिक दशाओं से युक्त थे, जबकि कतिपय द्वीप भौतिक प्रभावों (मरुत् के कम्पन अथवा समुद्री ज्वार आदि प्रक्रियाओं) से अस्थायी स्वरूप धारण करते थे। यहाँ तक कि समुद्र में विलुप्त तक हो जाते थे[2]। सप्तसैन्धवप्रदेशीय नदियों द्वारा बहा कर लाई हुई मिट्टी के अनवरत समुद्र-तल मे जमा होने से इन अस्थायी द्वीपों का निर्मित होना स्वाभाविक ही है, किन्तु द० तथा द०पू० में क्रमशः अर्बुद (अरावली अथवा पौराणिक पारिपात्र) पर्वत तथा विन्ध्यपर्वतीय शृंखलाओं के समुद्री जल सतह से उन्मज्जित होने से द्वीप रूप में इनका सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव का आकर्षण केन्द्र होना भी स्वाभाविक है। प्रतीत होता है, आर्य-अनार्य संग्राम में संत्रस्त एवं पराजित दस्यु अथवा पणि जैसे अनार्य समुद्र व्यापारी इन द्वीपों की समुद्री यात्रा किया करते थे। कभी-कभी भुज्यु[3] जैसे आर्य जन भी इन द्वीपों को अधिकृत करने के लिये बिना अनुकूल भौगोलिक दशाओं का ध्यान रखे साहसिक यात्रा करने में तूफानी समुद्र में फँस भी जाते थे। इस प्रकार एक स्थल[4] पर समुद्र के बढ़े हुए जल से यदु और तुर्वशु को कल्याण सहित पार करने के लिये इन्द्र से प्रार्थना की गयी है तथा अन्यत्र समुद्र पार जाकर बसने के कारण दासवत् संस्कारच्युत कहा गया है[5], किन्तु इन्द्र की कृपा से पुनः समुद्र पार कर सप्तसैन्धव प्रदेश[6] में आ गये और आर्यों के समाज में पुनः मिला लिये गये थे। अतएव उपर्युक्त सन्दर्भों से सिद्ध होता है, सप्तसैन्धव प्रदेश के बाह्य क्षेत्रों में से निकटस्थ समुद्री द्वीपों का ज्ञान आर्यों और अनार्यों विशेषतः पणियों को था तथा ये व्यापारिक (आर्थिक) अथवा राजनैतिक दृष्टिकोण से समय-समय पर दक्षिण एवं द०पू० के इन दीद्वों के क्षेत्रों की समुद्री यात्रा किया करते थे[7]।

---

१. ऋग्वेद, १/१६९/३, ८/२०/४।
२. वही, ८/२०/४, वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद् दुच्छुनो मे।
३. वही, १/११२/६, १/११९/४।
४. वही, १/१७४/९—प्रयत्समुद्रमतिशूर पर्षि पारया—तुर्वशं यदुं स्वस्ति।
५. वही, १०/६२/१०।
६. वही, ६/२०/१२, ४/३०/७, १०/४९/८, ५/३१/६, १०/६२/१०।
७. वही, ३/५५/१, ६, २/२७/१४, ५/५४/५, १/११३/१३, १०, १०/१३८/३।

ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक[1] संहिताओं में भी पारसियों को धर्मग्रन्थ[2] अवेस्ता में प्राप्त ईमा (यीमा) का अपने अनुयायियों सहित उत्तरी ध्रुव की ओर जाने के प्रकरण के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश की ही लम्बी उषाओं, लम्बे दिन-रात, लम्बी उषा के सम्बन्ध में आश्चर्य-प्रदर्शन, लम्बे दिन-रात को सरलता से कटने की प्रार्थना आदि सन्दर्भों को कतिपय विद्वान्[3] अनुमान के आधार पर उत्तरी ध्रुव से संबंधित सिद्ध करते हैं, जो नितान्त असमीचीन है। वस्तुतः ऋग्वेद में सप्तसैन्धव प्रदेश के वाह्य क्षेत्रों में कतिपय समुद्री द्वीपों को छोड़ कर प्रत्यक्षतया किसी भी स्थलीय भाग का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर-पश्चिम के वाह्य स्थलीय संभागों का आर्यों एवं अनार्यों को मात्र सम्यक् ज्ञान ही नहीं था, अपितु उन्होंने यहाँ की अनुकूल भौगोलिक दशाओं से सघन जन-संख्या[4] होने के साथ ही पारस्परिक संघर्षों के कारण आश्रय प्राप्त करने के लिये इन पश्चिमी भू-भागों की यात्रायें की थीं तथा वे वहीं बस भी गये थे, क्योंकि जब नौकाओं से समुद्र जैसी भयंकर यात्रा करने में सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव नहीं हिचका, तब अपने देश से संलग्न उत्तरी-पश्चिमी स्थलीय भू-भाग की ओर इनका अग्रसर होना स्वाभाविक ही है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के इन वाह्य क्षेत्रों में जाकर बसने वाले लोगों में दास, दस्युओं के अतिरिक्त पणि जैसे (फिनीशियन) लोग उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने क्रमशः वर्तमान ईरान (पारसीक या फारस), ईराक (स्याम, सीरिया) बेबिलोनियाँ, उत्तरी अफ्रीका आदि स्थलों में जाकर सप्तसैन्धव प्रदेशीय उत्कृष्ट वैदिक (आर्य) संस्कृति का प्रकारान्तर से प्रचार किया था, क्योंकि इन वाह्य क्षेत्रीय भू-भागों में प्राप्त यहाँ के कतिपय सांस्कृतिक अवशेषों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस दृष्टि से पारसियों से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता[5] में विद्यमान ऋग्वेद के भाषागत, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से ईरान मे प्राचीन (भारतीय) मूर्त्तिकला से समन्वित अक्काद

१. तैत्तिरीय संहिता, ३/११/२ (लम्बी उषा), अथर्व० १९/४७/२ (लम्बी रात)।
२. अवेस्ता, वेन्दिदाद, (४१) प्रकरण।
३. पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐति० दृष्टि, पृ० २४२।
४. ऋग्वेद, १/८०/९, ५३/६, ९, ४/३०/१५, २/१४/७।
५. जेन्द अवेस्ता ४ (४६), १ तथा २। तुलनीय ऋग्वेद १०/८९/९, १३१/१, सोम (होम) को पुनः ग्रहण करना ऋग्वेद के दस्यु का (दाश्युमा या वाह्य = जरथुस्त्र) रूप में तथा ऋग्वेद ७/१/७, ७/९/६, तथा १०/८०/३ ऋचाओं में जरूथ को जलाने का उल्लेख है।

सुमेरियन संस्कृति के स्वरूप के आधार पर[1] ईराक में सिन्धु प्रदेश के वस्त्र एवं साल जैसी लकड़ी के व्यापारिक सम्बन्धों से बेबिलोनियाँ में, शतपथ ब्राह्मण में (१/८/१) उल्लिखित जल-प्लावन की घटना का अपोलोडोटस द्वारा लिखित यूनानी (ग्रीस) इतिहास (ड्यू कालियन द्वारा नाव से नौ दिन तक जल मे रह कर परनासस[2] पर्वत पर उतरने के उल्लेख) के अतिरिक्त मिस्र, बेबिलोनियाँ एवं उत्तरी अमेरिका में प्रचलित (प्रलय) कथाओं में, भारतीय राम-कथा के आधार पर 'रामसित्व'[3] त्यौहार के स्वरूप में पीरू (द० अमेरिका) आदि विश्व में अनेक भू-भागों में प्राचीन आर्य संस्कृति की झलक आज भी देखी जा सकती है। प्राचीन पणियों (फिनोशियन्स या प्युनिकों) का इरीथ्रियन समुद्र से ईरान, ईराक, सीरिया तथा भूमध्यसागर के तटों पर बसना तथा वहाँ अपनी मौलिक सांस्कृतिक छाप डालना अनेक विद्वानों से भी सिद्ध किया गया, जिसमें श्री ए०सी० दास के अतिरिक्त[4] यूनानी ऐतिहासिक हेरोडोटस तथा श्री कुकटेलर[5], श्री पोकाक[6], श्री मैक्समूलर[7], इरे, श्री कोलमैन[8], श्री ऐलेक्स डेलमार[9] प्रभृति विदेशी विद्वानो के अनुसंधानपूर्ण निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

समीक्षा—इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सप्त-सैन्धव प्रदेश के अनुकूल भौगोलिक दशाओं के साथ उत्तम धरातलीय संरचना धारण करने के कारण सघन जन-संख्या का समृद्ध क्षेत्र था तथा अनेक मानवीय (सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक) आवासीय रूपो में बड़े जनों (कबीलों या राज्यो) से लेकर पुर (नगर), ग्रामों, ऋषि-आश्रमों आदि तक का यहाँ अस्तित्व था। श्री राहुल सांकृत्यायन[10] जैसे भारतीय विद्वानों ने कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के भ्रामक

---

१. ऐन्शियंट हिस्ट्री आफ नियर ईस्ट, हॉल तथा Rigvedic India, A. C. Das। २. ग्रोक्स हिस्ट्री आफ ग्रीस, वाल्यूम १, चैप्टर ६।
३. एशियाटिक रिसर्च्स प्रथम, पेज ४२६।
४. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० प्रथम, पेज १८०-१८७।
५. नेशन्स ऑफ ऐन्टीक्विटी, ११-१२ (मिस्री सभ्यता, हिन्दू सभ्यता से प्रभावित)।
६. इंडिया इन ग्रीस, १८५६, पेज १२-१८ (यूनान तथा अन्य देशों में भारतीय औपनिवेशिक सभ्यता)।
७. साइंस ऑफ लैंग्वेज, वाल्यूम प्रथम, पेज २७५ (आयरलैण्ड का आर्यों से सम्बन्ध)।
८. हिन्दू माइथोलोजी, पेज ३५० (अमेरिका में हिन्दू सभ्यता के चिह्न)।
९. हिन्दू डिसकवरी ऑफ अमेरिका, पेज ७०६।
१०. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १७, १०६।

अभिमतों के आधार पर आर्य संस्कृति को मात्र ग्रामीणों अथवा घुमन्तू पशु-पालकों की संस्कृति मान कर उसमें पुरों (नगरों) अथवा नागरिक जीवन का अभाव माना है, इसे ऋग्वेद से संबंधित सन्दर्भों के आधार पर सर्वथा असंगत एवं निराधार कहा जाना चाहिये, क्योंकि ऋग्वेद में दुर्गों के अतिरिक्त नगरों के रूप में भी पुरों का उल्लेख अनेक स्थलों[1] पर हुआ है, जिसमें उद्व्रज, दशव्रज, गोशर्य आदि स्थानों को ग्रहण किया जा सकता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से संबंधित अवशेषों को विकसित बता कर वैदिक संस्कृति के ही नागरिक जीवन का विकसित रूप प्रतिपादित किया है, सप्तसैन्धव प्रदेश के महान् भौतिक परिवर्तन (सागरों का विलुप्त हो जाना आदि) आदि को दृष्टि में रखते हुये इस तथ्य को समीचीन कहा जा सकता है। सप्तसैन्धव प्रदेश से संबंधित विविध क्षेत्रों एवं स्थानों का आर्यों को ज्ञान था किन्तु इसके बाहरी क्षेत्रों में समुद्री द्वीपों के अतिरिक्त अन्य किसी भू-भाग का उल्लेख नहीं है, तथापि दस्यु अथवा पणियों से इन बाह्य क्षेत्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से इनमें वैदिक संस्कृति का स्वतः विस्तार कालान्तर में हो गया।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय भूखण्ड के भूगोल को प्रभावित करने वाले मानवीय कारक

किसी भी प्रदेश के भूखण्ड के भूगोल को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले कारकों में मानवीय कारक उल्लेखनीय हैं, क्योंकि यावज्जीवन सक्रिय मानव स्वयं भौगोलिक वातावरण के रूप-निर्माण करने में निरन्तर क्रियाशील रहता है। अतएव, रसेल स्मिथ[2] जैसे भूगोलवेत्ता की इसी अवधारणा के आधार पर कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेशीय भूखण्ड के भूगोल को प्रभावित करने में निम्नलिखित रूपों में मानवीय कारक महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद के कतिपय सन्दर्भों[3] से सप्तसैन्धव प्रदेश की जन-संख्या घनत्व-दाब

---

१. पं० वि० ना० रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० २२८, २३०, २३४। श्री रा० सां०, ऋग्वैदिक आर्य, पृ० १४-१७।

२. 'मैन इज नॉट मियरली ए रेजीडेन्ट ऑफ दी अर्थ। ही इज ए बिल्डर एण्ड ज्योमार्फिक एजेन्ट, एन अर्थ चेन्जर।' (रसेल स्मिथ, इन्ड० एण्ड कामर्शियल ज्योग्रफी। एडी, पेज पेज ४७)।

३. ऋक्० ७/१८/१४ (अनु-द्रुह्यु के ६६०६६ वीर, ८,३४/१६ (सहस्र संख्यक आर्य), ४/३८/८, ६/३५/१, ६/२६/६ (आर्यों की जन-संख्या-सूचक मंत्र) २/१४/६, ७, १३, ४/३०/१५,२१. ६/२६/५,६ (अनार्यों की जनसंख्यासूचक मंत्र)।

आदि का अनुमान लगाया जा सकता है। इस आधार पर उत्तर तथा, द० प्र० सप्त-सैन्धव प्रदेश के पर्वतीय तथा दक्षिण के शुष्क मरुस्थलीय भूभाग की अपेक्षा मध्यवर्ती मैदानी क्षेत्र की जन-संख्या का घनत्व अधिक प्रतीत होता है। यही कारण है, मध्य के मैदानी भाग के सघन जनसंख्यायुक्त शक्तिशाली आर्यजनों (कबीलों) में से प्रमुख भरत अथवा तृत्सु जन के राजा दिवोदास तथा सुदास ने न केवल अनार्यों को, अपितु अनेक आर्य-कबीलों (यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वश आदि) को पराजित कर उनके क्षेत्र पर भी अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया था।

यद्यपि भूगोल के प्रमुख अंग भौतिक वातावरण (भूसंरचना, जलवायु, वनस्पति, जलाशय आदि) परिसमाप्त अथवा परिवर्तित करने में मानव किसी परिस्थिति में असहाय सा परिलक्षित होता है, तथापि उसने अपनी असीम शारीरिक एवं मानसिक क्षमता से प्राकृतिक वातावरण को अपने अनुकूल अवश्य बनाया है। ऋग्वैदिक सप्त-सैन्धव प्रदेशीय मानव ने भी प्राकृतिक वातावरण को अपनी क्रियाओं से परिवर्तित कर अनुकूल बनाने का यथासंभव प्रयास किया है। उदाहरणार्थ-प्राकृतिक दुर्गम स्थलों (नदी की उत्तुंग कगारों)[1] को काट-छाँट कर उसने युद्ध काल में संचार साधन-हेतु सुगम मार्ग भी बनाये थे। पर्वतीय क्षेत्रों की विषम शीत जलवायु के साथ ही जीवन रक्षा के लिये उसने लौह सदृश सुदृढ़ आयसी दुर्गों (पुरों)[2] की संरचना की, अगाध नदियों एवं समुद्रों के संतरण हेतु सेतु अथवा जंगी जहाजों की नौकाएँ[3] निर्मित की थीं।

सप्तसैन्धव प्रदेश के भूगोल को वहाँ के मानव-समूह ने अपनी विध्वंसात्मक अथवा अनार्थिक क्रियाओं से भी प्रभूत प्रभावित किया था। सघन वनों में विचरते अनेक प्रकार के जीवों को जहाँ चमड़े की विविध वस्तुओं के अतिरिक्त उदर-पूर्ति हेतु आखेट[4] द्वारा विनष्ट किया, वहीं काष्ठ-प्राप्ति के अतिरिक्त कृषि एवं पशुपालन के लिये मानव ने प्राकृतिक वनसम्पदा[5] का भी संहार किया।

प्राकृतिक जलाशयों के अभाव में सिंचाई आदि की आवश्यकता की दृष्टि में

१. ऋक्० ७/१८/१८।
२. वही, १/१६६/८, ७/१५/१४, २/१४/६, ४/३०/२०, ८/१००/८।
३. वही, १/११६/५, २/४२/१, ३/३२/१४, ५/५४/४ आदि।
४. वही, १/१२५/२, ३/४५/१, ३, ८/२/६।
५. वही, ४/१२/२, ८/७३/१७, १०/५५/८, ७/१०४/२१, ६/३३/३।

रखते हुये सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव ने कृत्रिम जलाशय 'खनित्रिम[1],' कुल्याएँ[2], मरुभूमि में प्यास बुझाने के लिये प्रपा[3] आदि भी निर्मित की थी। अवश्य, सुवर्ण (हिरण्य) जैसी धातुओं[4] का ऋग्वेद में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि मानव भूगर्भ से उत्खनन द्वारा प्राकृतिक खनिज प्राप्त कर लेता था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश के भूगोल के भौतिक, आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक, वाणिज्यिक, यौद्धिक आदि विविध अंगों को प्रभावित करने में वहाँ का मानवीय कारक पर्याप्त रूप से उत्तरदायी रहा।

सप्तसैन्धव प्रदेश के परिप्रेक्ष्य में 'भारतवर्ष' देश का मूल्यांकन

पुरातन ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश की स्थूल एवं सूक्ष्म समस्त विशेषताओं को दाय रूप में धारण करता हुआ ऋषिकल्प भारत देश अपने गौरवमय अतीत और उज्ज्वल भविष्य के लिए विश्व में उद्भासित हो रहा है। सप्तसैन्धव प्रदेश के भौतिक स्वरूप के कतिपय अपरिहार्य अंगों को 'भारतवर्ष' आज भी आत्मसात किये ऋग्वेद-कालीन स्वरूप की स्मृति उद्बुद्ध करता है। सप्तसैन्धव प्रदेश के हिमवन्त सदृश पर्वत, सिन्धु, सरयू, गोमती, सरस्वती, गंगा-यमुना जैसी नदियाँ, पूर्वा पर समुद्र आज भी किसी न किसी रूप में भारत-भूमि के अभिन्न भौतिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक अंग बने हुए हैं। आत्मशुद्धि के लिये आज भी भारतीय मानव सप्तसिन्धुओं का स्नान के समय स्मरण करता आ रहा है[5], भले ही ये सात सरिताएँ सप्तसैन्धव प्रदेश की सीमा लाँघकर समग्र भारत-भूमि से सम्बद्ध हों।

जहाँ सप्तसैन्धव प्रदेश को सिन्धु जैसी महिमामयी नदी से इस गौरवशाली देश का नामकरण विदेशियों द्वारा 'हिन्द,' 'हिन्दुस्तान,' 'इण्ड,' 'इण्डिया' हुआ, वहीं सरस्वती के आस-पास के प्रतापी भरतों के जन अथवा निरुक्त शास्त्रीय[6] दृष्टि से

---

१. वही, ७/४९/२। २. वही, १०/३६/७, ५/८३/८। ३. वही, १०/४/१,।
४. वही, ६/३/५, ८/९६/३, ८/२९/३, ६/७५/५, २/२०/८, २७/९, ५/३८/२।
५. "गंगश्च जमुनश्चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदा सिन्धु कावेरी, जलेऽस्मिन् सन्निधे कुरु।'
६. "भरणात् प्रजानांम्चैव मनुर्भरत उच्यते। निरुक्त वचनाच्चैव वर्ष तद् भारतं स्मृतम्। (वायु० ४५/७६, मत्स्य० ११४/५-६) मनु की परम्परा में ऋषभ के पुत्र पुत्र भरत (वायु० ३३/५२-५१, मार्क० ५३/३९-४० के अतिरिक्त दौष्यन्ति भरत, जिनकी प्रताप-महिमा शत० ब्रा० (१३/५/३/१३) में वर्णित है, सम्राट् के रूप में विख्यात है, जिनके नाम के आधार पर इस देश की नामोत्पत्ति मानी जाती है।

मनु की परम्परा में सम्राट् भरत के नाम के आधार पर इसको अभिधान मिला। इन्हीं सप्तसैन्धव प्रदेशीय भरतों की अधिष्ठात्री यज्ञाग्नि सम्बन्धी संस्कृति 'भारती' भी इस देश के साथ पुरातन काल से जीवन्त रूप में चली आ रही है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के बाहर पराक्रमी आर्यों के कालान्तर में प्रसार से विन्ध्य-हिमालय पर्वत के मध्य भारतवर्ष का उत्तरी भाग (उत्तरापथ) आर्यावर्त कहलाया, जिसका उ० पश्चिमी भाग सप्तसैन्धव प्रदेश से ही सम्बन्धित है। विन्ध्याचल पार कर दक्षिणापथ (द० भारत) में भी सप्तसैन्धव प्रदेश के कतिपय आर्य कबीले (यदु, अनु आदि) कालान्तर में आ बसे। इस प्रकार समस्त भारतवर्ष में उस ऋग्वैदिक आर्य संस्कृति की अमिट छाप पड़ी, जो सप्तसैन्धव प्रदेश में तपस्वी ऋषि-मुनियों की छत्र-छाया में पल्लवित-पुष्पित हुई थी।

सप्तसैन्धव प्रदेश की सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को आमूल रूप में भारत का सिन्धु-हिमालय पुरातन काल से धारण करता हुआ अपनी इसी अमर सांस्कृतिक निधि से विश्व में इसीलिये मूर्धन्य एवं धन्य माना जाता है कि अधिकांश विदेशी आक्रान्ता (यवन, हूण आदि) उसी उ० प० सीमान्त सिन्धु काँठे इस देश में प्रविष्ट हुए, जन-जीव को रक्तरंजित कर कुचलते हुए, किन्तु वे यहाँ की 'पुरातन भारती' संस्कृति को विनष्ट नहीं कर सके।

इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि भारत के भीतर सप्तसैन्धव प्रदेश की आत्मा 'भारती' संस्कृति सन्निहित है, भारतवर्ष के बाहर उसके भौतिक स्वरूप में सप्तसैन्धव प्रदेश का ही भौतिक एवं आत्मिक प्रतिबिम्ब झलकता है, जिसे हम तुरन्त पहचान लेंगे तथा इसका सम्यक् मूल्यांकन कर इसके महत्त्व को कभी विस्मृत नहीं कर सकते हैं।

उपसंहार

विश्व-वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थों में 'मुकुटमणिरूप' ऋग्वेद में मनोहारिणी-प्रकृति के हृदयावर्जक दृश्यों की भावपूर्ण वर्णना में धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक विविध गूढ़-तत्त्वों को भी प्रभविष्णु व्यंजना हुई है। इसमें स्पष्ट रूप से हिमालय के अतिरिक्त पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों के साथ ही सरस्वती नदी का उल्लेख होने से भूगर्भशास्त्रीय एवं भौगोलिक तथ्यों के अनुसार कतिपय मंत्रों की रचना का समय ६५०० वर्ष ई०पू० से भी पूर्व मानना समीचीन है, जबकि सरस्वती एवं दक्षिणी समुद्र के अस्तित्व-लोप से सम्बन्धित भौगोलिक तथ्यों के आधार पर ऋग्वेद मंत्र-रचना की सामान्यतः काल-सीमा ६५०० वर्ष ई०पू० से ३००० वर्ष ई०पू० तक स्वीकार करना सर्वथा संगत प्रतीत होता है, क्योंकि यह निर्विवाद है कि ऋग्वेद के मन्त्रों का प्रणयन न तो किसी एक ऋषि अथवा ऋषिकुल द्वारा न एक समय में और न एक स्थान में ही हुआ था।

आर्यों के मूल-निवास-निर्धारण के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर का मध्य-एशियाविषयक मत, डॉ० माइल्स एवं क्यूनो का योरोपविषयक मत तथा श्री तिलक का उत्तरी ध्रुवविषयक मत ठोस तथ्यों की अपेक्षा काल्पनिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित होने के कारण समीचीन प्रतीत नहीं होता है। ऋग्वेद में विद्यमान अनेक संगत भौगोलिक तथ्य (धरातलीय संरचना एवं प्रवाह-प्रणाली में निश्चित नदियाँ) सप्तसैन्धव प्रदेश को ही आर्यों की आदि-निवास-भूमि सिद्ध करते हैं। कालान्तर में पूर्वी समुद्र के विलुप्त हो जाने पर सप्तसैन्धव प्रदेश से समस्त उत्तरापथ (विन्ध्याचल से लेकर हिमालय पर्वत तक) तक आर्यों का प्रसार होने पर इसे आर्यावर्त्त कहा जाने लगा, जो इसी सप्तसैन्धव प्रदेश का बृहत्तर रूप है।

ऋग्वेद में समुपलब्ध भौगोलिक सन्दर्भों के अन्तर्गत उल्लिखित अनेक नदियों में सात प्रधान नदियाँ (सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश, शुतुद्रि, सरस्वती) ही आलोच्य-विषय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण भौगोलिक कारक मानी जा सकती हैं, क्योंकि इनके आस-पास के भू-भाग (बेसिन) से सप्तसैन्धव प्रदेश को यह अभिधान प्राप्त हुआ। इन सात नदियों के भौगोलिक वैशिष्ट्ययुक्त इस ऋग्वैदिक देश का नामकरण कालान्तर में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि गढ़वाल में गंगा के उद्गम की सात नदियों के बोध के अतिरिक्त ईरान में पारसियों के अवेस्ता जैसे प्राचीन

धर्मग्रन्थ में 'हप्त हिन्दु' रूप से नेपाल में सप्तकोसी अथवा सात सरिताओं के क्षेत्र से तथा मध्य एशिया में 'इलिबु' अथवा सेमि-रेच्ये (सात नदियों का प्रदेश) रूप से व्यवहृत हुआ है।

सप्तसैन्धव प्रदेश के उत्तर-पश्चिम सीमान्त भाग की सुवास्तु, कुभा, क्रुमु आदि छोटी नदियों का तथा पूर्व में यमुना-गंगा का उल्लेख ऋग्वेद में होने के कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पश्चिम में ७०° पूर्वी देशान्तर से ७८° पूर्वी देशान्तर तक तथा ३६° उत्तरी अक्षांश से २८° उत्तरी अक्षांश तक के भू-भाग में ऋग्वैदिक सप्तसैन्धव प्रदेश का भौगोलिक विस्तार था। इसकी भौगोलिक सीमा उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में हिमालय की विशाल शृंखलाओं के साथ दक्षिण में सारस्वत, पूर्व में अर्वावत तथा पश्चिम में स्थलीय पहाड़ी भाग के अतिरिक्त परावत समुद्र से नैसर्गिक रूप में सुरक्षित थी।

ऋग्वेद के सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु सामान्यतः शीतप्रधान थी। ऋग्वेद में वर्णित तीन प्रधान ऋतुएँ सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि षड्-ऋतुओं का विस्तृत विभाजन परवर्ती वैदिक साहित्य (अथर्व वेद) में किया गया है, तथापि ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत तीन प्रधान ऋतुओं का प्रभाव ऋग्वेद में वर्णित प्राकृतिक वनस्पति, जीव-जन्तुओं आदि पर परिलक्षित होता है।

सप्तसैन्धव प्रदेश की घनघोर एवं व्यापक वृष्टि ने वहाँ की वनस्पति को अत्यन्त प्रभावित किया है। जलवायु तथा भौमिक संरचना को दृष्टि में रखते हुये वनस्पति को क्षेत्रीय आधार पर (सर्वाधिक वर्षा-प्राप्त सदाबहार मानसूनी वन, मध्यम वर्षा-प्राप्त पतझड़ वाले मानसूनी-वृक्ष, अल्पवर्षा-प्राप्त लम्बी घास तथा झाड़ियों वाले क्षेत्र तथा पर्वतीय एवं अवर्षायुक्त मरुस्थलीय वनस्पति) चार भागों में तथा स्वरूप के आधार पर (वृक्ष, तृण, ओषधि या लताएँ) तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वृक्षों में खदिर, पर्ण, विभीदक आदि लताओं में उर्वारु, व्यल्कशा, सोम आदि तथा तृणों में उलप, शाद, सैर्य, सस आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। सोम को ऋग्वेद की वनस्पति में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है जिसे बाह्य स्वरूप से भले ही रिचर्ड वासन द्वारा गवेषित कवक जातीय 'अमानिता मस्कारिया' (फ्लाई ऐगेरिक) अथवा पौरस्त्य विद्वानों द्वारा भांग से अभिन्न माना गया हो, किन्तु अब भी इसका किसी वनस्पति से स्वरूप एवं गुणों के आधार पर सुनिश्चित समीकरण संभव नहीं प्रतीत होता है।

जीव-जन्तुओं में लोपाश, वृषाकपि, कंकट, कशीका, प्लुषि, अजकाव आदि के

[illegible] के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋषियों का शीत-वायु-विषयक ज्ञान [illegible] और [illegible] था तथा सप्तसैन्धव प्रदेश की जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति इनके सर्वथा अनुकूल रही थी।

प्राय: आग्नेय शिलाओं अथवा शैल-निक्षेपों से अयस् (लोहा, ताँबा या कांसा) और हिरण्य (स्वर्ण) जैसी खनिज धातुएँ एवं मणि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएँ, [illegible] के पर्वतीय क्षेत्र से प्राप्त की जाती थीं।

सप्तसैन्धव प्रदेश में प्राकृतिक स्थलीय संरचना विभिन्न वैविध्ययुक्त दृष्टिगत होती है, क्योंकि जहाँ इसके उत्तर एवं पश्चिमोत्तर में हिमवन्त (बृहद् पर्वत), मूजवंत, आर्जीक, शर्यणावत्, सुसोम (सुषोम) जैसी हिममंडित उत्तुंग पर्वतीय शृंखलायें थी, वहीं [illegible] पर्वतीय गह्वर एवं उपत्यकाएँ भी थी, जहाँ लम्बे समतल हरित मैदान थे, वहीं नदियों की ऊँची कगारों एवं कछारों की कटी-फटी भूमि विद्यमान थी। सप्तसैन्धव प्रदेश की उत्कृष्ट एवं पुरातन आर्य-संस्कृति भी इसके उक्त मैदानी भू-भाग की ही अमर देन है जो सिन्धु, सरस्वती आदि नदियों की प्रभावी प्रवाह-प्रणाली द्वारा बहा कर लाई हुई मिट्टी से ही निर्मित हुआ था।

सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रवाह प्रणाली में सात प्रमुख नदियों के अतिरिक्त [illegible] (आस्कर), अनतिभा (सिन्धु की सहायक), सुसर्तु (सुरु), रसा (क्योक), श्वेती (काब्डिया), गौरी (पंजकोरा), आर्जकीया (हारो), श्वेत्यावरी (कोहात-तोई), हरियूपीया (इर्याब), सरयु (हरिरुद), कुभा (कुनार), [illegible] (वितस्ता), [illegible] (राक्सी), अक्षरा (लिन्धा), असुनीता (त्रई) आदि छोटी नदियों का भी उल्लेख हुआ है, जिन्हे दृष्टि में रखते हुये प्रवाह-प्रणाली को तीन वर्गों (सिन्धु प्रवाह-प्रणाली, सरस्वती तथा गंगा-यमुना प्रवाह-प्रणाली) में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु इनमें सिन्धु तथा सरस्वती भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। सिन्धु, जहाँ ऋग्वेदिक आर्यों की निवास भूमि के नामकरण में विदेशियों द्वारा 'हिन्दु,' 'इण्ड' जैसे नामों से व्यवहृत हुई वहाँ सरस्वती ने भी अपने आस-पास आर्यों की सर्वाधिक प्रतापी शाखा भरतों की अखंड प्रभुसत्ता के आधार पर इस भावी [illegible] देश को 'भारत' नाम देकर ऋषियों की सारस्वत साधना के साथ ही [illegible] अभ्युदय को ही आधार प्रदान किया है।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय विषद जल-मण्डलीय स्वरूप के अन्तर्गत पूर्व में [illegible], पश्चिम के परावत् तथा दक्षिण के सारस्वत समुद्रों में मानवीय समृद्ध [illegible] जीवन के साथ ही उसके तीन-चार मास के अखण्ड-वृष्टि-संस्थान को भी प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया है।

सप्तसैन्धव प्रदेशीय मानव-खान-पान के अन्तर्गत धाना, करम्भ, अपूप, यवाशिर, सोम आदि के उल्लेख को दृष्टि में रखते हुये यह सुनिश्चित रूप में कहा जा सकता है कि खाद्यान्नों में जव (यव) तथा यव-मिश्रित दूध-दही के अशिर के अतिरिक्त पेयों में सुरा की अपेक्षा स्वास्थ्यप्रद सोम की ही प्रधानता थी। व्रीहि (चावल) उत्पन्न न होने के कारण खीर जैसा 'क्षीरपाक' भी यव से ही तैयार होता था। अज, अवि, महिष, अश्व आदि पशुओं के मांस के अतिरिक्त पिप्पल, उदुम्बर, उर्वारुक जैसे स्वादिष्ट फलों का भी प्रयोग भोजन में प्रचलित था। यद्यपि गो-घातक स्थान 'सूना' के साथ ही तलवार से गाय काटने का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है, तथापि उसका वध अथवा मांस-भक्षण सामान्यतया निन्द्य माना जाता था, क्योंकि गाय के प्रति समाज में पूज्य भावना उत्पन्न हो गयी थी।

भौगोलिक दशाओं (ऋतुओं) के अनुकूल ही सप्तसैन्धव प्रदेश का सुसंस्कृत मानव अजिन, मल (वल्कल), अधिवास (भेड़ की खाल अथवा बाल से निर्मित वस्त्र), अधिवास अथवा अधोवस्त्र में स्यूत (सिले हुये), व्युत (बुने हुये), द्रापि (उत्तरीय जैसा प्रचारक), अत्क (लबादे जैसा मोटा वस्त्र), शिप्र (उष्णीष) आदि अनुकूल विशिष्ट वस्त्रों के साथ ही खादि (कंकण), कर्णशोभन, ओपश (तिलक या शिरोभूषण), रुक्म, निष्क आदि आभूषणों को भी धारण करता था।

जलवायु अथवा प्राकृतिक वातावरण को ध्यान में रख कर आवासीय व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक कोष्ठों वाले विशाल 'हर्म्य', पत्थर के पक्के आवास 'पुर' (दुर्ग), छतों से बन्द गृह 'छर्दिस्', पशुओं के बाँधने वाले गोष्ठ (घर) आदि के अतिरिक्त सहस्र द्वारों एवं सहस्र खम्भों वाले विशाल भवन ऋग्वेदकालीन सप्तसैन्धव प्रदेश की विकसित वास्तुकला की सशक्त व्याख्या करते हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश की सम्पन्न प्राकृतिक वनस्पति, जलाशयों की प्रचुरता, अनुकूल सम-शीतोष्ण जलवायु आदि भौगोलिक कारण (कारक), पशु-पालन, आखेट, कृषि आदि प्रमुख आजीविकाओं के अतिरिक्त मत्स्योद्योग चर्मोद्योग, धातु-काष्ठोद्योग, वास्तुशिल्प, व्यापार आदि धन्धों में प्रवृत्त कर आर्थिक समृद्धि संवर्धित करने में सहायक सिद्ध हुये हैं, जिससे रुक्मवक्ष एवं निष्कग्रीव आर्य सौ, सहस्र अथवा दस सहस्र (गायों या स्वर्णादि द्रव्य) का दान देने में समर्थ थे। यद्यपि अर्थोपार्जन में सामान्यतः श्रमपूर्ण आजीविका ही समादृत थी तथापि भिक्षाटन द्यूत-क्रीड़ा, दस्यु-वृत्ति आदि निम्न कर्मों से अर्थलाभ करने वालों का भी समाज में अभाव नहीं था।

सप्तसैन्धव प्रदेश की मानवीय धार्मिक क्रियायें (यज्ञ, हवन, दानव्रत आदि), उपासना (देवता या प्राकृतिक शक्तियाँ इन्द्र, वरुण, मरुत, सूर्य, अरण्य, नदी आदि),

दर्शन (एकेश्वरवाद या बहुदेवतावाद), ज्ञान-विज्ञान (लोक-परलोक, ग्रह-नक्षत्र, काल-निर्धारण आदि), आमोद-प्रमोद के साधन (पान-गोष्ठी, द्यूत-क्रीड़ा या रथ-दौड़, नृत्य), सामान्य रीति-रिवाज (सामाजिक परंपरायें शकुन, जादू-टोना आदि) समय-समय पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु आदि भौगोलिक कारकों से प्रभावित परिलक्षित होते हैं। सप्तसैन्धव प्रदेश का सांस्कृतिक भूगोल सामान्यतः भौतिक भूगोल की पृष्ठ-भूमि पर आधारित मानवीय समायोजनात्मक एवं समन्वित प्रयास के परिणामस्वरूप आदि भौतिक एवम् आध्यात्मिक उत्कर्ष की वैज्ञानिक व्याख्या करता ही है। इसके साथ ही सदाचरणशील मानव के उदात्त सुरुचिपूर्ण जीवन के उज्ज्वल पक्ष को प्रस्तुत करके आर्य संस्कृति को विश्व-संस्कृतियों में मूर्धन्य स्थान पर भी पहुँचाता है।

ऋग्वैदिक राज्य-व्यवस्था विभिन्न भौगोलिक दशाओं एवं जन-संख्या के वितरण के आधार पर कुल ग्राम, पुर, विश्, व्रज, जन, राष्ट्र जैसे स्वायत्त एवं सापेक्ष इकाइयों मे विभाजित होकर कुलप, ग्रामणी, पौर, विश्पति, व्रजपति, राजा (सम्राट्) के अतिरिक्त पुरोहित, सेनानी (सारथी) जैसे राज्याधिकारियों द्वारा संचालित होती थी। राज्य-व्यवस्था का न केवल बाह्य स्वरूप ही, अपितु आन्तरिक इसकी प्रकृति (कार्य-प्रणाली) भी इन भौगोलिक कारकों से प्रभावित हुई है, क्योंकि अधिकांश जन-संख्या ग्रामों में रहने के कारण बलि (कर) का प्रमुख स्रोत ये ग्राम ही थे और जनों या राष्ट्र के शासक राजा की समस्त राज्य-व्यवस्था जन-युगीन अर्थतन्त्र के आधारस्तम्भ इन ग्रामों पर ही अवलम्बित रहती थी। सप्तसैन्धव प्रदेश के राजनैतिक भूगोल में आर्यों से संबंधित पुरु, यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलिन, विषाणिन् जनों (कबीलों) के अतिरिक्त पञ्च, क्रिवि, वैकर्ण, पर्शु, पारावत, वृचीवंत, सृञ्जय, मत्स्य, चेदि जनों तथा अनार्यों के कबीलों से संबंधित गंगा यमुना के बीच के यक्षु, अज, शिग्रु आदि के साथ ही दास, दस्यु, पणि जैसे उत्तर एवं पूर्व के कबीलों की संघर्षपूर्ण गति-विधियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। प्रतीत होता है कि युद्धोपरान्त सामाजिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आर्यों द्वारा सप्तसैन्धव प्रदेश से बहिष्कृत पणियों द्वारा वाणिज्य के व्याज से समुद्री नौकाओं से बाहर के द्वीपों एवं पश्चिमी भू-भागों (वर्तमान ईरान, सीरिया, बेबिलोनिया आदि) में उपनिवेश बसा कर आर्य-संस्कृति एवं सभ्यता को ही प्रकारान्तर से प्रचारित एवं प्रसारित किया गया था।

राजनैतिक पृष्ठभूमि पर सप्तसैन्धव प्रदेश के आर्य-अनार्य तथा आर्यों में परस्पर होने वाले दाशराज्ञ जैसे गृह-युद्ध पर भी भौगोलिक वातावरण का पूर्णतया प्रभाव पड़ा था जिसमें स्थलीय (पर्वतीय) संरचना ने शम्बर आदि दासों को दुर्ग की भाँति प्राकृतिक शरण देकर चालीस वर्ष तक युद्ध-रत रहने की शक्ति दी थी तथा सिन्धु,

सुतुद्रि, परुष्णी जैसी नदियों के गहरे प्रवाह ने तृत्सुओं के शत्रुओं के आक्रामक अभियान में अवरोध उत्पन्न कर दिया था।

ऋग्वैदिक संस्कृति को समृद्ध करने में सप्तसैन्धव प्रदेश के जिन विस्तृत क्षेत्रों एवं विविध भौगोलिक स्थलों के क्रियाशील मानव का महत्वपूर्ण योगदान रहा, उनमें कीकट, गंगु, रुशम, वैतसु के अतिरिक्त उदव्रज, नैचाशाख, दशव्रज, गौशर्य, अर्बरेश के अतिरिक्त ऋषियों के आश्रमों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भरद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव आदि ऋषियों की ऋचायें सप्तसैन्धव प्रदेश के सांस्कृतिक भूगोल को ज्ञात करने में अत्यंत उपयोगी है, जबकि सिन्धुक्षित् (प्रियमेधपुत्र) तथा श्यावाश्व जैसे ऋषियों की ऋचायें सांस्कृतिक भूगोल के साथ ही भौतिक भूगोल को भी जानने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

सप्तसैन्धव प्रदेश की भौतिक संरचना में जो महान् भौगोलिक-परिवर्तन कालान्तर में हुए, उसके प्रथम चरण मे होने वाले परिवर्तनों के स्पष्ट संकेत ऋग्वेद (२/१२/२) में मिलते हैं, जिसके अनुसार मध्य हिमालय ही भूकम्पग्रस्त अस्थिर क्षेत्र था, जहाँ सिस्मोग्राफिक भूगर्भीय तरंगों के प्रभावी होने के कारण यह भू-भाग ऊँचा उठा, जिसके परिणामस्वरूप उद्गम के दक्षिण को प्रवाहित होने वाली सिन्धु उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगी (ऋग्वेद, २/१५/६)। प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल से ब्राह्मणकाल के मध्य में सप्तसैन्धव प्रदेश का दक्षिणी सारस्वत समुद्र इसी भू-गर्भिक उन्मज्जनात्मक शक्ति से प्रभावित होने के कारण शिवाली पेंदी सहित ऊपर आ गया और इसकी विशाल जल-राशि जल-प्लावन के रूप में दक्षिण से उत्तर को बह चली कि मनु की विशाल नौका उत्तरगिरि (हिमालय) के 'त्रिककुद' नामक ऊँचे शृंग पर रुक सकी थी, जिसे शतपथ ब्राह्मण (१/८/१) मे 'मनोरवसर्पण' कहा गया है। सिन्धु, सरस्वती आदि प्रमुख नदियो द्वारा अपरदन (Erocion) क्रिया से विशाल बालुकाराशि के साथ पत्थर, कंकड, मिट्टी आदि से निरंतर आपूरित होने के कारण कालान्तर में ये पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी समुद्र भी विलुप्त हो गये जिससे इस क्षेत्र की सम-शीतोष्ण जलवायु और तीन चार माह की वृष्टि के साथ ही सघन वनस्पति भी परिवर्तित हो गयी।

इन युगान्तरकारी परिवर्तनों से सप्तसैन्धव प्रदेश का जन-जीवन भी सर्वथा विनष्ट होने से नही बच सका था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के पुरातन ध्वंसावशेष, जिन्हें पुरातत्वशास्त्रियों ने खुदाइयों के परिणामस्वरूप आर्येतर अनार्यों की विकसित बस्तियों (नगरों) से संबंधित किया है। प्रतीत होता है, सारस्वत समुद्रतटीय अनार्य पणियों की ही समृद्ध बस्तियां थी जो भयंकर जल-प्लावन से लुप्तप्राय हो गयी थीं।

उद्यान, दक्ष-ग्राम, मैत्रायण आदि अनेक नगरों के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय उच्च सांस्कृतिक (नागरिक) जीवन का अभाव नहीं था। जिन पाश्चात्य विद्वानों के भ्रामक मतों के आधार पर श्री राहुल सांकृत्यायन आदि भारतीय विद्वानों ने ऋग्वैदिक आर्य संस्कृति को 'ग्राम्य' अथवा मात्र 'घुमन्तु-पशुपालकों' की संस्कृति मान कर उसमें नगरों का न होना सिद्ध किया है, ऋग्वेद के सन्दर्भों के आधार पर इस तथ्य को सर्वथा असंगत एवं निराधार कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सप्तसैन्धव प्रदेश से संबंधित राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान की ऋग्वेद में अत्यन्त गम्भीर अभिव्यंजना हुई है। इनमें भौगोलिक ज्ञान तो वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण ऋषियों की असाधारण मौलिक उद्भावना ही है। इस उत्कृष्ट भौगोलिक ज्ञान का परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी प्रभाव सर्वथा परिलक्षित होता है। जहाँ ऋग्वेद में उल्लिखित ऋतुओं, प्राकृतिक वनस्पति, हिमालयादि भौमिक स्वरूपों के साथ ही मानवीय भूगोल से संबंधित विविध सामग्री को परवर्ती वैदिक साहित्य में अथर्व वेद जैसी संहिताओं, शतपथ जैसे महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ ने मूलतः ग्रहण किया है, वहाँ वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत के अतिरिक्त विशाल पौराणिक साहित्य में भी नदीसूक्त में उल्लिखित प्रमुख नदियों के साथ ही आर्य और अनार्यों के कबीलों से संबंधित वंशजों की गाथाओं की भी विस्तारपूर्वक वर्णना की है। परवर्ती लौकिक संस्कृत-महाकाव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण (वन, नदी, ऋतु-वर्णन) युद्ध-वर्णन आदि सन्दर्भों में यह भौगोलिक ज्ञान संस्काररूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। इन परवर्ती कवियों में मूर्धन्य कवि-कुल-गुरु कालिदास का गम्भीर भौगोलिक ज्ञान इस ऋग्वैदिक एवं पौराणिक, भौगोलिक ज्ञान से पूर्ण प्रभावित परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ-हिमालय-वर्णन-प्रसंग में 'पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य' में ऋग्वेदकालीन हिमालय शृंखलाओं के साथ ही पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का स्मरणार्थ स्पष्ट संकेत किया गया है। सप्तसैन्धव प्रदेश के भौगोलिक वैशिष्ट्यपूर्ण भौतिक रूपों (पर्वत, नदियों आदि) के अतिरिक्त यहाँ के मूल सांस्कृतिक उपादानों को अविकल रूप में ग्रहण करने के कारण ही 'भारतवर्ष' पुरातन देश के रूप में गौरवान्वित है।

अन्त में, भौगोलिक अध्ययन के अतिरिक्त जिज्ञासु अनुसंधानकों को इस पुरातन देश को प्रकाश में लाने के लिये पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि विविध पक्षों से संबंधित अनुसंधानात्मक अध्ययन करने के लिये यदि नवीन दिशा एवं प्रेरणा इस शोधप्रबन्ध से प्राप्त होती है तो यह समझा जा सकेगा कि सप्तसैन्धव प्रदेश के भूगोल से संबंधित अन्वेषण की यह मौलिक उद्भावना सार्थक ही है। इत्यलम्।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

आधार-ग्रन्थ

१. ऋग्वेद (१ से ४ भाग), सम्पादक, मैक्समूलर, चौखम्बा सं० सि०, वाराणसी ।
२. ऋग्वेद, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १८९० ।
३. ऋग्वेद, पं० दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी, प्र० संस्करण ।
४. ऋग्वेद (१ से ४ भाग) तिलक विद्यापीठ, पूना, प्र० सं० ।
५. ऋग्वेद, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, सुलतानगंज (भागलपुर), सं० २००० वि० ।
६. ऋग्वेद (१ से ४ भाग), पं० श्रीराम शर्मा, बरेली, प्र० सं० ।
७. ऋग्वेद, ग्लासर, प्र० सं० ।
८. अथर्ववेद, परोपकारिणी सभा, अजमेर, षष्ठ सं०, २००१ वि० ।
९. अथर्ववेद, चौ० सं० सि० वाराणसी, प्र० सं० ।
१०. शुक्ल यजुर्वेद, दौलतराम गौड़, वाराणसी, प्र० संस्करण ।
११. काठक संहिता, भारत मुद्रणालय, औंध, सं० १९९९ वि० ।
१२. वाजसनेयि संहिता, काशी सं० सि०, बनारस, प्र० सं० ।
१३. तैत्तिरीय संहिता, आनन्दाश्रम, पूना, १९०२ ई० ।
१४ मैत्रायणी संहिता, श्रोडर, अनु० ए० बी० कीथ, कैम्ब्रिज यूनि०, १९१४ ई० ।
१५. ऐतरेय ब्राह्मण, काशीनाथ विनायक आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १९३१ ई० ।
१६. शतपथ ब्राह्मण, बंशीधर अवस्थी, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९९७ वि० ।
१७. जैमिनीय ब्राह्मण, डॉ० रघुवीर तथा डॉ० लोकेश चन्द्र, नागपुर, १९५४ ई० ।
१८. तैत्तिरीय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम पूना, १८९८ ई० ।
१९. शांखायन ब्राह्मण, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८ ई० ।
२० ताण्ड्य ब्राह्मण (१ तथा २ भाग), चौ० सं० सि०, वाराणसी, प्र० सं० ।
२१. पंचविंश, आनन्दाश्रम पूना, प्र० सं० ।
२२. कौषीतकि ब्राह्मण, डॉ० [illegible] शास्त्री, वाराणसी, प्र० सं० ।
२३. तैत्तिरीय आरण्यक, पूना, संस्करण प्रथम ।
२४. शौनकीय बृहद्देवता, डॉ० रामकुमार राय, चौ० सं० सी० वाराणसी, प्र० सं० ।
२५. लाट्यायन श्रौत सूत्र, पूना, प्र० सं० ।

२६. आश्वलायन श्रौत सूत्र, पूना, १६४० ई०, प्र० सं० ।
२७. सांख्यायन श्रौत सूत्र, नागपुर, १६५३ ई० ।
२८. आश्वलायन गृह्य सूत्र, पूना, १६३६ ।
२६. बृहदारण्यक उपनिषद्, पं० श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १६६३ ।
३०. छान्दोग्योपनिषद्, वही तथा गीता प्रेस, गोरखपुर ।
३१. वायु पुराण, हरि नारायण आप्टे, आनन्दाश्रम पूना, १६०५ ई० ।
३२. विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं०
३३. ब्रह्माण्ड पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६६३ वि० ।
३४. ब्रह्म पुराण, आनन्दाश्रम, पूना, १८८५ ।
३५. स्कन्दपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई प्र० सं० ।
३६. मत्स्यपुराण, हरिनारायण आप्टे, पूना, १६०७ ई० ।
३७ श्रीमद्भागवत पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृ० सं० ।
३८. मार्कण्डेय पुराण, सं० पार्जीटर तथा पंचाननतर्करत्न, कलकत्ता, १८१२ वि० ।
३६. वामनपुराण, गंगासागर राम एवं शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला काशी, प्र० सं० ।
४०. हरिवंश पुराण, आनन्दाश्रम, पूना, १६०७ ई० ।
४१ अग्निपुराण, हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम पूना, १६०० ई० ।
४२. वाल्मीकीय रामायण, द्वा० प्र० चतुर्वेदी, इलाहाबाद, प्र० सं० ।
४३. वाल्मीकीय रामायण, निर्णयसागर, शक, १८३० ।
४४. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं०तथा नि०सागर, बम्बई, १६१४ ई० ।
४५. निरुक्त, यास्क, स० देवराज, कलकत्ता, १६५६ ई० ।
४६. अष्टाध्यायी, पाणिनि, प० बालकृष्ण पंचूली, चौ० सं० सी० प्र० सं० ।
४७. कौटलीय अर्थशास्त्र गयाप्रसाद शास्त्री, बनारस, १६५६ ।
४८. मनुस्मृति, पं० जनार्दन झा, कलकत्ता, १६५४ ई०, सप्तम सं० ।
४६. रघुवंश, निर्णय सागर, बम्बई, तृ० सं० ।
५०. मेघदूत, के० बी० पाठक, पूना, १६३० ई० ।
५१. कुमार संभव, पं० सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, तृ० सं० ।
५२. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालिदास, चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी ।
५३. मालविकाग्निमित्रम्, चौ० सं० सी०, वाराणसी, सं० १८१२ वि० ।
५४. कादम्बरी, बाणभट्ट, सं० डॉ० पी० वी० काणे, बम्बई, तृ० सं० १६२१ ई० ।
५५. ऋग्वेद भाष्य भूमिका, सायणाचार्य, सं० जगन्नाथ पाठक, चौ० वारा०प्र०सं० ।
५६. महर्षि कुलवैभवम्, प० मधुसूदन ओझा, जोधपुर, २०१८ वि० ।

५७. जेन्द अवेस्ता, थर्ड वाल्यूम, अंग्रेजी अनुवाद, जे० डारमेस्टेटर हेपक एल० एच० मिल्स, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, प्रथम सं० ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

५८. आर्यों का आदि निवास, मध्य हिमालय, भजनसिंह, इलाहाबाद, १९६८ ई० ।
५९. आर्यों का आदि देश, डॉ० सम्पूर्णानन्द, इलाहाबाद, २०१० वि० ।
६०. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९५७ ई० ।
६१. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, दिल्ली, १९६७ ।
६२. अथर्व वेद का अनुवाद, ह्विटने, प्र० सं० ।
६३. वैदिक सम्पत्ति, रघुनन्दन शर्मा, प्र० सं० ।
६४. वेदकाल निर्णय, दीनानाथ शास्त्री चुलैट, प्र० सं० ।
६५. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, स्वामी दयानन्द सरस्वती, प्र० सं० ।
६६. ऋग्वैदिक इतिहास, हरिराम धस्माना, लखनऊ १९५४ ।
६७. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पं० बलदेव उपाध्याय, काशी, तृ० सं० ।
६८. वेद धरातल, गिरीशचन्द्र अवस्थी, लखनऊ, सं० २०१० वि० ।
६९. ऋग्वेद के सूक्त, ग्रिफिथ तथा एफ० मैक्समूलर, चौ० सं० सि० प्र० सं० ।
७०. अथर्ववेद के सूक्त, ब्लूम फील्ड, प्र० सं० ।
७१. हिम्स आफ द अथर्ववेद, पी० एच० ग्रिफिथ, चौ० १९६८ ।
७२. वैदिक विज्ञान, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वाराणसी प्र० सं० ।
७३. भारतीय वास्तुकला इतिहास, कृष्णदत्त वाजपेयी, लखनऊ, १९७२ ।
७४. पहला राजा, जगदीश चन्द्र माथुर, दिल्ली, १९७१ ।
७५ विश्वरथ (पूर्व पीठिका), के० एम० मुन्शी, दिल्ली, प्र० सं० ।
७६. कला और संस्कृति, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, द्वि० सं० ।
७७ हिन्दू सभ्यता, आर० के० मुकर्जी, अनु० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली, १९६६ ।
७८. भारतीय ज्योतिष् शास्त्र, श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित, पूना १८९६ ई० ।
७९. भौतिक भूगोल के तत्व, डॉ० सी० बी० मामोरिया, आगरा, १९७२ ।
८०. भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, जयचन्द्र विद्यालंकार, लाहौर, १९८२ ।
८१. प्राचीन भारत, डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, दिल्ली, १९६२ ई० ।
८२. भारतीय भू-तत्त्व की भूमिका, डॉ० एम० एस० कृष्णन्, मद्रास, १९५५ ।

८३. भारत भूमि और उसके निवासी, जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, प्र० सं० ।
८४. भारतवर्ष का भूगोल, रामनारायण मिश्र, प्रयाग, १९६० ।
८५. कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान, डॉ० कैलाशनाथ द्विवेदी, कानपुर, १९६९ (साहित्य निकेतन, प्र० सं०) ।
८६. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, डॉ० बी० सी० लाहा, लखनऊ, १९७२
८७. पाणिनकालीन भारतवर्ष, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, चौ० द्वि० सं० ।
८८. ऐन्शियंट इंडिया, रैप्सन, कलकत्ता, १९०७ ई० ।
८९. आर्कटिक होम इन द वेदाज, बाल गंगाधर तिलक, पूना, प्र० सं० ।
९०. ओरोयन, बालगंगाधर तिलक, प्र० सं० ।
९१. फारेन नोटिसेज आफ सदर्न इंडिया, पं० नीलकंठ शर्मा, प्र० सं० ।
९२. ए हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियंट संस्कृत लिटरेचर, एफ० मैक्समूलर, सं० एस० एन० शास्त्री ।
९३. ए हिस्ट्री ऑफ वैदिक लिटरेचर, एस० एन० शर्मा, वाराणसी, प्र० सं० ।
९४. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, मैक्डानेल, सेकण्ड एडीशन ।
९५. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वेबर, द्वि० सं०, अनु० जौन मैन ऐण्ड थ्योडर, वाराणसी ।
९६. ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम फर्स्ट, विण्टर नित्ज, अनु० रामचन्द्र पाण्डेय, दिल्ली, १९६६ ।
९७. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, डॉ० रामजी उपाध्याय, इलाहाबाद, १९६६ ।
९८. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वही, इलाहाबाद, १९६२ ।
९९. ऐन्शियंट इंडिया, आर० सी० मजूमदार, बनारस, १९५२ ई० ।
१००. ऋग्वैदिक इंडिया, वा० फर्स्ट, डॉ० ए० सी० दास, कलकत्ता, १९२२ ई० ।
१०१. ऋग्वैदिक कल्चर, डॉ० ए० सी० दास, कलकत्ता, फर्स्ट एडीशन ।
१०२. ओरिजिन्स ऑफ द आर्यन्स, टेलर फर्स्ट, लन्दन, १८८९ ।
१०३. द ओरजिन ऑफ अर्थ, डब्लू० एम० स्मार्ट, फर्स्ट एडीशन ।
१०४. बायोग्राफी ऑफ अर्थ, जी० गैमो, प्र० सं० ।
१०५. ज्योलाजी ऑफ इंडिया, वाडिया, १९१९, प्र० सं० तथा १९५६ सं० ।
१०६ मेम्वायर्स ऑफ ज्योलाजिकल सर्वे आव इंडिया, वा० XLII ।
१०७. आउटलाइन्स ऑफ हिस्ट्री, एच० जी० वेल्स, फर्स्ट एडी० ।
१०८. ज्योलाजी ऑफ इंडिया एण्ड बर्मा, एम० एस० कृष्णन्, मद्रास, १९५५ ।

१०९. मैनुअल आव ज्योलाजी ऑफ इंडिया, मैडिलीकाट ऐण्ड ब्लेनफोर्ड, १८८१ ।
११०. मैनुअल ऑफ इंडियन ज्योलाजी, डॉ० वाइटलिंग प्र० सं० ।
१११. मैनुअल ऑफ ज्योलाजी, डाना, १८६३ ई० ।
११२. द वैदिक एज, के० एम० मुन्शी, बाम्बे, फर्स्ट एडीशन ।
११३. वैदिक इंडिया, वी० ए० रैगोजिन, १८९५ ।
११४. द बाइबिल इन इंडिया, एम० लुर्ई जैकवलियेट, प्र० सं० ।
११५. संस्कृत टेक्स्ट्स, मुईर १८७१ ।
११६. ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, मुईर तथा राथ, प्र० सं० ।
११७. इंडिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, हापकिन्स, फर्स्ट एडीशन ।
११८. वैदिक इण्डेक्स, वाल्यूम १ व २, मैक्डानेल एवं कीथ, अनु० राम० कु० राय, वाराणसी ।
११९. ट्रांसलेशन आव ऋग्वेद लुडविग, प्र० सं० ।
१२०. ए वैदिक रीडर, मैक्डानेल आक्सफोर्ड, १९५४ ।
१२१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वा० १, ई० जे० रैप्सन, १९६२, दिल्ली ।
१२२. इण्डिया इन द वैदिक एज, पी० एल० भार्गव, लखनऊ, १९५६ तथा १९७१ (द्वितीय संस्करण) ।
१२३. कनिंघम्स ऐन्शियंट ज्योग्राफी आव इंडिया, एस० एन० मजूमदार, १९२४ ।
१२४. द ज्योग्राफी ऑफ द पुराणाज, एस० एम० अली, न्यू देहली, १९६६ ।
१२५. द ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, एम० एल० भार्गव, लखनऊ, १९६४ ।
१२६. ज्योग्राफिकल कन्सेप्ट एन ऐन्शियंट इंडिया, डॉ० बेचन दुबे, १९६७ ।
१२७. स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया, डी० सी० सरकार ।
१२८. ऐन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, डी० पी० सक्सेना (आगरा वि० वि०) ।
१२९. रीजनल ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, डी० पी० सक्सेना, कानपुर ।
१३०. भण्डारकर कमेमोरेशन, वा० पूना, १९१७ ।
१३१. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, वा० प्रथम, १९०७ तथा वा० २३ ।
१३२. फॉरगौटेन ऐन्शियंट नेशन ऐण्ड देयर ज्योग्राफी, जे० पी० सिङ्गल, १९६८ दिल्ली ।
१३३. ऋग्वैदिक ज्योलाजी ऐण्ड द लैण्ड आव सप्तसिन्धु, वही ।
१३४. द वण्डर दैट वाज इंडिया, ए० एल० बाशम, लन्दन, प्र० सं० ।
१३५. रिलीजन्स ऑफ इंडिया, हापकिन्स, प्र० सं० ।
१३६. इण्डिशे स्टूडियन, वेबर, प्र० सं० ।

१३७. वेदिशे स्टूडियन, पिशेल ।
१३८. आइटिण्डिशे लेबेन, त्सिमर ।
१३९. ऋग्वेद, नोटेन, ओल्डेन बर्ग, प्र० सं० ।
१४०. वैदिशे माइथोलाजी, हिले ब्राण्ट ।
१४१. स्लाव्यान्ये व द्रेवनोस्ति (न० स० देवजावेन् मास्क्वां, १८७५) ।
१४२. ट्रान्सलेशन ऑफ ऋग्वेद, ग्रासमैन, लिपजिग १८७७ तथा ग्रिफिथ १८८६ ।
१४३. प्रि-हिस्टोरिक ऐण्टिपिटीज, श्रेडर ।
१४४. सेक्रेट बुक ऑफ द ईस्ट, एफ० मैक्समूलर, वा० ३२ । आक्सफोर्ड १८९१ ।
१४५. ट्रान्सलेशन ऑफ ऋग्वेद, लुडविग ।
१४६. एरियन-इण्डिका, मेगस्थनीज ।
१४७. इण्डिया, फर्स्ट, अलबेरूनी ।
१४८. हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड, वा० द्वितीय ।
१४९. ईरान ऐण्ड तूरान, वन होफर, फर्स्ट एडी० ।
१५०. आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, वा० १४ ।
१५१. पंजाब गजेटियर (अम्बाला डि०), फर्स्ट एडीशन ।
१५२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, (भाग १ से ४), डॉ० पी० वी० काणे ।
१५३ ए स्टडी आन वास्तु विद्या, तारापाद भट्टाचार्य । फ० ए० ।
१५४. इंडियन आर्किटेक्चर, परसीब्राउन, प्र० सं० ।
१५५. क्लासीफिकेशन ऑफ लैण्ड फार्म्स, ह्वावर्ड ऐण्ड स्पॉक, फ० ए० ।
१५६. इनवायरेनमेन्ट ऐण्ड ह्यूमेन प्रोग्रेस, एस० डी० कौशिक, १९६६ ।
१५७. ग्राप्स हिस्ट्री आफ ग्रीस, वा० फर्स्ट ।
१५८. हेरिसन्स स्टेज आफ ग्रेसियन लाइफ, वा० फर्स्ट ।
१५९. आउटलाइन आफ इंडियन फिलासफी, एस० राधाकृष्णन्, वा० फ० ।
१६०. द मॉडर्न स्टेट आर० एम० मैकाइवर, फ० ए० ।
१६१. हिन्दू पौलिटी, वा० सेकिण्ड, के० पी० जायसवाल ।
१६२. पौलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स ऐण्ड थ्योरीज आफ द हिन्दूज, बी० के० सरकार ।
१६३. द स्टेट इन ऐन्शियंट इंडिया, बेनी प्रसाद, फर्स्ट एडी० ।
१६४. वैदिक माइथोलोजी, मैक्डानेल, अनु० रामकुमार राय, वाराणसी, प्र० सं० ।
१६५. जुर लिटरेचर ऐण्ड गेसचिचिटे, वेदवेद, राथ, फ० ए० ।
१६६. हिबर्ट लेक्चर, सायीस, १८८७ ।
१६७. ऐन्शियंट हिस्ट्री आफ नियर एज, हाल ।

१६८. वार इन ऐन्शियंट इंडिया दीक्षितार, प्र० सं० ।
१६९. वीपन्स आर्मी, ऑर्गनाइजेशन ऐण्ड पौलिटिकल मैकेनिज्म आव द ऐन्शियंट हिन्दूज, ओपार्ट, १८८० ।
१७०. आर्ट आफ वार इन ऐन्शियंट इंडिया, जी० टी० दांते, लन्दन १९२९ ।
१७१. मगधन लिटरेचर, हरप्रसाद शास्त्री, फर्स्ट एडी० ।
१७२. एशियाटिक रिसर्चेज, वा० फर्स्ट, सर विलियम जोन्स ।
१७३. नेशन्स आफ ऐन्टिक्विटी, कुक टेलर ।
१७४. इंडिया इन ग्रीस, पोकाक, १८५६ ।
१७५. साइन्स आफ लैंग्वेज, एफ० मैक्समूलर ।
१७६. हिन्दू डिस्कवरी आफ अमेरिका, ऐलेक्स डेलमार ।
१७७. लेक्चर्स ऑन ऋग्वेद, घाटे, सं० डा० वी० एस० सुक्थंकर, वारा०, प्र० सं० ।
१७८. राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त, प्र० भा० प्रो० सब्बरवाल ऐण्ड गुप्त, १९७२ ।
१७९. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐन्शियंट इंडिया, हेमचन्द्र राय चौधरी ।
१८०. हिन्दू माइथालाजी, पोल मैन, फर्स्ट एडी० ।
१८१. द कन्ट्रोवर्सी ओवर द ओरिजिनल होम्स आफ आर्यन्स, डा० बेलवल्कर ।
१८२. क्लाइमेटोलोजी ए० अस्टीन मिलर, १९५७ ।
१८३. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु क्लाइमेट, जी० टी० ट्रिवार्था, १९५४ ।
१८४. क्लाइमेटोलाजी, कैन्ड्रियू, फर्स्ट एडि० ।
१८५. सिविलाइजेशन आफ क्लाइमेट, ई० हंटिंगटन, यले यूनि०, न्यू-होवेन १९१५ ।
१८६. अर्थ ऐण्ड मैन, डी० एच० डेविस, १९५७ ।
१८७. मैन ऐण्ड अर्थ, होयेट, १९६२ ।
१८८. ह्यूमेन ज्योग्राफी, हंटिंगटन ऐण्ड शा, १९५६ ।
१८९. ह्यूमेन ज्योग्राफी, सी० एल० ह्वीट ऐण्ड जी० टी० रेनर, १९४८ ।
१९०. फिजिकल ज्योग्राफी, ए० एन० स्ट्रेहलर, १९५१ ।
१९१. फिजिकल ज्योग्राफी, आर्थर होम्स, १९५९ तथा सी मैन, प्र० सं० ।
१९२. एशिया का भूगोल, के० पी० कुलश्रेष्ठ, १९५५ ।
१९३. मानव भूगोल, एस० डी० कौशिक, मेरठ, तृ० सं० ।
१९४. आर्थिक भूगोल एन० पी० पंवार, खुर्जा, १९७२ ।
१९५. भूगोल के भौतिक आधार, आर० एन० दुबे, इलाहाबाद, १९५४ ।
१९६. मानव भूगोल के सिद्धान्त, विश्वनाथ ऐण्ड कनौजिया, इलाहाबाद, १९५६ ।
१९७. प्रिन्सिपल्स आव ह्यूमेन ज्योग्राफी, ब्लाश, १९११ ।

१९८. ह्यूमैन ज्योग्राफी, जे० ब्रूश, १९५७ तथा १९५२।
१९९. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु इकोनोमिक ज्योग्राफी, ऐण्ड जी० पौन्स १९५१।
२००. वर्ल्ड इकोनामिक ज्योग्राफी, जी० टी० रेनर ऐण्ड अदर्श, १९५७।
२०१. इकोनामिक ज्योग्राफी, जे० मैकरलेन, १९३७ तथा सो० एफ० ओन्स, १९५९।
२०२. हैण्ड बुक आव कार्मशियल ज्योग्राफी, जी० चिश्वलोम।
२०३. इंडस्ट्रियल ऐण्ड क्रामर्शियल ज्योग्राफी, जे० आर० स्मिथ, एम० ओ०फिलिप्स ५९
२०४. ए बैक ग्राउण्ड आफ फिजिकल ज्योग्राफी कैलवे, फर्स्ट एडिशन।
२०५. ए ग्राउण्ड वर्क आफ मौडर्न ज्योग्राफी, ए० विल्मूर, फर्स्ट एडि०।
२०६. प्रिन्सिपल्स आव फिजिकल ज्योग्राफी, एफ० जे० मौक हाउस से० ए०।
२०७. डाइनामिकल ओसनोग्राफी, जे० प्राउडमैन, फर्स्ट एडि०।
२०८. ओस्नोग्राफी फार ज्योग्राफर्स, आर० सी० शर्मा ऐण्ड एम० वातल।
२०९. फिजिकल ज्योग्राफी, पी० लेक, से० एडि०।
२१०. इलीमेन्ट आफ ज्योग्राफी फिन्च ऐड ट्रिवार्था, न्यूयार्क, १९५७।
२११. इन्फ्लूएन्सेज आफ ज्योग्राफिक इन्वाइरेनमेन्ट, ई०सी० सेम्पल, १९११।
२१२. ज्योमार्फोलाजी, ए० के० लोबेक, १९३९ तथा पी० जी० वार्टेस्टर, १९५८।
२१३. रिवर्स आफ इंडिया, डी०सी०ला, कलकत्ता, फर्स्ट एडि०।
२१४. एन्थ्रोपो ज्योग्राफी, फ्रेड्रिक रेटवल स्टुमार्ट, १८८२।
२१५. एन्शियंट इंडिया, मैक्रिण्डल, कलकत्ता, १९२६।
२१६. पापुलेशन ऐण्ड वर्ल्ड प्रोडक्शन, डब्लू०एस० ऐण्ड एस०वायटिन्सकेसी, १९५३।
२१७. पापुलेशन स्टडीज, वी० एन० १९५३।

पत्र-पत्रिकाएँ

२१८. विश्वभारती पत्रिका, खंड १२, अंक २, १९७१, शान्तिनिकेतन।
२१९. सरस्वती सुषमा, वर्ष १२, अंक १, वाराणसी, २०१४ वि०।
२२०. सम्मेलन पत्रिका, सं० २०१२ वि०, इलाहाबाद।
२२१. भूगोल (भुवनकोशांक), इलाहाबाद, १९३०।
२२२. सागरिका, १० वर्ष, एक अंक, सागर विश्वविद्यालय।
२२३. धर्मयुग, ३ जून, १९७३, बम्बई।
२२४. क्वार्टर्ली जर्नल आव द ज्योलाजिकल माइनिंग ऐण्ड मैटर्जिकल सोसाइटी, आव इंडिया, दिसम्बर, १९३२।
२२५. क्वार्टर्ली जर्नल आफ द ज्योलाजिकल सोसाइटी, वा० २९, १८७५। वाल्यूम ३१, १८९३।

२२६. ट्रान्जक्शन्स आफ द कनेक्टेड एकेडमी आफ आर्ट एण्ड साइन्स १५/५३।
२२७. फर्स्ट ओरियंटल कान्फ्रेन्स, पूना, १९१९।
२२८ प्रोसीडिंग्स आव नेशनल एकेडमी आफ साइन्सेज इंडिया, वा० ३१, पार्ट से०।
२२९. जर्नल आव द डिपार्टमेन्ट आफ साइन्स, कलकत्ता यूनि०, वा० ६।
२३०. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, १८८३।
२३१. जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, वाल्यूम १६, १८५४, पार्ट सेकण्ड, वा० १५।
२३२. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, ३।
२३३. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, बिहार, वा० ६।
२३४. अमेरिकन जर्नल आफ फिलोलाजी, १९११।
२३५. जर्नल आफ बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी, वा० २६, १९२२।
२३६. सर्वे आफ इंडिया, पेपर नं० १२, १९१२, कलकत्ता।
२३७. माडर्न रिव्यू, वाल्यूम ११३, नं० ३, मार्च १९६३।
२३८. करेन्ट साइन्स, अगस्त १९३६।
२३९. इंडियन साइन्स कांग्रेस, १९६१।

विश्वकोश तथा शब्दकोश

२४०. हिन्दी विश्वकोश, कलकत्ता, प्र० सं०।
२४१. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५७।
२४२. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वा० २, ५,१२ तथा २३, नवम् संस्करण।
२४३. चैम्बर्स वर्ल्ड गजेटियर ऐण्ड ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, लंदन, १९५९।
२४४. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, एन० एल० डे।
२४५. सेण्ट पीटर्स वर्ग, डिक्शनरी, प्र० स०।
२४६. ए डिक्शनरी आव ज्योग्राफी, डब्लू०जी० मूर।
२४७. द ज्योग्राफिकल इन्साइक्लापीडिया आफ एन्शियंट ऐण्ड मेडिवल इंडिया। वाल्यूम फर्स्ट, के० डी० वाजपेयी, वाराणसी, १९६७।
२४८. वाचस्पत्यम् सं० तारानाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्भा वाराणसी, १९७०।

मानचित्रावली तथा मानचित्र

२४९. इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया (एटलस), वा० २६, १९३१।
२५०. राष्ट्रीय एटलस (राजकीय प्रकाशन)
२५१. स्कूल एटलस, देहरादून, सर्वे विभाग, १९६१।
२५२. भारत भारती मानचित्रावली, मेरठ, १९७१।
२५३. वैदिक इण्डेक्स, मानचित्र, पृ० १।
२५४. शूसा राजमहल का शिलालेख।
२५५. बोघाजकोई का लेख, ह्यूगो विंकलर, १९०७।